प्रकाशक—
महावीर जैन सोसायटी
आगरा

भगवान महावीर
LORD MAHAVIR

Printed at—
THE CALCUTTA PHOTOTYPE CO., LTD
CALCUTTA.

SHRĪ MAHĀVĪRA COMMEMORATION VOLUME.

VOLUME I.

1948-49

श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ।

(भाग १)

(१९४८-४९)

प्रकाशक

महावीर जैन सोसायटी, आगरा

विषय-सूची।

(CONTENTS)

चित्र सूची

(ILLUSTRATIONS)

Message from Professor Albert Einstien to the World Pacifist Meeting.

The initiative of India which finds such a vivid expression in this Congress is a new and welcome proof that Gandhi's great original idea has deeply affected the thinking of his people. Brutal force cannot be met successfully for any length of time with similar brutal force, but only with non-cooperation towards those who have undertaken to use brutal force. Gandhi recognized that this is the only solution of the vicious circle in which the nations of the world have become caught. Let us do whatever is within our power, so that all the peoples of the world may accept Gandhi's gospel as their basic policy before it is too late.

ALBERT EINSTEIN.

Princeton, New Jersey,
November 2nd, 1948

नमस्कार सन्मति–वाणीको !

(रचयिता—श्री सौ० सरोजिनीदेवी जैन)

(१)

कवि नहीं कल्पना कर सकता,
केवलकी रुकी लेखनी है!
वक्तागण भी असमंजस—
में, शैलीभी नहीं बनी है!!

(२)

तब सहसा मुखसे निकला यह,
'जो शब्द कहे सब व्यर्थ रहे!
और बुद्धिमान ज्ञाता नरभी—
समझानेमें असमर्थ रहे!'

(३)

वह निरक्षरी वाणी प्रभुकी!
शब्दोंमें कैसे करूं व्यक्त?
उसके रहस्यका अनुभवसे-
कर सकते हैं ज्ञान, भक्त!!

(४)

गौतम गणधरजी कहते कहते,
कह गये कि वक्तव्या दुर्लभ!
तात्पर्य 'सुख-साधन उत्सर्ग
जैसा, वैसा करता है सुलभ!!'

(५)

उस विस्तृत वाणीका आंशिक,
दर्शन होता है इस युगमें;
दर्शनसे कुछ शुभ स्वभाव
जागृत होते जीवन-मगमें!

(६)

वह वर्द्धमानकी वाणी है,
वृष-पथ-दर्शक प्रति प्राणीको,
श्रद्धा सहित झुका कर मस्तक,
नमस्कार सन्मति-वाणीको!

सन्देश और श्रद्धाञ्जलियां।

(TRIBUTES & MESSAGES)

" श्रीमन्महावीरी विजयका गान करना चाहिये।
तल्लीन होकर आज उनका ध्यान करना चाहिये॥
जिनदेवके उपकारका सम्मान करना चाहिये।
उनके पदों पर प्राण अपना दान करना चाहिये॥

—पं० रामचरित् उपाध्याय।

(१)

अहिंसाके अवतार!

"भ० महावीर अहिंसाके अवतार थे। उनकी पवित्रताने संसारको जीत लिया था। ...महावीर स्वामीका नाम इस समय यदि किसीभी सिद्धान्तके लिये पूजा जाता हो, तो वह अहिंसा है।... प्रत्येक धर्मकी उच्चता इसी बातमें है कि उस धर्ममें अहिंसातत्वकी प्रधानता हो। अहिंसा-तत्वको यदि किसीने अधिकसे अधिक विकसित किया हो, तो वे महावीर स्वामी थे।"

—म० मोहनदास कर्मचंद गांधी।

(२)

Lord Mahāvīra's Message of Salvation.

"Mahāvīra proclaimed in India, the message of salvation that religion is reality and not a mere convention, that Salvation comes from taking refuge in that true religion and not from observing the external ceremonies of the community; that religion cannot regard any barriers between man and man as an eternal verity. Wondrous to say, this teaching rapidly overtopped the barriers of the race's abiding instinct and conquered the whole country."

—Dr Rabindranātha Tagore

(३)

प्रेमके महावीर!

"वे महावीर अर्थात् महान् विजयी–इतिहासके सच्चे महापुरुष हैं। वे उद्धतता और हिंसाके नहीं, किन्तु निराभिमानता और प्रेमके महावीर थे।"

—साधु टी. एल. वास्वानी।

—जन-जीवनके भगवान—

सत्य-अहिंसाके पथदर्शक, जय जन-जीवनके भगवान।
आज वंदनाके स्वर लेकर, करें तुम्हारा हम आह्वान॥

राष्ट्र-राष्ट्र हिंसक बनकर अब सर्वनाशके हेतु बने ;
एक तुम्हारेही इंगितपर, विश्व-शांतिका सेतु बने॥

धधक रहा है घरका आगन लपटे झपट रहीं विकराल।
यौवन जरा भेद नहीं जाने, मृत्यु दे रही निर्भय ताल॥

नारीका सौन्दर्य शाप बन, आज दे रहा पाप महान्।
कौन-किसीकी लज्जा रखले, कौन अभयताका दे दान!

तुम्हीं एक थे सच्चे स्वामी, सच्चे सेवक जन जनके।
आज अंधेरी काल रात्रिमें, तुम्हीं दीप हो मन मनके॥

गांधी सा अनुगामी तेरा, ईसा जैसा शिष्य पुनीत;
प्राण गंवाकर भी जिनने, अंतिम सासो तक गाये गीत॥

तूने भेदभावकी उठती, दीवारोंको गिरा दिया।
ऊँच-नीचका भेद हटाकर, दानवताको हिला दिया॥

"करुणा-शान्ति विश्वकी रक्षक," कहकर मंत्र बताया एक।
जन जनको स्वातन्त्र्य दिलाकर, रखली मानवताकी टेक॥

सुलगातीं हैं आज शक्तियां, महानाशकी ज्वालाएं।
किंतु तुम्हारी शक्ति महाप्रभु, मिटा रही भव बाधाएं॥

आज तुम्हारी स्मृति लेकर हम, सोच रहे हैं विधि तत्काल।
कैसे हिंसाकी हिंसा कर, मेटें भव भवके जंजाल॥

तुम न हुए होते तो स्वामी, मानव दानव बन जाता।
तुम न हुए होते तो स्वामी, विश्व नर्कही बन जाता॥

आज तुम्हारेही कारण तो जीवन जीवन कहलाता।
आज तुम्हाराही प्रकाश, तम भरे मार्ग है दिखलाता॥

मानवता लौटेगी फिरसे, महावीर स्वामी आओ।
वसुधाको कुटुम्ब कर डालो, अपनी करुणा बरसाओ॥

—कविवर "मुकुल"

सन्देश

(श्रीमान् गवर्नर महोदय विहार प्रान्त)

श्रीमान् माननीय एम. एस. अणे महोदय, (विहार प्रान्तके गवर्नर) ने निम्न-लिखित सन्देश अंग्रेजीमें लिखकर भेजनेका अनुग्रह किया है। श्री गवर्नर महोदयकी इस कृपाके लिये हम उनके आभारी हैं। आपने अपने संदेशमें बताया है कि महापुरुषोंकी आध्यात्मिक प्रेरणासेही मानव अपनी उन्नति करता आया है। ऐसे महापुरुष किसी एक समय अथवा एक देशमेंही नहीं जन्मते वल्कि वे प्रत्येक समय और प्रत्येक देशमें जन्म लेते है। उन सबका कार्य एक यही होता है कि वे मानवको उसका कर्तव्य सुझाएं, जिससे वह सुखी हो सके। इन महापुरुषोंको लोग अवतार अथवा आचार्य कह कर पुकारते हैं। भगवान महावीर मानव समाजके ऐसे महान शिक्षकोंमेंसे एक थे। उन्होंने अहिंसा और दयाका उपदेश दिया था, जिससे लोग भोजन एवं देवार्चामें पशुपक्षियोंकी हिंसा करना भूले थे। किन्तु उन्होंने अहिंसा सिद्धान्तको उससेभी बहुतही आगे बढाया और ऐसे चारित्र-नियम निर्माण किये कि कोईभी मानव एक कीड़े तककी हिंसा मनवचनकायसे न करे। भ. महावीरकी शिक्षामें अहिंसा और संयमके सिद्धांतोंका विकास चरम सीमाको प्राप्त हुआ था। आज बहुतसे जैनी बड़े २ व्यापारी हैं और उद्योगधन्धा करते हैं। उनमें कोई कोई चींटियोंको शक्कर चटाते हुएभी मिलते हैं। किन्तु उन्हींमेंसे कभी कभी कोई जैनी अपने दैनिक व्यवहारमें अन्याय करते और अनुचित लाभ उठानेकी त्रुटि करते हैं। वे धर्मकी शाब्दिक पालना करते हैं-उसके भावको ग्रहण नहीं करते, किन्तु भावहीन द्रव्यपालना तो पाखंडको जन्म देती है, जो हिंसाकाही दूसरा रूप है। महावीर जैसे महापुरुषोंने मानवके दैनिक जीवनको धर्मसे अनुप्राणित करनेके लिएही इन सिद्धान्तोंका प्रचार किया था। दैनिक व्यवहार और धर्म-सिद्धान्त साथ २ चलना चाहिए वरन् मानव जाति एक भयंकर चक्रमें फस जायगी। यह समय है जबकि मानवोंको महावीर जैसे आचार्योंकी शिक्षाओं और कार्योंकी याद दिलाई जाय। आज यू. एन. ओ. जैसी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओंका जन्म बड़े २ सिद्धान्तोंके नामपर हुआ है; किन्तु व्यवहारमें उनके सदस्य अपने स्वार्थके कारण उन सिद्धान्तोंपर दृढ नहीं रहते। भगवान महावीरके अनुयायी मानव समाजकी बड़ी सेवा करेंगे यदि वे ऐसी संस्थाको जन्म देनेमें सफल हों जो अहिंसा, सत्य और संयम जैसे सुन्दर चारित्रनीयमोंका पालन दृढतासे मानव जीवनमें करा सके। क्या जैनी गवर्नर महोदयके इस सामयिक चेतावनीसे सुबोध लेंगे ? —सं०

MESSAGE FROM H. E. THE GOVERNOR OF BIHAR

Governor's Camp, Bihar.

July 23, 1948.

Man's progress has always been due to the effort of some highly spiritual personalities who have graced the earth with their presence now and then. Such outstanding personalities are not necessarily born in one country or at one time. If we read the history of man's progress in the world we find that they have been born at different times and in different countries. Yet the work of them all is ultimately to make the world happier by making the man conscious of his duties towards those among whom he lives. These great personalities are generally known as awatārs, incarnations or prophets, founders of religion or teachers of mankind, āchārya or muni. Mahāvīra was one of such great teachers of humanity The religion of mercy and non-violence was preached by Him firstly to dissuade people from indulging in indiscriminate slaughter of animals and birds for the sake of their food or for propitiating their gods. But He did not stop there, He carried the doctrine to its logical end and insisted upon men and his followers to observe a code of conduct in which scrupulous attention has been paid to avoid physical or mental violence to anybody, even the meanest creature crawling on the earth which may come in contact with him. The doctrine of non-violence, mercy and forbearance reached in Mahāvīra's teachings its highest expression. Many people, who profess to be the followers of Jainism, of which Mahāvīra was the most pious and brilliant exponent, are engaged in big industries and money-making business. Some of them are seen at the end of the day's work moving about in open spaces round the town in search of ant-hills and spreading on the ground a pinch of sugar to feed the little creatures. But if we scan the nature of the daily transactions in which they are engaged, we may find some of them, if not all, guilty of unfairness and injustice to those who have to deal with them. This indicates that they try to conform to the teachings of Mahāvīra by observing only the letter of the law and not the spirit of it. Adherence to the form at the cost of the spirit brings about a downfall as it encourages hypocrisy and sycophancy, which is nothing but violence in another form. Great men like Mahāvīra urge these principles in order to create harmony between the principles which they accept in the name of religion and the worldly transactions which they carry on for the sake of making worldly gains In a way there is a gap between morality and practice. Great teachers of humanity like Mahāvīra have come down to bridge up this gap. Principle and practice must go together, otherwise mankind will be precipitating towards a great crisis. There is need for reminding men of the work and teachings of prophets like Mahāvīra at the present time. Institutions like the United Nations Organisation and other international associations are created in the name of very high principles, but

(*Continued on next page*)

Lord Mahāvīra's Ahimsā : A Golden Mean!

(MESSAGE)

There is a general awakening among the people of all countries in the world regarding the principle of Ahimsā and much of the credit of this awakening must naturally go to Mahatma Gandhi. But, I fear, there is more sound than substance in the homage which people are today paying to the principle which Lord Mahāvīra taught. It is not easy to say why we talk so much about Ahimsā while we allow that principle to affect our life and conduct to such a negligible extent. One reason may be that Ahimsā as taught by Lord Mahāvīra and his disciples has not been studied and taught with the care with which the Āchāryas have propounded the principle many generations ago I hope the volume you are editing will explain the principle in all its aspects with a view particularly to explain its applications to life in the present-day world On the one hand we have what we may call the extreme view of those who say that complete Ahimsā can be and should be observed in conduct even by those who cannot free themselves completely from the duties of worldly life : at the other end come the majority of the people who believe in the rule of might and in the principle that the stronger should swallow the weaker. The first extreme is impracticable, while the second is thoroughly immoral. I think that the Ahimsā as preached by Lord Mahāvīra avoids both the extremes and strikes the golden mean which is a path of progress of the Soul to its final liberation

I wish your volume all the success which you and Sjt. Kamta Prasad so richly deserve.

Yours Sincerely,

Sd A. B Latthe, M.A , LL B.,

Constitutional Adviser to H H. Chhatrapati Maharaj, Kolhapur

(Continued from 5 page)

the members do not show the same regard for the principles when they are called upon actually to apply them in the worldly affairs in which their own interests are involved Those who are followers of Mahāvīra will be doing a great service if their endeavour will succeed in creating an organisation that will stand rigidly for observance of the rules of morality, non-violence, truth and forbearance in all spheres of human activity.

M. S. Aney,

Governor of Bihar.

Lord Mahāvīra's Message of Universal Love!

BY DR. WILLIAM HENRY TALBOT, FAREHAM (ENGLAND)

The name of Mahāvīra and 'Ahimsā' culture, is replete with Peace-unutterable, the Bliss embodied in such seed name vibrations. Holy, Holy, Holy Art Thou Mahāvira and Thy Co-Conquerors. The example of Thy Victory is the measure for which mankind and indeed all life imprisoned in matter can aspire.

I cry to Thy shell or imprint indelibly left on unconscious Mind of this world, to which mind all mankind are co-heir, that Thou voluntarily vacate Thy throne of omniscience and return to the tortured world, that Thou overcome in the East and again show us this time in the West – the Nadir of human habitation – how to meet the full fury of frustrated desire.

In the East the climate is in harmony with food of one sense life but not in the West.

In the East thought is not tantamount to its material fulfilment as in the West.

In the West we cannot differentiate between the shadow and the substance and we hurt each other in the name of love.

In the West our religion is mockery and there is no health in us.

Otherwise-cause to be sent to us in the West such an Exhibition, Demonstration, Exhortation, or even Dictation of 'Ahimsā' culture as will, by its intensity, proclivity and sheer concentrated power become a Solvent of our case-hardened materiality

Embraced in simplicity, the "hallmark of Ahimsā culture" against what could one rebel! The harshness of outline becomes merged into Unity. Boundary or limitation imposed by desire, no longer in evidence. The life and teachings of our Lord Mahāvira will surely demonstrate the path to this end and we welcome the English Version – the end product – of Eastern initiated thought, and demonstrated practice.

There was a period when the West sent chicken out to forage for themselves, they now have returned to roost, we do not recognise them now as chicken but as Monsters and their sharpened claws or spurs have now no one to sharpen themselves on but their progenitors, we twist and turn and writhe in our self-determined agony and cry in no uncertain manner for surcease from our travail.

Our mucous membranes are constipated obstruction to vital energy is present in our physical bodies, friction therein impedes our progress and we have yet to learn that the body is healthy only when "*One Govt*" is in control of the whole world – or body, with "*One Language*" too completed, when "*One Wage*" is paid to all the cells, whether they be executive cells or scavengers

What should one expect or demand, that all others cannot possess, or have little or no opportunity of doing so? Does the father say to his child — "I am stronger than you, so I will take the lion's share"? Should the

executive say to the Workman: 'I am more advanced than you, therefore, I am entitled to greater possession' or should he say, 'the greater possessions are yours, you too become an executive when they automatically will pass again to the weaker'?

Did we not agree to work for a penny a day?

Mahâvîra's life and teachings were carried forward by others. Did that make these others worthy to be regarded as divine and their repeated teaching new scripture? Many think so in the West and even in the East, but is such detraction worthy of substraction from original simplicity and can allegory much longer obscure reality?

In order to remove obstruction from the physical body a mucous-less diet is necessary for right thought to operate harmoniously, right knowledge and right action then follows as a matter of course.

May this new Volume take us back to the simple way from which we have wandered and show us yet again the path to freedom and emancipation from error.

राधास्वामी महर्षि श्री. शिवव्रतलालजी वर्मन; एम. ए., एलएल. डी.:—

"गए दोनों जहान नजरसे गुजर तेरे हुस्नका कोई बशरही न मिला। ये भ० महावीर जैनोंके गुरू थे। पाकदिल, पाकखयाल, मुजस्सिम पाकी व पाकीजगी थे। हम इनके नामपर इनके कामपर और इनकी बेनजीर नफ्स कुशी व रियाजतकी मिसाल पर, जिस कदर नाजकरें बजा है। ये दुनियाके जबरदस्त रिफार्मर-जबरदस्त उपकारी और बडे उंचे दर्जेके उपदेशक और प्रचारक हो गुजरे है। यह हमारी कौमी तवरीखके कीमती रत्न है।

प्रसिद्ध नेता श्री. विजयराघवाचार्य—

"प्राचीन भारतके निर्माता पुरुषोंमें श्री. महावीर स्वामी एक थे।"

प्रोफेसर डॉ. वाल्टर शूब्रिंग—

"संसार सागरमें डूबते हुये मानवोंने अपने उद्धारके लिये पुकारा। इसका उत्तर श्री. महावीरने जीवके उद्धारका मार्ग बतला कर दिया। दुनियामें ऐक्य और शान्ति चाहनेवालोंका ध्यान श्री. महावीरकी उदात्त शिक्षाकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता।"

श्रीमती जोजेफ मेरी, वॉन (जरमनी):—

"Through His *Jñâna* and the creed of Ahimsâ, Mahâvîra destroyed the world of the materialistic creed and ethics in a way that we may call Him a Superman of the first kind. We claim for Him the verses of the German Thinker Herder:—

"He's hero the conqueror of Battlefields,
He's hero the conqueror in Lion hunting!
But He's *Hero of Heroes*, the Conqueror of Himself!"

इटलीके विद्वान् डॉ० अल्बर्टो पाग्गी, जिनोवा—

"महावीरजीकी शिक्षायें ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो विजयी आत्माका विजयज्ञान हो, जिसने अन्ततः इसी लोकमें स्वाधीनता और जीवन पा लिया हो। हजारों आदमी उनकी ओर टकटकी लगाये हैं। उनको वैसी पवित्रता और शांतिकी चाह है।"

भगवान्‌की जीवन-ज्योति एवं अध्ययन !
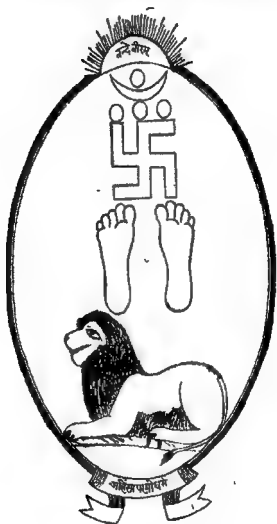
LIFE STUDIES OF LORD MAHĀVĪRA.

जय-वीर !

१.

'सो जयइ जस्स केवलणाणुज्जलदप्पणम्मि लोयालोयं।
पुढ पदिविंबं दीसइ वियसिय सयवत्तगब्भगउरो वीरो ॥'

—कसायपाहुड (जयधवल)

अर्थ — 'जिसके केवलज्ञानरूपी उज्ज्वल दर्पणमें लोक और अलोक विम्बदरूपसे प्रतिबिम्बकी तरह दिखाई देते हैं अर्थात् झलकते हैं, और जो विकसित कमलके गर्भ अर्थात् भीतरी भागके समान समुज्ज्वल अर्थात् तपाए हुये सोने के समान पीतवर्ण है, वे वीर भगवान् जयवन्त हों।'

२.

"जयइ जगजीव जोणी, वियाणओ जगगुरु जगाणन्दो,
जगनाहो जगबन्धु, जयइ जगपिया महा भयवं ॥ १ ॥

जयइ सुयाणयभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ,
जयइ गुरुलोयाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥ २ ॥

—नन्दीसूत्र

अर्थ — "जगतके सम्पूर्ण चराचर जीवोंके जाननेवाले भगवान् महावीर जोकि जगतके गुरु, नाथ, हितैषी और आनन्दरूप हैं उन जगत पितामह म. महावीरकी जय हो, जय हो।

"द्वादशाङ्ग सूत्रोंके जन्मदाता, तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर, समग्र लोकके गुरु ऐसे महान् आत्मावाले म. महावीर की जय हो। जय हो!!"

चिर अतीतके धर्म-वीर उतरो नूतन बन !

(श्री. शिवसिंह चौहान, 'सरोज' साहित्य-रत्न)

हे पूर्ण पुरातन, अनघ, अभय,
हे दिव्य, अनामय चिर अशेष !
[illegible] अभिनव, अभिनव गति महान
अभिनव अभिवन्दन, नय-निवेश ! !

युग-परिवर्त्तक, युग गति-वाहक,
युग युग अजेय दुर्द्धर्ष 'वीर' !
भारत-भूतल कर गये स्वर्ग
नारकी विश्वका वक्ष चीर ॥

हिंसक समष्टिकी दृष्टि हुई–
भय-त्रात, मिला आलोक सघन ।
अभिनवोत्थान-पथ पर पहुँचा
इस जीर्ण जातिका जर्जर मन ॥

हिंसाकी वेदी पर पोषित
युग-राष्ट्रधर्म अनुदार प्रबल ।
अभिसिंचित हुआ अहिंसाके–
शुचि [illegible] रससे पावन अविरल ॥

वैशालीके अवशेष वहन–
करते अबभी वे सदुपदेश ।
कहता अबभी आख्यान सरल
निज भाल उठा हिमगिरि नगेश ॥

बहता है पुण्य प्रसू भू पर
नैसर्गिक जीवनका प्रवाह ।
गुञ्जित अम्बरमें, श्रुतियोंमें–
नय-मिश्रित वे स्वर आवचगाह–

"रे, सत्य-अहिंसा सीख, सीख–
यम-नियम, जाति-विद्वेष त्याग !
कर दया-वाहमें पुण्य स्नान,
रे जीर्ण रूढिगत मनुज, जाग ॥

"कैसा जगती पर अनाचार,
कैसा दुख, कैसा पर-पीड़न !
उपकार ग्रस्त अभिशापित का,
रे, महामहिम मानवका धन ॥"

अस्वस्थ देख, हो मनः क्लान्त,
इस भ्रान्त राष्ट्रको स्वस्थ शाल–
था दिया तुम्हींने 'महावीर'
ध्रुव निठुर वीरता कर महान ॥

अपमानित हो नित दलित-वर्ग
सहता था क्या-क्या अनाचार !
तुम साम्यरूप ! बन गूँज उठे
समताकी ममताका प्रसार ॥

बोले तुम—"जगका महत्सृजन
रे विश्व नियंताकी माया ।
अभिनय युग-नाटकका महान
करती प्रतिदिन भङ्गुर काया ॥

"क्षिति पर अभिनयकी, भूप-भृत्य
होते हैं प्रतिपल सब समान ।
उस अधिकारीके रूप मनुज
हों विषम—अरे कैसा विधान ! "

तुम बढ़े, बढ़ चला विश्व, पुण्य-
शिक्षा-दीक्षाका ले प्रश्रय।
अमृतवाणीसे फूट पड़ा
मृतकोंके प्रति जीवन अक्षय॥

तुमने उस हिंसाके युगमें
थे दिये देशके नयन खोल।
हिंसा प्रतिहिंसाके चरमें
भर भ्रातृभावका स्वर अमोल॥

तुमने परार्थ बलिदान किया
हे 'वीर'! स्वका तुम हो महान।
तुमने विनाशके खण्डहर पर
नव सृजन किया दे अभयदान॥

तुमने बन्धनके जराजीर्ण,
बन्धनको ध्वस्त किया उदार।
दासत्व मिटाया कर निनाद
सम भ्रातृभावका महोदार॥

मानवताका जयघोष, अमर-
शंखध्वनि मधुर प्रगति अमन्द।
निर्दयताका दृढ भाल तोड़
निर्मम पशुबलि हो गई बन्द॥

नर्तित था जाति-अहंताके-
वक्षस् पर समता-सुधाराग।
अनुराग बढ़ा मिलता मूल
वह चला पुण्य पावन पराग॥

जुड़ चलीं भिन्न भंगुर कड़ियाँ
बननेको फिर शृंखला एक।
हो चले एकमय-महा एक-
वे छिन्न भिन्न अगठित अनेक॥

हम जगे, जगी जगती अशेष
कर उच्च भव्य भारत-ललाट।
जग धन्य हुआ, सीखा हमसे
प्रिय—'विश्व बंधु'—सिद्धान्तवाद्।

चिर अतीतके धर्म्म वीर, उतरो नूतन बन।
पुनर्दर्शसे मुखरित हो अभिशापित जन मन॥

भगवान् महावीर और उनकी विचार-धारा।

(ले. श्री. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, काशी)

चैत्रका महीना जैन-धर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरका स्मारक है। २५४६ वर्ष पहले वे इसी पुण्य मासमें अवतीर्ण हुये थे। उनकी जन्म-तिथि चैत्र शुक्ला त्रयोदशी भारतके इतिहासमें स्मरणीय है। इस तिथिने उस महापुरुषको जन्म दिया था, जिसने संसारको 'सत्त्वेषु मैत्री'-का शुभ सन्देश देकर क्षुद्रसे क्षुद्र जीवधारीके प्रति आत्मीयता प्रदर्शित की थी।

भारत आज दरिद्र है, किन्तु फिरभी श्रीसम्पन्न है। उसकी श्री वे विभूतियां हैं, जिन्होंने समय समय पर भारतमें जन्म लेकर भारतभूको पुण्यभू बना दिया। उन्हीं विभूतियों में से भगवान् महावीर थे। वे महावीर थे, किन्तु हिंसा, संहार, अत्याचार, परपीडन और क्रूरताके नहीं; अहिंसा, करुणा, संरक्षा, परदुःख-कातरता और शान्तिके महावीर थे। वे क्षत्रिय पुत्र थे। उनके पिता सिद्धार्थ एक क्षत्रिय राजा थे। उनकी माता त्रिशला वज्जियोंके प्रजातन्त्रके मुखिया चेटककी पुत्री थी। अतः वे न केवल क्षत्रिय पुत्र थे, किन्तु राजपुत्रभी थे। वे चाहते तो राजा हो सकते थे, प्रजाको सता कर अपने राजकोष भर सकते थे और उसके बल पर एक बड़ी भारी सेना रख कर बहुतसे हरेभरे देशोंको उजाड़ बना कर, अनेक माताओंको निपूती करके और असंख्य ललनाओंकी मांगका सिन्दूर पोंछ कर महाराजा बन सकते थे, और इस तरह राजशक्तिके द्वारा जनताके हृदयोंको आतङ्कित करके 'वीर'की उपाधिभी प्राप्त कर सकते थे; पर 'महावीर' नहीं कहला सकते थे। वीरप्रसू भारत भूमें वीरोंकी कमी नहीं है, उसका आकाश-मण्डल सदा उन नक्षत्रोंसे जगमगाता रहा है। किन्तु इन शारीरिक योद्धा वीरोंके मध्यमें उनसे ऊपर उठकर यदि कोई आत्मिक योद्धा महावीर भारतमें न जन्मा होता, तो न केवल भारतके अपितु विश्वके आकाश मण्डलमें सदा कृष्ण-पक्षही दृष्टि गोचर होता।

यह सच है कि महावीर दुनियासे भागने वाले थे। दुनियाने उन्हें अपने रंगमें रंगना चाहा, किन्तु फिरभी वे उससे बच निकले। उनके सामनेभी यौवनने अपने प्रलोभनोंके पांसे फेंके, किन्तु दाव[1] खाली गये। माता पिताकी ममताने अपना जाल बिछाया, माताके आंसुओंने उनका रास्ता रोकना चाहा, किन्तु हिंसासे त्रस्त संसारकी असंख्य माताओंकी आंखोंसे सदा बहनेवाली आंसुओंकी धारामें माताके आंसू योंही बह गये। उन्होंने समझाया — 'माता! मैं तो केवल तुमसेही विलग हो रहा हूँ, इस जीवनसेतो विलग नहीं हो रहा हूँ। किन्तु [illegible] दुनियामें तो न

---

१. तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव काय परितापहरं निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्य पराङ्मुखोऽभूत् ॥
बृह० स्वयंभू०

जाने कितनी माताओंके लाल उनकी गोदीसे जबर्दस्ती छीनेचाकर यज्ञ और युद्धोंकी बलिवेदीपर बलिदान कर दिये जाते हैं। न जाने कितने युवक और युवतियां वासनाओंके शिकार बनकर अपने जीवनको धूलमें मिला देते हैं। वे मांस[1] के लिये दूसरोंके शरीरका हनन करते हैं, पर मांस खाकर स्वयं अपनी आत्मा की हत्या करते हैं। मांससे सुरा, सुरासे सुन्दरी और सुन्दरीसे धनसंग्रहकी बलवती तृष्णासे सताये जाकर दूसरोंको सताते हैं। अतः जिन आध्यात्मिक शत्रुओंने मानवसंसारको और मानवसंसारके द्वारा पशुजगत् को पीड़ित कर रक्खा है, उनसे मैं संसारको मुक्त करना चाहता हूं। लेकिन यह तब तक संभव नहीं, जबतक मैं अपनेको शत्रुओंसे मुक्त न करा सकूं।'

लोककल्याणकी इस भावनासे प्रेरित होकर महावीरने दुनियावी सुखोंका परित्याग किया और बारह वर्षकी कठोर साधनाके द्वारा ऋजुकूला नदीके किनारे जृम्भक ग्राममें आध्यात्मिक शत्रुओंसे मुक्त होकर परम आत्मज्ञानको प्राप्त किया। अब वे तीर्थंकर हो गये और तीस वर्षतक उन्होंने समस्त भारतभूमिमें विहार करके उस सत्य ज्ञानका उपदेश दिया, जो उन्हें प्राप्त हुआ था। उनका प्रधान लक्ष्य अहिंसा था। 'अहिंसा का पालन किये बिना न व्यक्ति सुखशान्ति प्राप्त कर सकता है और न समाज' यही उनका मूल-मन्त्र था। किन्तु प्रश्न यह था कि अहिंसा का पालन किस प्रकार किया जाय? उसके लिये उन्होंने प्रत्येक गृहस्थको नीचे लिखे आठ मूल गुणोंके पालनेका आदेश दिया था —

१ — मांस मत खाओ।

२ — शराब मत पियो।

३ — मधु — असंख्य मधुमक्खियों और उनके अण्डोंको निचोड़कर प्राप्त किया गया मधु—मत खाओ।

४ — किसी प्राणीको मत सताओ।

५ — झूठ मत बोलो।

६ — चोरी मत करो।

७ — अपनी विवाहिता पत्नीके सिवाय दुनियाकी शेष स्त्रियोंको माता, बहिन और पुत्रीके तुल्य समझो।

८ — अपने कुटुम्ब पोषणके लिये आवश्यक धन-धान्यका संग्रह करो और उससे अधिककी इच्छा न करो।[2]

अहिंसाके आचरणको सुगम और सरल बनानेके लिये महावीरने हिंसाको चार भागोंमें

---

१. मांसास्वादनलुब्धस्य, देहिनो देहिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः, शाकिन्य इव दुर्धियः॥

१. धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छा परिमाण नामापि॥ ६१॥ रत्नकरण्ड०

बांटा–सङ्कल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। बिना अपराधके, जानबूझ कर जब किसी जीवके प्राण लिये जाते हैं या उसे दुःख दिया जाता है, तो वह सङ्कल्पी हिंसा है। जैसे कसायी पशुवध करता है। झाड़ने-बुहारनेमें, रोटी बनानेमें, खाने पीनेमें सावधानी रखते हुयेभी जो हिंसा हो जाती है, [illegible] आरम्भी हिंसा है। व्यापार आदिमें जो हिंसा हो जाती है, वह उद्योगी हिंसा है। जैसे अन्नादिके व्यापारमें हिंसा होती है। अपने या अपने किसी आत्मीयकी रक्षा करनेमें जो हिंसा हो जाती है, वह विरोधी हिंसा है। इनमेंसे गृहस्थ केवल सङ्कल्पी हिंसाका त्याग करता है। गृहस्थाश्रमकीभी ग्यारह श्रेणियां हैं। ज्यों ज्यों गृहस्थ कौटुम्बिक उत्तरदायित्वसे निवृत्त होता जाता है, त्यों त्यों उसके अहिंसा पालनकी जिम्मेदारियांभी बढ़ती जाती हैं। जिनके ऊपर दूसरोंकी रक्षाका भार है, सङ्कट आने [illegible] उनका घरमें छिप कर बैठ जाना अहिंसा नहीं है, कायरता है। सच्चा अहिंसक कायर कभी नहीं हो सकता। सच्ची अहिंसा वही पाल सकता है जो निर्भय है। जिसे दुनियाका कोईभी भय सताता है वह सुदृष्टि[1]–महावीरका सच्चा उपासक–नहीं है। क्योंकि जीवनसे मोह हुये बिना भय नहीं होता। और मोहही संसारमें सबसे बड़ा आन्तरिक [illegible] है, इस लिये कहा है—

> गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान्।
> अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥ रत्नकरण्ड० ३३

अर्थात् 'निर्मोही गृहस्थ मोक्षके मार्ग पर है, किन्तु मोही मुनि मोक्षके मार्ग पर नहीं है। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।' अतः यदि कोई आततायी किसी अनाथ स्त्री या बच्चेको मारना या दूषित करना चाहे, तो उपासक अपने श्रावक पुत्र को ज्ञात-पुत्र महावीर मन, वचन, और शरीरपर संयम रखकर आततायी के हाथ में अपनी इज्जत अपनी लज्जा और अपने पौरुष सब कुछका समर्पण करनेकी आज्ञा देते हैं, ऐसा कहना महावीरकी अहिंसाका बड़ा ही दूषित चित्रण करना है।[2] महावीरकी अहिंसा में स्वादके लिये, मनोविनोदके लिये, नीरोगता लाभ करनेके लिये और धर्मबुद्धिसे किसी प्राणी की हत्या करनेका सख्त निषेध है। रहजाती है आत्मरक्षा और आत्मीयोंकी रक्षा का प्रश्न उसके लिये दोही मार्ग हैं — पहला और सर्वोत्कृष्ट मार्ग है विरोधीका निःशस्त्र मुकाबला करना और अपने प्राणोंका हसते हंसते उत्सर्ग करके विरोधीको सच्चा पाठ पढ़ाना। किन्तु यह मार्ग उन सर्वस्वत्यागी ऋषियोंके लिये है, जिनके सामने आत्मरक्षाका कोई प्रश्नही नहीं है।

---

१. 'नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक्।' —पञ्चाध्यायी

२. देखिये राहुलजीका 'सिंह सेनापति'। खेद है कि आपने इस उपन्यासकी भूमिकामें सिंह-सेनापतिके समकालीन समाजको चित्रित करनेमें ऐतिहासिक कर्तव्य और औचित्यका पूरा ध्यान रखनेकी दुहाई देकरभी लेखक उसका ध्यान नहीं रख सके। कमसे कम महावीरके चरित्र और उनके उपासकोंके प्रतितो उन्होंने कतई न्याय नहीं किया। त्रिपिटकोंमें महावीरका जो चित्रण किया गया है, उसका तो एक लक्ष है अपने पाठकोंकी दृष्टिमें महावीरको गिराना और बुद्धको उठाना। क्या यही राहुलजीकाभी लक्ष है? ले.

महावीरने अपने जीवनमें इसी सर्वोत्कृष्ट मार्गको अपनाया था। दूसरा मार्ग है विरोधीका सशस्त्र प्रतिरोध करना और जहाँतक शक्य हो उसका खून बहायेबिना ही अपने कार्यमें सफल हो जाना। किन्तु जीवनके मोहसे निराश्रितोंका असहाय छोड़कर कभी न भागना। राजन्य-वर्गके लिये महावीरका आदेश था —

" यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् —
यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकानीनशुभाशयेषु ॥ "

अर्थात्, 'जो रणाङ्गणमें शस्त्र लेकर युद्ध करनेके लिये आया हो, अथवा स्वदेशके लिये बाधक हो, उसीपर राजन्य वर्ग शस्त्र उठाते हैं, दीन कायर और सदाशयी पुरुषोंपर नहीं।'

संक्षेपमें महावीरकी अहिंसाका सार एक वाक्यमें यह है 'तुम खुद जिओ और जीने दो जमानेमें सभी को'। जो व्यक्ति वर्ग, समाज या राष्ट्र इस भावनाको लक्ष्यमें रख कर दूसरे व्यक्तियों-वर्गों, समाजों और राष्ट्रोंके प्रति व्यवहार करता है — उनकी सुरक्षाका ध्यान रखते हुये अपना निर्वाह करता है, वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अहिंसाका अनुयायी है, किन्तु जिस व्यक्ति, वर्ग, समाज या राष्ट्रमें केवल अपनेही जीवनकी भावना है, जो दूसरे व्यक्तियों, वर्गों, समाजों और राष्ट्रोंको अपने स्वार्थका साधन बनाये हुये हैं उनको उतनेही अंशमें जीवित रखना चाहते हैं, जितने अंश में उनका जीवन उनके स्वार्थका साधक हो सकता है, वे व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्र, और समाज अहिंसाके अनुयायी नहीं हैं।

जहाँतक हम जानते हैं महावीरके समयमें आजके जैसा रोटीका प्रश्न नहीं था। किन्तु मनुष्य-जातिमें सदासे चली आई हुई, स्वार्थपरताकी नैसर्गिक प्रवृत्तिको सयमित बनाके रखनेका प्रश्न उस समयभी था। जैनधर्मके सभी तीर्थङ्करोंकी एक विशेषता यह रही है कि उन्होंने मनुष्यकी किसीभी स्वार्थपरक वृत्तिकी 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' कह कर उपेक्षा नहीं की। उन्होंने सदा अपने उपदेशों और आदेशोंके द्वारा उसको सीमित बनाये रखनेकाही प्रयत्न किया है। उसी प्रयत्नके फल स्वरूप भगवान् महावीरनेभी मनुष्यकी कामिनी और काञ्चनकी बलवती तृष्णा परही न केवल रोक लगाई, किन्तु अपने गृहस्थके लिये उन्हें मूल नियमोंमें निर्धारित किया। प्रत्येक गृहस्थका यह एक आवश्यक कर्तव्य है कि वह अपनी भोग-तृष्णाको सीमित रखनेके लिये अपनी विवाहिता पत्नीके सिवाय संसारकी शेष स्त्रियोंमें माता और बहनका भाव रखे, तथा अपनी धन-तृष्णाको सीमित रखनेके वास्ते अपने लिये आवश्यक रुपया, जायदाद आदिकी एक सीमा निर्धारित करले और किसीभी वस्तुका अनावश्यक संग्रह न करे। आजका समाजवाद कानूनोंके द्वारा मनुष्यकी जिस संचितवृत्तिका नियमन करना चाहता है, दीर्घदर्शी महावीरने और उनसेभी पहले अन्य जैन तीर्थङ्करोंने अपने धर्मके आवश्यक नियमोंके द्वारा उसके नियमनका प्रयत्न किया था। किन्तु राजकीय नियमोंके पीछे शासन सत्ताका [illegible] रहता है; अतः उसे मानना पड़ता है। पर धार्मिक नियम मनुष्यकी अपनी नैतिक

जिम्मेदारीपर निर्भर होते हैं — उनके तोड़नेपरभी तत्काल दण्ड मिलनेकी कोई आशङ्का नहीं रहती। अतः आजके महावीरोपासकभी दूसरे लोगोंकी तरह सङ्ग्राही और लोभी बन गये हैं। अन्यथा महावीरका तो कहना है —

" शुद्धैर्धनैर्विवर्द्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥ ४५॥"

अर्थात्—सज्जनोंकी सम्पदा शुद्ध न्यायोपार्जित धनसे नहीं बढ़ती। क्या नदियोंको किसीने स्वच्छ जलसे भरा देखा है? नदियोंमें जबभी बाढ़ आती है; बरसातके गंदे पानीसेही आती है।" इससे अधिक और कोई क्या कह सकता है!

यह तो हुआ गृहस्थोंके लिये विधान। श्रमणों–जैन–साधुओंके लिये तो कमण्डलु और मयूरपखोंकी पिच्छिकाके अतिरिक्त किसीभी प्रकारके परिग्रह रखनेका सख्त निषेध था। इससे अधिक उन्हें चाहियेभी क्या था! जैन श्रमण-सङ्घमें वेही प्रवेश पा सकते थे, जो पूर्ण निर्विकार हों, जिन्हें अपने इन्द्रियविकारको ढकनेके लिये प्रच्छादनकीभी आवश्यकता न रह गई हो। जिनमें इन्द्रियविकारका थोड़ाभी चाञ्चल्य पाया जाता था, वे गृहस्थ श्रेणीमेंही रक्खे जाते थे। इस तरह श्रमण-सङ्घको वस्त्रकीभी चिन्ता नहीं थी। और भोजन दिनमें एक बार किसीभी श्रावकके घर मिल जाता था, अतः भोजनकीभी चिन्ता नहीं थी। रहनेके लिये जो अयाचित स्थल सुलभ होते थे, वहीं पैठ जाते थे। जङ्गलोंकी कमी तो थी ही नहीं। सारांश यह है कि जैन श्रमणको अधिक-से-अधिक आत्म निर्भर, अयाचक, सन्तोषी, कष्ट-सहिष्णु और निर्विकार होना चाहिये। गृहस्थाश्रममें जिन दो मानवीय वृत्तियोंके नियमनका श्रीगणेश किया गया है, उनकी पूर्णता श्रमणमें होती है।

सम्भवतः भगवान् महावीरके इस कठोर मार्गको लक्ष्यमें रख करही यह धारणा बनाली गई है कि उन्होंने केवल कायपीडनकोही प्रधानता दी; किन्तु बात ऐसी नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कामक्रोधादि कषायोंका कृश करना आवश्यक है। उनको कृश किये बिना जो मात्र शरीरको कृश कर डालते हैं, उनका अवधारण 'कायक्लेशाय केवलम्' है। भगवान् महावीरका कहना है —

न दुःखं न सुखं यद्वद् हेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते।
चिकित्सायांतु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥
न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम्॥

'जैसे रोगके प्रतीकारमें न दुःखही कारण है न सुखही कारण है, किन्तु चिकित्सा प्रारंभ कर देनेपर दुःख हो या सुख, उसे सहाही जाता है; वैसेही मोक्षका साधन न दुःख है और न सुख। किन्तु मोक्षके मार्गमें पैर रख देनेपर दुःख हो या सुख, उसकी परवाह नहीं की जाती है।'

संक्षेपमें यही महावीरकी वैयक्तिक और सामाजिक विचारधारा है। उनकी दार्शनिक विचारधाराभी अहिंसामूलक है। दार्शनिकक्षेत्रमें 'अनेकान्तवाद' 'स्याद्वाद' और 'नयवाद' का सर्जन करके उन्होंने हमें प्रत्येक व्यक्तिको हर दृष्टिकोणसे समझनेका मार्ग सुझाया है और इस बातका ध्यान रखा है कि इस क्षेत्रमेंभी हिंसा मूलक व्यवहार न हो। ऐसे प्रभावशाली भगवान महावीरकी विचारधारा वर्तमान विश्वकी समस्याओंको सुलझानेमें बहुत कुछ मदद कर सकती है।

ऋषभदेव और महावीर!

(ले० श्री० कामताप्रसाद जैन)

'बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुणा भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७ ॥ ३२ ॥'

* * *

पुरिम चरिमादु जम्हा चलाचित्ता चेव मोहलक्खाय
ता सव्व पडिक्कमणं अंधलय घोड-दिट्ठंतो ॥ ८ ॥ २९ ॥'

—मूलाचार.

जैन मान्यताके अनुसार इस कल्पकालमें जो चौबीस तीर्थंकर हुये, उनमें ऋषभदेव आदि और महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। तीर्थंकर महावीरके ऐतिहासिक व्यक्तित्वमें विद्वानोंको शङ्का नहीं है; परन्तु ऋषभदेवको ऐतिहासिक महापुरुष माननेमें कतिपय विद्वान् हिचकते हैं। जैनशास्त्रोंमें ऋषभदेवकी महान् आयु और कायका वर्णन पढ़कर वह समझते हैं कि ऐसा महामानव शायदही हुआ हो। अतः ऋषभदेव उनके निकट एक पौराणिक व्यक्ति मात्र रह जाते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ औरही बताती है। राम और कृष्णके चरित्र और समयभी-भारतीय साहित्यमें विलक्षणसे जचते हैं; फिरभी राम और कृष्णके अस्तित्वमें शङ्का नहीं की जाती, तो ऋषभको एक यथार्थ महापुरुष माननेमें हम क्यों शङ्का करें! ऐसा कोइ पुष्ट कारण नहीं है जिससे जैन मान्यताको असमान्य ठहराया जावे। उसपर ऋषभसम्बन्धी जैन मान्यताका समर्थन ब्राह्मण[1] और बौद्ध स्रोतोंसेभी होता है।[2] बौद्धग्रंथ 'मञ्जुश्री मूलकल्प' में भारतके प्राचीन राजाओंमें राजा नाभि और उनके पुत्र ऋषभदेवकी

---

1. भागवत, स्कन्ध ५ अ. २-६ में ऋषभदेवका वर्णन है, वहां उन्हें कैवल्यपति और योगधर्मका आदि उपदेशक बताया है। यह जैन तीर्थंकरसे अभिन्न हैं। (विश्वकोष, भा० ३ पृ० ४४४ और स्टीवेन्सन, कल्पसूत्र भूमिका, पृ० १६) ऋग्वेद (८।२४) मेंभी ऋषभदेवका उल्लेख है। वैदिक ग्रंथोंमें जिनेन्द्र ऋषभका उल्लेख हुआ है, यह बात 'प्रभासपुराण' के निम्न श्लोकसे स्पष्ट है:—

"कैलासे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः। चकार स्वावतार च सर्वज्ञ सर्वगः शिवः ॥ ५९ ॥"

2. बौद्धाचार्य आर्यदेवने 'सत्शास्त्र' में ऋषभदेवको जैनधर्मका आदि प्रचारक लिखा है। (वीर ४।३५३) धर्मकीर्तिनेभी सर्वज्ञके उदाहरणमें ऋषभ और महावीरका समान रूपमें उल्लेख किया है। (न्यायबिन्दु ३) 'धम्मपद' के 'उसभं पवरं वीरं' गा० नं. ४२२ मेंभी तीर्थंकर ऋषभका उल्लेख हुआ बताया गया है। (इंडियन हिस्टॉरीकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता, भा० ३ पृ० ४७३-४७५).

श्री आदितीर्थंकर वृषभदेव और अंतिमतीर्थंकर भ. महावीर वर्द्धमान।

(ओडीसा १२-१३ वी शती, देखो " वृषभदेव और महावीर " शीर्षकलेख)
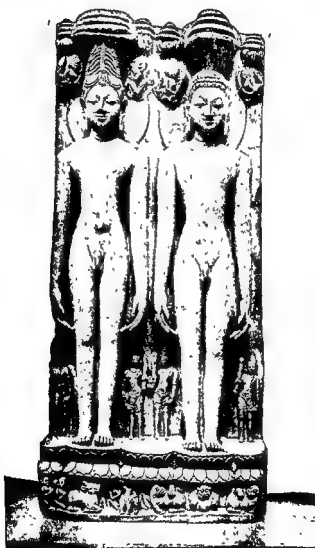
Fig I Rsabha and Mahāvira

(Images of First and Last Tirthamkaras)

गणना की गई है।[1] उसी ग्रंथमें ऋषभदेवको निर्ग्रन्थ तीर्थंकर लिखा है।[2] इसके अतिरिक्त मोहन-जोदड़ोकी प्राचीन मुद्राओंपर कायोत्सर्ग आसन और नासाग्रभाग-दृष्टि-युक्त ध्यानमुद्रामें नग्न योगियोंकी आकृतियां अङ्कित हैं; जो बिल्कुल तीर्थङ्कर ऋषभकी मूर्तियोंके अनुरूप हैं। ऋषभदेवका चिन्ह बैलभी उन मुद्राओंपर मिलता है; अतः वे मुद्रायें ऋषभमूर्तिके पूर्व-रूप हैं और उनके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये पुष्ट प्रमाण। फिर हम क्यों शङ्का करें कि ऋषभदेव ऐतिहासिक महापुरुष नहीं हैं? वे महावीरके समानही लोकोद्धारक तीर्थङ्कर थे।

ऋषभदेवभी तीर्थङ्कर थे और महावीरभी। किन्तु दोनोंका कार्यक्षेत्र और कार्यकाल भिन्न था। ऋषभदेव कर्मभूमिके प्रारंभमें हुये थे, जब मानव सभ्य और संस्कृत नहीं हुआ था। मानव प्राकृत जीवन बिताता था। विशेष प्रकारके वृक्षोंसे अपनी आवश्यक्ताओंकी पूर्ति करता था। कई मनु महाराजोंने उसे जीवन निर्वाह और घर-कुटुम्बकी बातें सिखाई थीं; किन्तु फिरभी वह सभ्य और सुसंस्कृत न हुआ था—आत्मस्वरूपका बोध उसे नहीं था। ऋषभदेवने पहलेही पहले मानवको लौकिक जीवन व्यवहार और परम आत्मधर्मकी शिक्षा दी थी। अपनी ब्राह्मी नामक पुत्रीको उन्होंने सर्व प्रथम् लिपिज्ञान कराया था। इसीकारण वह लिपि 'ब्राह्मी लिपि' के नामसे प्रसिद्ध हुई। असि-मसि-कृषि वाणिज्य-शिल्पादि सत्कर्म करनेका ज्ञान उन्होंने अपने समयके भोलेभाले मानवको कराया। मानव 'कुल' बनाकर रहना सीखा और समाज व्यवस्थाका सृष्टा हुआ। क्षत्रियोंको देश-रक्षाका भार सौंपा गया—इसलिये वह राजा हुये। वैश्योंको राष्ट्रकी समृद्धिका कार्य संभाला गया—राष्ट्रोन्नतिकी रीढ़ [illegible] हुये। शूद्र विविध शिल्प-विद्याओंको आगे बढ़ानेके लिये नियत हुये। ऋषभदेवने यह वर्णभेद राष्ट्रहितसे प्रेरित होकर किया था। वह वर्णभेद मानव-मानवमें ऊंच-नीचका भेद नहीं करता था। तबही तो यह संभव हुआ था कि भरत चक्रवर्तीने तीनों वर्णों क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमेंसे श्रेष्ठ मेधावी और चारित्रवान् पुरुषोंको चुनकर उनका ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था। किन्तु ऋषभदेव अपने समयके भोले मानवको लोकव्यवहारमें सभ्य और संस्कृत बनाकर संतुष्ट नहीं हुये, उन्होंने मानवको आत्मधर्मकाभी बोध कराया। आत्मबोधिकेविना मानवकी ऐहिक उन्नति पङ्गु रहती है।

---

१. "नाभिनो ऋषभपुत्रो वै स सिद्धकर्म दृढव्रत. ॥"
"ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मन्त्रान् तदा जपेत् ॥"
"एते चाऽन्ये च बहव: पार्थिवा लोकविश्रुताः ॥" —एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ १२-१३.

२. "कपिल-मुनिर्नाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ-तीर्थंकर ऋषभः निर्ग्रन्थ रूपी।" [illegible] उल्लेख [illegible] प्रो. हेल्मुथ फॉन ग्लासेनप्पका निम्न वक्तव्य महत्वपूर्ण है:—

"It is very interesting to note that, together with the founder of Sānkhya philosophy, the first Tirthankara of the Jainas appears in a Buddhist mandala. The reason is obvious If the Buddhists wanted to give a complete symbolical picture of the world and the great beings who influenced its destinies in a mandala, they could not omit the great prophet of a religion which though not in accord with their own, had acquired glory all over India."

—(Prof. *H. V. Glasenapp, Ph. D.* JAINA ANTIQUARY, VOL. III p. 47.)

अतः ऋषभदेवने उदाहरण बनकर मानवको बता दिया कि "सावधान ! ऐहिक सम्पत्तिके मोहमें फसकर अपनी आत्माको मत भूलना, वरन् मानवका पतन अवश्यम्भावी है।" इसलियेही अयोध्याके इक्ष्वाकु राजसिंहासनपर अपने पुत्र भरतको स्थापित करके वह वनवासी हो गये। तनपर उन्होंने एक धागाभी न रक्खा। परिग्रहसे संघर्ष उत्पन्न होता है। अतः निष्परिग्रही होकर जीवित रहनेमें मानवका अपना और सारे लोकका भला है। यह सत्य ऋषभदेवने अपने आदर्शसे मूर्तमान बना दिया। वह अकेले, निरारंभी और निष्परिग्रही होकर गिरि-कन्दराओंमें मौन धारण किये विचरते रहे। योगकी साधनामें वह ऐसे लीन हुये कि छै महीने बाद उन्हें शरीरपोषणका ध्यान आया। वह भिक्षाके लिये आये जनताके मध्य; किन्तु तबतक जनताका अज्ञान दूर नहीं हुआ था। वह ऋषभदेवको अपना उपकारी मानती थी—उनके विछोहमें विह्वल हो रही थी। उनको आया सुनकर वह स्वागत करनेके लिये दौड़ पड़ी। ऋषभदेवकी साधनामें वह विघ्न-रूप हुई। ऋषभदेव आहार लिये बिनाही वनको चले गये और ध्यान-योगमें लीन हो गये। छै महीनेतक तप-तपाकर आत्मशोधन किया उन्होंने। तब फिर वह जनताके मध्य आये। इस बार हस्तिनागपुरके श्रावक-द्वय श्रेयांस और उनके भाईने विधिवत् बड़ी शान्तिसे उनका स्वागत किया—कोई कोलाहल नहीं हुआ। ताजा इक्षुरसका आहार श्रेयांसने ऋषभदेवको दिया और अतिथि सत्कारके महती पुण्य विधानको सिरज दिया। ऋषभ सर्वज्ञ परमात्मा हुये और उन्होंने लोकके लिये आत्मधर्मका निरूपण किया। चूंकि उनके समयके लोग भोले थे, इसलिये उन्होंने हरएक बात अलग अलग समझाई और पाप, पापोंसे मुक्त होनेके लिये अलग अलग प्रायश्चित्त और चारित्रपालनका विधान किया। इसलिये वह आदिब्रह्मा और आदि तीर्थंकर कहलाये। इस कालमें जैनधर्मके संस्थापक ऋषभदेव हुये।

ऋषभदेवके पश्चात् बाईस तीर्थंकर और हुये, जिन्होंने अपने २ समयके मानवोंको श्रमण धर्म और अहिंसा-संस्कृतिमें आगे बढाया। सर्व-अंतिम तीर्थंकर महावीर थे। उनके समयमें मानव मायावी, वासनासक्त और वक्र हो गया था। हिंसा और वासनामें मानव अंधा बना हुआ था। वानप्रस्थी और भिक्षु होकरभी वह कामिनी और सुरामिषको नहीं भूला था। स्त्रियों पर बलात्कार होते थे और शूद्र पददलित किये जाते थे। तर्कवितर्क करके सत्य और तथ्यको क्षतविक्षत किया जाता था। जातिमद और कुलमदमें लोग मानवताको भूल गये थे। धर्मके नाम पर पशु होमे जाते थे। मानवोंको क्रीतदास बनाया जाता था। ऐसी विषम स्थितीमें तीर्थंकर महावीर कुण्डग्राममें अवतरित हुये थे। उन्हें ऋषभदेवके समान राज और समाजकी व्यवस्था नहीं करना पड़ी थी— न उनको मानवको सभ्यता और संस्कृतिकी नई-नई शिक्षा देना पड़ी थी। ऋषभदेव सभ्यताके विधायक और धर्मके संस्थापक थे, किन्तु महावीर सभ्य संस्कृतिके उन्नायक और धर्ममार्गके सुधारक थे। उनके समयका मानव बहका हुआ था—जानबूझ कर झूठे अज्ञानोंमें फसा हुआ था! आदि-कालके मानवकी भांति वह भोला और अज्ञ नहीं था। ऐसे मानवोंके लिये धर्मविज्ञानका निरूपण स्याद्वादतर्कणाके आधारसे करके महावीरने लोकका महती उपकार किया था। महावीरकोभी मानव-बुद्धिको संतोषित करनेके लिये धर्मसिद्धांतोंका विशद वर्णन ऋषभदेवके अनुरूप करना पड़ा था; किन्तु महावीरके निरूपणमें तर्कणाको विशेष स्थान था। इस लियेही समन्तभद्रस्वामीका यह कथन सार्थक है

कि "अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थङ्करोंने सामायिक संयमका और ऋषभदेव तथा महावीर भगवानने छेदोपस्थापना संयमका उपदेश दिया।" छेदोपस्थापना चारित्रमे पंचपापादिके दोषोंको दूर करनेका पृथक्-पृथक विधान होता है। यह भेदक्रम मानव प्रकृति पर समयके प्रभावका ऋणी था। इसी बातको वट्टकेर आचार्यनेभी स्पष्ट किया है कि "आदि और अन्तके दोनो तीर्थंकरोंके शिष्य चलचित्त और मूढमना होते हैं। शास्त्रका बहुत बार प्रतिपादन करने परभी उसे नहीं जानते। उन्हें क्रमशः ऋजुजड और वक्रजड समझना चाहिये, इस लिये उनके समस्त प्रतिक्रमण-दण्डकोंके उच्चारणका विधान बतलाया गया है और इस विषयमें अंधे घोडेका दृष्टांत दिया गया है।" यह शास्त्रीय उल्लेख तीर्थङ्करोंके उपदेशोंकी भिन्नताके द्योतक हैं, जो मूलतः अहिंसा पर अवलम्बित थे। इनसे उनके जीवनका वैचित्र्यभी स्पष्ट होता है। ऋषभ और महावीर जीवनकी तुलना इस अन्तरको व्यक्त करती है। ऋषभका विवाह हुआ और सन्तानभी; किन्तु महावीर बालब्रह्मचारी रहे। ऋषभने राज्यव्यवस्थापक और राष्ट्रपिताका पद पाया, किन्तु महावीर युवराज रहे। ऋषभ राजसुख भोग कर साधु हुये। महावीर युवराज पदको त्याग कर तीस वर्षकी अवस्थामें दीक्षित हुये। मानवोंकी अज्ञताके कारण ऋषभदेवको भोजनका अन्तराय-उपसर्ग हुआ। महावीर पर समयकी वक्रताका उपसर्ग हुआ। सम्प्रदायगत द्वेषने रुद्रको भी उकसा दिया। ऋषभदेवने केवली होतेके साथही उपदेश दिया; किन्तु महावीर सर्वज्ञ होने परभी मौन रहे—इन्द्रभूति गौतमका समागम हुआ तब उनकी देशना हुई। इस प्रकार दोनों तीर्थङ्करोंके जीवनमें महान् अन्तर है। यह अन्तर ही दोनोंको ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध करता है। ऋषभदेव आर्यसभ्यता और अहिंसा संस्कृतिके प्रतिष्ठापक और जैन धर्मके संस्थापक हुये, तो महावीर अहिंसा संस्कृतिके शोधक उन्नायक और जैन धर्मके पुनरोद्धारक हुये। (चित्र न० १) मोहनजोदडोकी प्राचीन सभ्यतासे लेकर आजतक ऋषभकी उपासना होती आ रही है।[१]

---

१. मोहनजोदडोके पुरातत्वमें ऐसी मुद्रायें और चिन्ह मिले हैं जो जैन तीर्थंकरोंके अस्तित्वके पोषक हैं। इनका विशद वर्णन हमने अन्यत्र लिखा है, जो 'विशाल भारत'के पुरातत्व विशेषांक और 'जैन ऐंटीक्वेरी'में (१४।१) द्रष्टव्य है। मोहनजोदडोसे उपलब्ध मुद्राओं पर अङ्कित योगियोंकी आकृतियां बिल्कुल दिगम्बर मुनियों जैसी नग्न और ध्यानमुद्रामय कायोत्सर्ग आसनमें है। प्रो० चन्दा उन्हें ऋषभदेवकी मूर्तिका पूर्वरूप मानते हैं। ("A standing image of Jain Rishabha in Kāyotsarga posture closely resembles the pose of the standing deities on the Indus seals . .. It may be a proto-type of Rishabha etc" Modern Review, Aug. 1932) प्रो० प्राणनाथने मुद्रा न० ४४९ पर जिनेश्वर (जिनइस्सर) शब्द पढा था। (इंडियन हिस्टॉ. क्वार्टर्ली, भा० ८ परिशिष्ट इन्डस सील्स पृ० १८) उन्होंने सिंधुउपत्यकाके लोगोंके धर्मका सम्बन्ध जैन और हिंदू धर्मोंसे सिद्ध किया है। (The names and symbols on Plates annexed would appear to disclose a connection between the old religious cults of the Hindus and Jainas with those of the Indus people". (Ibid) मोहनजोदडोकी दो नग्न मूर्तियां तो बिल्कुल जैनमूर्ति हैं (चित्र न० १० व १५, १६) धाराशिव तेरपुरकी गुफाओंमें संभवतः ईस्वी पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दिकी तीर्थङ्कर मूर्तियां उपलब्ध हैं। (करकंडचरिउ—कारंजा भूमिका पृ० ४१-४८) मौर्यकालकी जिन प्रतिमा पटनासे मिली हैं। दो हजार वर्ष पहले मथुराके लोग ऋषभकी मूर्ति बनाते और उनकी विनय करते थे। (प्रीयतामभगवानृषभश्री) Ep Indica, I, p 386.

राम और महावीर।

(ले० श्री. अयोध्याप्रसादजी गोयलीय।)

[राम और महावीर भारतके महापुरुष हैं। वे विश्वभूतियें हैं जिनका प्रकाश लोकके लिये कल्याणकर है। रामकी पितृभक्ति, धैर्य, सैन्यसंचालनक्रिया आदि गुण उन्हें एक आदर्श पुत्र, योद्धा और राजनीतिज्ञ प्रमाणित करते हैं। राम और लक्ष्मण रावणके प्रतीक और मर्यादापालक पुरुषोत्तम जो थे। जैन शास्त्रोंमें जिन त्रेसठ शलाका-पुरुषोंका वर्णन है, उनमें राम और लक्ष्मण नारायण और बलभद्र माने गये हैं। रामको जैनी सिद्ध-परमात्माके रूपमें पूजते हैं। महावीरभी सिद्ध परमात्मा हैं। किन्तु पहले वे तीर्थङ्कर शलाकापुरुष थे। चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रति-नारायण और नौ बलभद्र—यह जैनोंके त्रेसठ शलाकापुरुष हैं। जैनी इनको अवतार नहीं मानते, बल्कि उनकी दृष्टिमें वे हम-आप जैसे हाड-मांसके मानव होते हैं, जो अपने विशेष लोकोपकारी कार्योंके कारण,महती पुण्य और महान् पदके अधिकारी हो जाते हैं। सबही अपने समयके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुरूप समिष्टिका कल्याण करते और स्वयं आत्मस्वातन्त्र्य प्राप्त करनेका उद्योग करते हैं। जो सन्मार्गसे बहक जाते हैं वह महान् होकरभी पतितोन्मुख होते हैं। राम और महावीरकी महान-ताका संतुलन भाई अयोध्याप्रसादजीने प्रस्तुत लेखमें सुंदर रूपसे किया है। निस्सन्देह महावीरकी महानताको प्रकाशित और प्रभावित करनेवाला प्रतिभाशाली साहित्य अभी लिखा ही नहीं गया है। जैनाचार्योंने महावीरकी अपेक्षा महावीर संदेशको विशेष महत्व दिया है। उनके उपदेशों और सिद्धान्तोंको उन्होंने खूब ही संभाल कर रक्खा। उनको इस बातकी परवाह न थी कि कब, कहा और कैसे भ० महावीरने सिद्धांतोंका प्रतिपादन किया था। उनके सिद्धांतही लोकके लिये कल्याण मूर्त रहे हैं। किन्तु संसारका सरागी मानव अपने उपकारीके जीते-जागते दर्शन पाकर संतुष्ट होता है। अत उसके लिये एक महती और संपूर्ण महावीर जीवन वाञ्छनीय है। —का० प्र०]

कुछ समय हुआ एक ऐसे सज्जनसे,वार्तालाप करनेका अवसर प्राप्त हुआ था जो जन्मसे जैन हैं; जैन वातावरणमें ही सदैवसे रहते आये हैं और जैन समाजकी उन्नतिसे हर्षित तथा अवनतिसे दुखी होते हैं,फिरभी जैसी चाहिये वैसी जैन धर्मके प्रति उनकी श्रद्धा भक्ति नहीं है। वे महावीरसे रामके अधिक भक्त हैं, जैन ग्रन्थोंसे गीताको अधिक उपयोगी समझते हैं।

मुझसे उन्होंने पूछाः "आपकी रायमें राम हमारे लिये अधिक अनुकरणीय हैं या महावीर! सर्व साधरण के हृदयपटल पर किसके जीवनकी विशेष छाप पड़ती है! किसका जीवन चरित्र पढ़तेही हम आत्मविस्मृत और आनन्दविभोर हो जाते हैं! इन दोनोंमें हमारा सच्चा आराध्य कौन है!"

मैने कहाः "दोनों महापुरुष परम पदको प्राप्त हुए हैं, दोनोंही अपने युगमें एक महान् आदर्श उपस्थित कर गये हैं, दोनोंही अपने अपने युगकी परिस्थिति और आवश्यकताके अनुसार जुदा जुदा दृष्टिकोण रख गये हैं. हमें आवश्यकता और समयके अनुसार दोनोंकाही अनुकरण करना चाहिये. हमारे लिये दोनोंही आराध्य हैं!"

वे बोले : " आवश्यकताके अनुसार हमें दोनोंकाही अनुकरण करना चाहिये, आपके इस कथनका तात्पर्य मैं समझा नहीं ! "

मैंने तनिक स्पष्ट करते हुये कहा : " यदि हमारी परिस्थिति राम जैसी है यानी हमारे पिता किसी कारण हमें घरसे निकालना चाहते हैं तो हमें रामका अनुकरण करके घर छोडकर-पिताके आदेशका पालन करना चाहिये. और यदि हमारी परिस्थिति महावीर जैसी है यानी हमारे माता पिता मोहवश हमें लोकोपयोगी कार्य करनेके लिये घर नहीं त्यागने देते हैं तो हमें महावीरका अनुकरण करके मातापिताको समझाबुझा कर उनका आदेश प्राप्त करके घर त्यागना चाहिये. धार्मिक पुरुषोंको दुष्ट प्रकृति कष्ट पहुचाते हैं, हमारी स्त्रियोंका अपहरण करते हैं, तब हमें रामका अनुकरण करके धार्मिक पुरुषों और स्त्रियोंकी रक्षा करनी चाहिये. और यदि धर्मके नाम पर धार्मिक कहे जानेवाले पुरुष अबलाओं, पतितों और मूक पशुओंसे दुर्व्यवहार करें तो वहा हमें महावीरका अनुकरण करके ऐसे धार्मिक रीति रिवाजोंको नष्ट करना चाहिये. मातृ-पितृ-गुरु-भक्ति, एक-पत्नी-व्रत, बन्धु-प्रेम, अत्याचार-दमनके लिये हमें महावीरका अनुकरण करना चाहिये. दोनोंकेही आदर्श, हमारे लिये आवश्यकतानुसार अनुकरणीय हैं और दोनोंही हमारे लिये आराध्य हैं. "

" राम और महावीरही क्या जब जैसी परिस्थिति हो और उस समय जो मनुष्यका वास्तविक कर्तव्य हो, उसीके अनुसार अनुकरण करना चाहिये. "

" युद्धके अवसर पर अथवा मल्ल-शालाओंमें हमें 'हनुमान, बाहुबली, द्रोणाचार्य, अर्जुन, भीमका स्मरण करना चाहिये, उन्हींका अनुकरण करना योग्य है. वीर शत्रुसे मुकाबिला होनेपर रामका और कुटिल शत्रुसे सामना होनेपर कृष्णका अनुकरण करना चाहिये. सत्यके लिये हरिश्चन्द्र और दानके लिये कर्ण, ब्रह्मचर्यके लिये भीष्म, पातिव्रत सतीत्वके लिये सीताका अनुकरण करना चाहिये. उन्हींका आदर्श सामने रखना चाहिये. हमारे जीवनके प्रत्येक क्षणमें जिस महापुरुषके अनुकरणकी आवश्यकता पडे, हमें उसीका अनुकरण करना चाहिये. और जो परम पद प्राप्त करके आत्मासे परमात्मा हो गये हैं, उन सभीकी आराधना करना चाहिये. "

वे सज्जन बोले : " नहीं, मेरे पूंछनेका मंशा यह नहीं है. मैं पूछता हूं महावीर और राम इन दोनोंमें महान् कौन है. "

मैंने हसकर कहा: " इन दोनों महापुरुषोंकी तुलना करना ठीक नहीं. रामके जीवनमें महावीर जैसा तप, त्याग, वैराग्य और लोक कल्याणकारी भावनायें ढूंढना और महावीरके जीवनमें राम जैसा युद्ध, सैन्यसंग्रहका कौशल देखना दूधमें दहीका स्वाद खोजना है.

प्रायः सभी महापुरुषोंका जीवन अपनी स्थिति आदिके अनुसार जुदाजुदा होता है और यही उनकी महानता है. उद्यानमें सभी एक रंगके फूल कुछ विशेष आकर्षणीय नहीं होते. जीवनके भिन्न भिन्न पहलूपर भिन्न भिन्न महापुरुषोंके जीवनकी छाप रहती है. जो घटनायें रामके जीवनमें आईं वे महावीरके जीवनमें न आवें तो महावीर राम जैसा आदर्श कैसे उपस्थित कर सकते थे ! और जो

वातावरण महावीरके समयमें था यह कैसे कहा जा सकता है कि महावीरके बजाय तब राम होते तबभी वे तो वही लीला रचते जो पहले रची थी।"

वे सज्जन बोलेः "आप कुछही कहें पर जो आनन्द 'रामायण' पढनेमें आता है वह महावीर जीवन पढनेमें नहीं आता. रामायणमें जीवनके प्रत्येक पहलूपर इस ढगसे विवेचन किया गया है कि कुछ जाननेको शेष नहीं रहता और महावीरके जीवनमें एक अतृप्तिसी बनी रहती है."

मैंने कहाः "तो आप ये कहिये कि आप राम और महावीरकी तुलना उनके जीवनसे नहीं उनके कथासाहित्यसे कर रहे हैं"

उन्होंने कहाः "जी हा, आप यही समझ लीजिये."

मैंने कहा. "कथा साहित्यकी जब तुलना की जाती है तब नायककी बात गौण होकर कथाकारकी कला परखी जाती है.

जिस व्यक्तिका जीवन लिखनेवाला जितनाही कुशल होता है वह उतनाही ख्यातिको प्राप्त होता है. रामका जीवन वाल्मीकिने लिखा औरभी भवभूति आदि सस्कृत कवियोंने लिखा, पर तुलसीदास मानस लिखकर जो रामको आसन दे गये वह किसीसे देते न बना.

कहते हैं वाल्मीकिने रामायण रामके समयमें लिखी; अतः उसकी प्रामाणिकता अन्य रामायणोंसे अधिक होनी चाहिये और उसीके आधारपर अन्य सब रामायणें बनीं हैं. पर नहीं, तुलसीने वाल्मीकि रामायणसे कथा भाग [illegible] हुयेभी सैकडों ये मौलिक प्रसंग उपस्थित किये हैं और सैकडों स्थानोंपर वाल्मीकि रामायणके दोषोंको इसतरह टाल गये हैं कि पतेही नहीं चलता है. तुलसीने अपने रामको वाल्मीकिके रामसे बहुत ऊंचा उठाया है. वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी कृत रामचरित पढनेसे एक प्यास बनी रहती थी और वह यहकि लक्ष्मणकी स्त्री उर्मिलाके सम्बन्धमें लोग विशेष जानकारी चाहते थे. वह पूर्ति 'साकेत' लिखकर श्री मैथिलीशरणजी गुप्तने कर दी. आपने अपने सांकेतमें उर्मिलाका जो मौलिक चित्रण किया है, भरत, कैकई, माडवी आदिका जो वर्णन किया है वह इतना अनूठा और बेजोड है कि लेखकने उनको अमर कर दिया है.

मेरे कहनेका तात्पर्य यही है कि किस महापुरुषके जीवनमें जितनी घटनायें होतीं हैं वह सब कवि आखोंसे नहीं देखता. साधारणसे साधारण बातको प्रखर बुद्धिकी शानपर चढा उसे एक महान् बना देता है. और देशकालकी स्थितिके अनुसार अपनी ओरसे मौलिक उल्लेख करता है जो कथानकमें चार चाद लगा देते हैं. जिन व्यक्तियोंको ऐसे कवि मिल जाते हैं वह प्रसिद्ध हो जाते हैं. बाकी ख्याति प्राप्त नहीं कर पाते. रामके गुण गानेवाले वाल्मीकि तुलसी जैसे हुये, इसीसे वे ससार द्वारा जाने गये. वर्ना उनके जीवनमें कितनीही घटनायें ऐसी हैं जो महावीरसे तो क्या सर्व साधारणमें पाई जाती हैं. राम पिताके आदेशसे १४ वर्षको वन गये. वन जाते समय पुनः राज्य प्राप्त भी किया था; पर; महावीर उसी अवस्थामें माता पितासे स्वयं आज्ञा लेकर सदैवके लिये वनमें निकल पडते हैं. रामके साथ सीता है. रक्षाके लिये लक्ष्मण है. खाना पानेके लिये स्वतत्र हैं. चाहे जब वनसे फलफूल तोडकर

खा सकते और सरोवरसे पानी पी सकते हैं. इसके विपरीत महावीर अकेले हैं, निहत्थे हैं और अपने आप खाने पीनेकी कोई वस्तु न लेते हैं-न मांगते हैं, न हथियार रखते हैं और न आततायियोंसे अपनी रक्षाका उपायही करते हैं. राम विवाह कर लेते हैं महावीर विवाहतक नहीं करते!

यह सब होते हुयेभी रामकी चर्चा घरघरमें है. उनकी कथा गांवगांवमें महीनों तक होती है. उनकी लीला दिखाई जाती है, फिरभी लोगोंका मन नहीं भरता. इसके विपरीत महावीरका इतना तप त्यागका जीवन होते हुयेभी उन्हें वह ख्याति नहीं. इसका कारण यही है कि उनका जीवन कोई अपनी अमर लेखनीसे लिख दे, अभी तक ऐसा कोई कविही नहीं हुआ।

वर्षमें चैत्र सुदी १३, श्रावण कृष्णा १ और दीपावलीको उनके जन्म, शासनदिवस और निर्वाणोत्सव मनाए जाते हैं, जैनपत्रोंके इन अवसरों पर विशेषाङ्क निकलते हैं, पर वही एक दो बात जो सदासे सुनते आये हैं. जहा रामकी कथा महीनों कही जा सकती है, वहा महावीरकी कथा रातभरभी कहनेवाला विद्वान् नजर नहीं आता. इसका कारण यही है कि जिस अमरवाणीमें उनका जीवन लिखा होना चाहिये, वह नहीं मिलता. यह कहना कि उन लिखने योग्य घटनाही न हो तब क्या लिखा जाय, कुछ ठीक दलील नहीं है. रामकी सब बातें वाल्मीकिने देखीं या सुनी थीं क्या? क्या उन्होंने अपनी कवित्व शक्तिसे कुछ काम नहीं लिया? और थोडी देरको यहभी मान लिया जाये कि वाल्मीकि तो उससमय उपस्थित थे, इस लिये वे सब लिख सके, पर तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त तो तब उपस्थित नहीं थे, इन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभाके बलपर राम कथानकमें जो नवीन चमत्कार पैदा किया है वह किस आधार पर? अतः राम और महावीरकी तुलना उनके जीवनसे न करके उनके कथासाहित्यसे की जाती है तो मैंभी निःसकोच कहूंगा कि महावीर सम्बन्धी कथानक नहींके बराबर है.

बुद्ध, ईसा, मुहम्मदकी जीवन घटनायें जुदा जुदा हैं, पर चितेरोंने इस रूपमें अंकित की हैं कि मुंहसे वेसाख्ता दाद निकलती है. शकुन्तला क्या थी और क्या न थी, यह कौन जाने? पर कालिदासकी शकुन्तलाको कौन भूल सकता है?

साराश यह कि जिस नायकको जितनाही श्रेष्ठ लेखक मिला, वह उतनाही अधिक ख्यातिको प्राप्त हुआ है. एकही डाल पर खिलनेवाले दो फूल तोडनेवालेकी बुद्धिसे एक देव पर और दूसरा कब्र पर चढ जाता है.

एकही समय और देशमें होनेवाले बुद्ध और महावीरको देखिये. बुद्धके अनुयाई ७० करोड हैं, महावीरके १२ लाख. बुद्धका जीवन दुनियाकी हजारों भाषाओंमें प्रकाशित हो रहा है, महावीरका जीवन एक भाषामेंभी सम्पूर्ण नहीं है.

"म० महावीरके नाम पर लाखों करोडों रुपया दान करनेवाले जैन, उनका एक ऐसा जीवन-चरित्र लिखवा सकें, जो आत्मविभोर करदे—जो अपने अदर सपूर्ण हो—जिसे पढकर पिपासा शान्त की जा सके, ऐसे जैन अब हैं कहीं?" इति शम्।

महावीर हनुमान और तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर।

(डे० श्री० कुमार वीरेन्द्रप्रसादजी जैन, अलीगढ़)

वीरशिरोमणि, युगपुरुष भगवान् महावीर वर्द्धमान और पवन-पुत्र महावीर हनुमानको कति पय व्यक्ति एक बताते हैं, किन्तु उनकी यह धारणा भ्रान्त और निराधार है, क्योंकि हनुमानजी प्राग्-ऐतिहासिक कालके महापुरुष थे। वह रामचन्द्रजीके समयमें अवतरित हुवे थे एवं उन्होंने रामचन्द्रजीके साथही जीवनका अधिक समय व्यतीत किया था। पवनजय और अंजनाके सुपुत्र हनुमानजी अपने अतुल शारीरिक बलके कारण महावीर नामसे प्रसिद्ध हुए. वह विद्याधर वानर वंशी नरेश थे. कुछ लोग उन्हें वानर (पशु) कहते हैं. पर वास्तवमें वह मानवजातिके महापुरुष थे। जैनी उनको कामदेव बताते हैं. जैन शास्त्रोंमें उनका विशद् वर्णन हैं. उनके मतानुसार हनुमानजीने अन्तमें जैन मुनिकी दीक्षा ली तथा कठोर धर्मसाधना करके कर्म रिपुओंको मार भगाया और मोक्ष सिधारे, किन्तु भगवान् महावीर आजसे २४७५, वर्षपूर्व [illegible] पुण्यभूमि पर अवतरित हुए थे। और वे ऐतिहासिक युगके महापुरुष थे।। जैन तीर्थंकरोंमें वह अन्तिम थे।

आजभी इतिहासके अन्तर्गत् इन जैन तीर्थंकरोंका अस्तित्व सिद्ध है, इसमें संदेहके हेतु स्थान नहीं, क्योंकि आजभी दो हजार वर्षसे पूर्वकी ऋषभादिक तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ प्राप्य हैं. इससे प्रमाणित है कि वे कोई महान् पुरुष, युगपुरुष पथ प्रदर्शकही थे, जिन्होंने पथ भूलपथिककी नाई मारे मारे फिरते हुये आत्मोद्धार चाहनेवाले भव्य जीवोंको सच्चा मोक्ष-पथ प्रदर्शित किया था और महान् तीर्थकी स्थापना कीथी। इस महती उपकारकी स्मृतिमें उनकी मूर्तियां बनाई गई है. चौबीसवें तीर्थंकर भ० महावीरके विषयमें तो यह निर्विवादही सत्य है कि वे बुद्धके समकालीन युगवीर महापुरुष थे, महावीर वर्द्धमान लोककी विभूति थे.

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वीरका लोककल्याण और सार्वहितका कार्य इतना प्रभावशाली था, कि सारा ब्रह्माण्ड उनके सामने नत-मस्तक हुआ था. विश्व कवि रवीन्द्रनाथजीने कहाथा, कि महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर सब मानव एक हुवे. सबने उनकी पावन स्मृति सुरक्षित रखनेका उद्योग किया। तभी लोगोंने एक सम्वत् चलाया जो आजभी 'वीर-निर्वाण-सम्वत्' के रूपमें प्रचलित है, स्व. मम. श्री हीराचन्द गौरीशंकरजी ओझाको अजमेर प्रान्तके बारली नामक स्थानसे [illegible] शिलालेख प्राप्त हुआ था, जिसके अन्तर्गत वीर निर्वाणके ८४ वर्षके पश्चात राजपूताना राज्यकी मध्यमिका नगरीमें कोई भव्य भवन बनाए जानेका उल्लेख है. आधुनिक अन्वेषक वीर निर्वाणको ईसासे ५२७ वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ मानते हैं. तब यह शिलालेख २३९२ वर्ष पुराना है. उसमें भ. महावीरको महापुरुष माना है. इससे भ. महावीर ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध हुए.

सराय अघत (तहसील अलीगंज)
जिला एटासे प्राप्त गुप्तकालीन सर्वतोभद्रिका जिन-प्रतिमा। (पृ. २६)
Fig III A Quadro-Faced Jina Image from Sarāi-Aghat (Etah)
(श्री अध्यक्ष, प्रांतीय संग्रहालय, लखनऊके सौजन्यसे।)
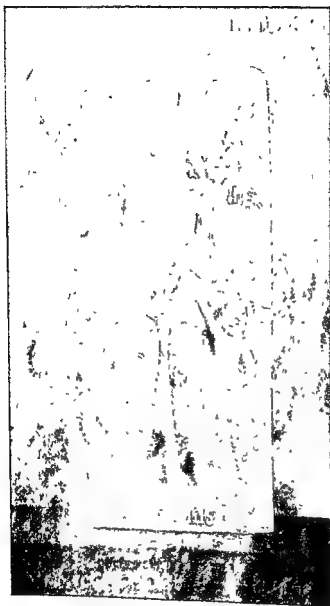
भ. महावीर की आमली-क्रीड़ा दृश्य, कंकालीटीला मथुरा।
(देवकृत परीक्षाके पश्चात् देव प्रसन्न होकर बालक महावीर को कंधेपर बैठाकर घुमा रहा है)
Fig II Prince Mahāvīra with His Play-Mates and Celestial Deva
('महावीर हनूमान और तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर '-शीर्षक लेखसे सम्बन्धित)

ईसासे पूर्व द्वितीय शताब्दिमें कलिङ्गका जैन सम्राट खारवेल था; जिसके पौरुष तथा राज्य विस्तारके लिये सेनाकी व्यवस्थित तीव्र गतिका वर्णन देखकर सुप्रसिद्ध विद्वान श्री काशीप्रसादजी जायसवालने सम्राट खारवेलका नामकरण किया था: "भारतका नेपोलियन". इनके हाथीगुफा वाले लेखमें उल्लेख है कि खारवेलका वंशमी भगवान महावीरके सदस्य था. इसमें यहभी लिखा हैकि म. महावीरने कुमारी पर्वतपर आकर उपदेश दिया. उक्त कथनसेभी प्रमाणित होता है कि म. महावीर तत्कालीन युगके महाविभूति थे.

इतनाही नहीं इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानोंपर म. महावीरकी अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं. ये मूर्तियां उनकी ऐतिहासिकताके प्रमाण हैं. जिलाएटाकी तहसील अलीगंजके अन्तर्गत सराय अघत नामक स्थानसे प्राप्त गुप्तकालीन चतुर्मुखी मूर्ति अत्यन्त मनोहर रम्य है। (चित्र न. ३) लखनऊके संग्रहालयमें कंकाली टीला मथुराकी खुदाईसे प्राप्त कुछ जैन मूर्तियां तथा शिलालेख संग्रहीत हैं. उनमें एक शिला पट्ट ऐसा है जिसमें म. महावीरका जन्म कल्याण देवगण मनाते दर्शाये हैं. उसी संग्रहालयमें म. महावीरकी जननी महारानी त्रिशलाकीभी सुन्दर मूर्ति है. (J ६२६) इस मूर्तिकी कलाकुशलता अनुपम तथा हृदयग्राही है. मथुरा संग्रहालयके अन्तर्गतभी एक शिलापट्ट कुषाण कालका है, इसमें म. वीरके कुमार कालका उस समयका चित्र चित्रित है, जिस समय वे बालसखाओंके साथ आम्र मिचौनी खेल रहे थे तथा देवने परीक्षा की थी, (चित्र न. २) उपरिलिखित प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि म. महावीर ऐतिहासिक महापुरुष थे।

अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्षपर आते हैं कि म. महावीर ऐतिहासिक महाविभूति तथा श्री हनुमानजी पौराणिक महापुरुष थे. यदि श्रीहनुमानजी श्रीरामचन्द्रजीके समयमें रामचन्द्रजीकी सहायता कर मैत्री का सुन्दर स्वरूप दे आत्म कल्याण कर मोक्ष सिधारे; तो म. महावीरने अपने आत्म संयमसे आध्यात्मिक तत्वों सत्य, अहिंसा शीलादिकी अटूट एवं अविचल चट्टानपर खड़े होकर लोक-कल्याण किया और मोक्ष पधारे. इस प्रकारसे इन उभय महापुरुषोंका व्यक्तित्व भिन्न भिन्न सिद्ध है ॥

कृष्ण और महावीर!

(श्री० हरिसत्य भट्टाचार्य, एम. ए., बी. एल.)

[श्रीकृष्ण बावीसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके समकालीन थे। जैनियोंके त्रेसठ शलाकापुरुषोंमें वे अन्तिम नारायण थे। 'हरिवंश पुराण' में उनका विशद चारित्र मिलता है। जैनी श्रीकृष्णजीको भावी तीर्थंकरके रूपमें पूजते हैं। वैष्णवजन उनके दर्शन भक्तरूपमें करते हैं और उनकी सरस लीलाओंके बाह्य रूपमें मग्न रहते हैं। कृष्ण लीलाके आध्यात्मिक रहस्यको वे नहीं पहिचानते। चीरहरण-लीला उनको आत्मबोध करानेमें कारणभूत नहीं होती! भक्तजन नहीं समझते कि गोपियां इन्द्रियोंकी प्रतीक हैं—उनको वस्त्रादि विहीन करना वासनाओंको छीन लेना है। किन्तु कृष्ण-उपासनाका दार्शनिक रूपभी है, जिसका प्ररूपण 'भगवद्गीता' में हुआ है। श्रीभट्टाचार्यजीने कृष्णजीकी तुलनामें उनके इस दार्शनिक रूपकोही दृष्टिमें रक्खा है। पाठक इस अध्ययनसे दोनों महापुरुषोंको ठीक रूपमें समझ सकेंगे। —का० प्र०]

हमारा यह लोक दुख-शोककी लीलाभूमि है। राजमुकुटको धारण किये हुये शक्तिशाली सम्राट्का हृदयभी यहां पीडासे खाली नहीं है। संयोग-वियोगकी आंखमिचौनी यहां होती रहती है। रोग, शोक और मृत्युके दुख नित नये होते हैं। दुनियामें उनसे बचा कौन है? महावीरके विचारशील मन पर इन बातोंकी गहरी छाप पडी थी - दुनियांकी चीजोंमें उनके लिये न कोई आकर्षण था और न मोह। छठवीं शताब्दि ईस्वी पूर्वके प्रबल शासक क्षत्रिय सिद्धार्थ और वैशाली-के प्रसिद्ध राजा चेटककी पुत्री रानी त्रिशलाके उस विचक्षण पुत्रका बुद्धिकौशल, बल और विवेक सर्वोपरि था। वीरने पूछा: " इस दुखसे मुक्ति पानेकाभी कोई मार्ग है? मानवके अनन्त दुख-शोककाभी कोई अन्त है?"

तीस वर्षके उन युवा और राज्यके उत्तराधिकारी महावीरने इस प्रश्नको हल करनेके लिये घर-बार छोडा और आत्मसंयमकी कठोरतम साधनामें वह लीन हो गये। साधनाका फल उन्हें मिला, जो वह चाहते थे। वह सर्वज्ञ हुये। उन्हें परम सुखका मार्ग सूझ गया। वह अपने युगके महा मानव हुये। उनके हृदयमें यूं तो सबके लियेही विश्वप्रेमका सोता बहता था, परन्तु तिरस्कृत, अपमानित और दलित जीवोंके प्रति उनकी करुणा अपार थी। उन्होंने सबके लिये अनुभव किया और सबके लिये मोक्ष मार्गकी घोषणा की। दलित दासकन्या सम चन्दना पर वह सदय हुये और वह आर्यिका संघकी नेत्री हुई। महावीरने अपने अभयदायक सुखसन्देशको तीस वर्षों तक ठौर-ठौर विचर कर फैलाया। सन् ५२७ ई० पूर्वमें जब उन्होंने पावापुरसे निर्वाणधाम पाया, तो यह स्वाभाविक था कि बडे बडे राजा और सारा जनसमुदाय कृतज्ञता ज्ञापनके लिये उनका निर्वाण कल्याणोत्सव धूमधामसे मनाता और दीपावली रचाता! हुआभी वही।

महावीरके इस संक्षिप्त वृत्तान्तसे स्पष्ट है कि उनके संदेशकी आधारशिला अहिंसा थी।

'किसीको कष्ट न पहुचाओ, सबका भला करो'—यह उनका परम सिद्धान्त था। उनका महान् करुण हृदय लोकके-प्राणियोंके दुखशोकका अनुभव करता था—दुखकी महान् विषमताको वह जानते थे। इसीलिये उन्होंने धर्मका मूल सिद्धान्त अहिंसा घोषित किया।

* * *

एक अत्याचारी शासकके अन्यायने जिसके निरपराध माता-पिताको कारावासमें रक्खा, जिसके नवजात शिशुभाई अकालकालकवलित किये गये और स्वयं राजपुत्र होते हुयेभी दूर-दूर देशमें ग्वालोंके बीच नृशंस कंसके घातक प्रहारके भयमें जिन्हें रहना पड़ा, उन कृष्णको सचमुच अपने जीवन अस्तित्वके लिये बचपनसेही लड़ना पड़ा। अभी वह पूरे युवाभी नहीं हुये कि लोकने जाना, "वह रहेंगे या अत्याचारी कंस!" पर कंसही क्यों? कृष्णका महान् और प्रबल शत्रु तो जरासिंधु आ निकला। अपनी, अपने कुलकी और सभी शान्तिप्रिय लोककी क्षेम-कुशलके लिये कृष्णको जरासिंधु-परभी चक्रप्रहार करना पड़ा। शान्त लोकके द्रोही अत्याचारी लोगों जैसे शिशुपाल, शल्व आदिको भीतो उन्हें यमके घाट उतारना पड़ा था। किन्तु क्या इन कृत्योंसे लोकमें धर्मराज्यकी स्थापना हुई थी? सचमुच नहीं! पशुबल पर तुले कौरव और पाडवोंको कैसे भुलाया जाये? कृष्णने शान्ति और न्यायके लिये संधि करानी चाही, तो मदमत्त कौरव-पाडव परिहास करने लगे। परिणाम कुरुक्षेत्रका नृशंस और घातक महाभारत युद्ध हुआ। कृष्णके परिजन और सम्बन्धी लोगही वासनामें अंधे हुये अधार्मिक जीवन विताने लगे और अकाल मृत्युके शिकार हुये। विचारिये कृष्णके हृदय पर मानव प्रकृतिकी इस नृशंस प्रगतिका क्या प्रभाव पड़ा होगा! उनके चहुओर नीच क्रूरता नगी नाच रही थी! इन जीवन घटनाओंने कृष्णको कर्म करनेके लिये प्रेरणा की-उन्होंने घोषित किया, "मानव कर्म करनेमें रत रहे, परतु उनके फलकी इच्छा न करे।" निष्काम कर्म करना कृष्णका ध्येय था।

* * *

महावीर और कृष्ण—दोनोंही दुनियाकी बुराईकी तह तक पहुचे हुये थे। दोनोंनेही लोकको मुक्तिका संदेश दिया। किन्तु महावीरने अपनी असीम करुणासे प्रेरित हो दुखी दुनियाको अहिंसा का-सिद्धात दिया! सबको विश्वप्रेमका पाठ पढ़ाया। इसके विपरीत चूंकि कृष्णको अपने जीवन-अस्तित्वको स्थिर रखनेके लिये अन्याय, अत्याचार और अनाचारसे जूझना पड़ा था, इसलिये उन्होंने कर्ममय सन्यासकी शिक्षा लोगोंको दी। इस प्रकार कृष्ण और महावीरने जिस मानवधर्मका प्रतिपादन किया वह उनके विभिन्न जीवन व्यवहार और दृष्टिकोणपर अवलम्बित है। महावीर स्वभावसे बड़े दयालु और कृपालु थे। इसलिये उन्होंने मानवको सिखाया कि वह किसी प्राणीकी हिंसा न करे और सबके साथ भलाई और अच्छाईका व्यवहार करे। जीवनकी विषमताओंने कृष्णको कर्म करनेकी आवश्यकता दर्शाई; इसलिये उन्हें संसारके प्रलोभन थोथे भासे। उन्होंने मानवका कर्तव्य निर्धारित किया कि "मानव कर्म करे, परंतु फल पानेकी आकांक्षा न करे।"

किन्तु इस कथनसे [illegible] न समझना चाहिये कि भारतमें सन्यास और अहिंसा सिद्धान्तोंका

प्रतिपादन पहले पहले कृष्ण और महावीर द्वारा हुआ था। वास्तवमें वात यू नहीं है। सत्य यह है कि कृष्णने सन्यास धर्मका व्यवस्थित निरूपण नये ढगसे किया था और महावीरने फिरसे अहिंसाकी सार्थकता सिद्ध की थी। वैसे अहिंसाधर्मका निरूपण महावीरसे पहले अनेक तीर्थङ्करों द्वारा किया जा चुका था। जैनियोंके अतिरिक्त वैदिक धर्मानुयायियोंनेभी सीमितरूपमें अहिंसाका पालन किया था। सन्यास धर्मके लियेभी यही वात घटित हुई। उपनिषदोंमें सन्यास धर्मकाही विवेचन मिलता है। सबही भारतीय दर्शनोंमें सन्यासको अपनाया गया है। जैनियोंनेभी उसके महत्वको पहिचाना है। महावीरने अहिंसाको नया व्यवहारिक रूप दिया और कृष्णने बताया कि सन्यास धार्मिक जीवनका मूलाधार कैसे बन सकता है? दोनों महापुरुषोंने किन्हीं नये सिद्धान्तोंका उपदेश नहीं दिया।

कृष्णने अद्वैतवादके दार्शनिकरूपमें मानवधर्मकी विचारणा की। उनके निकट एक ब्रह्मके अतिरिक्त शेष सब माया (छाया non-existence) है। जीवात्माभी ब्रह्मरूप है। इस सिद्धांतके अनुसार लोक तो छाया (illusion) मात्र है—फिर परके प्रति धर्म हो ही क्या सकता है? तोभी लोक व्यवहारकी सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता! इसलिये छायाका लोभ या मोह न करके निष्काम कर्म करना मानवके लिये उचित है। कृष्णने इस सिद्धांतको आगे बढ़ाया था।

जैनी लोकको छाया अथवा असत्त्व (non-existence) नहीं मानते। उनके निकट लोक षुद्ध द्रव्योंका क्रियाक्षेत्र है। अलबत्ता जैनी यह मानते हैं कि सांसारिक पदार्थ आत्माके स्वभावसे प्रतिकूल हैं। इसलिये वे अग्राह्य हैं। इस हद तक जैन धर्ममेंभी सन्यासका महत्व स्वीकार किया गया है। जैन सिद्धांतके अनुसार (१) लोकमें अनन्त जीव हैं (२) और वे जीव कर्म-मल द्वारा अनादिकालसे मलिन हैं, जिसके कारण वे संसारमें भ्रमण करते और दुख उठाते हैं। अतः जैनाचारका निरूपण इस सिद्धांतके अनुकूल होना अनिवार्य रहा है। निस्सन्देह जैनी आत्मोन्नति करनेके साथही संसारके दुखी और सबर्मे लीन अपने साथियोंको कैसे भूल जाते? अतः मानवधर्म उनके निकट एक यथार्थ वस्तु रही है। दूसरोंका उपकार करना जीवके लिये स्वाभाविक है। महावीर अपने समयके जैनियोंमें प्रधान थे और उन जैसा कोमल एवं दयालु हृदय किसीका नहीं था। उन्होंने अपने चहुओर देखा कि लोकके सभी प्राणी दुख-शोकके संघर्षमें जर्जरित हो रहे हैं। उनका ध्यान निकट और प्रत्यक्षसे दूर गया। उन्होंने अनुभव किया, सभी युगों, कालों और क्षेत्रोंमें सांसारिक जीवोंके भाग्यमें सततिके दुख और शोक लिखे हुये हैं। उन्होंने अपनी मुक्तिमेंही संतोष नहीं माना, बल्कि दुखी संसारकी मुक्तिके लियेभी कुछ करना उन्हें आवश्यक जचा। अतः उन्होंने घोषित किया कि मानवका परमधर्म अहिंसाको पालना है। वह अहिंसा नहीं, जो मानवको दीनहीन बनादे। दीन भिखारीके आगे बड़े गर्वसे पैसे फेंक देना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो महान् धर्म है। उसके पालनसे तो अपना और पराया सबका उत्कर्ष और गौरव होना चाहिये। इसलिये महावीरने अहिंसाको मुख्य धर्म माना और बताया कि अहिंसाका पालन किये बिना कोई मुक्त नहीं हो सकता!

कृष्ण और महावीरके जीवन और सिद्धांत उनकी महानता स्वतः प्रमाणित करते हैं। इति शम्।

महावीर और बुद्ध।

(ले० श्री० कामताप्रसाद जैन)

अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमानके समकालीन म० गौतम बुद्ध थे, जिन्होंने बौद्ध धर्मकी स्थापना की थी। जो लोग जैनधर्म और बौद्धधर्मको एक माननेकी भूलमें पड़े हुये हैं, वह देखें कि दोनों धर्मोंके उत्थापक जुदे जुदे थे। ऋषभदेवने जैनधर्मकी स्थापना महावीर और बुद्धसे बहुत पहले की थी; जब कि गौतम बुद्धने बौद्धधर्मको पहले पहले उससमय चलाया जिससमय जैनधर्मके तेईस तीर्थंकर हो चुके थे और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर उसका पुनरुद्धार करके प्रचार कर रहे थे। प्रो० ल्यूमानने महावीर और बुद्धकी तुलना करते हुये लिखा था कि "महावीरका जन्म ई० स० पूर्व ५७० के आसपास हुआ। [illegible] महान् विजेता रूपमें प्रसिद्ध हुये। [illegible] ई० स० पूर्व ५५० के लगभग जन्मे और बुद्ध अर्थात् ज्ञानी कहलाये। ये दोनों महापुरुष अर्हन्त (पूज्य), भगवान्‌ (प्रभु), और जिन (विजेता) नामोंसे ख्यात थे। किन्तु महावीरकी तीर्थंकर संज्ञा उसी प्रकार निराली है जैसे बुद्धकी तथागत। दोनों महापुरुषोंके क्रमशः यही नाम लोकप्रिय और प्रचलित थे। तीर्थंकरका शब्दार्थ 'तारनहार' अथवा 'मुक्तिमार्गके प्रदर्शक' होता है। तीर्थंकरका भावार्थ मार्गदर्शक समझना ठीक है। 'तथागत'का शब्दार्थ होता है 'ऐसे गये जो' अर्थात् 'इन्हे मार्ग [illegible] चढे जो।' तथागतका भावार्थ 'आदर्शरूप' ठहरता है। महावीर ज्ञातृकुलमें और बुद्ध शाक्यकुलमें जन्मे थे। इसलिये महावीर 'ज्ञातृपुत्र' और बुद्ध 'शाक्यपुत्र' भी कहलाये थे। शाक्यपुत्र अपेक्षा शाक्यमुनिभी वह कहलाये। घरके भाई-बन्धुओंमें महावीर 'वर्द्धमान' और बुद्ध 'सिद्धार्थ' नामसे प्रख्यात् थे। बुद्ध नामकी अपेक्षासे उनके अनुयायी बौद्ध (Buddhist) कहलाये और महावीरकी जिन संज्ञाके अनुरूप उनके अनुयायी जैन -(Jinist) नामसे प्रसिद्ध हुये।"[1] इस प्रकार महावीर और बुद्ध दो पृथक महापुरुष ठहरते हैं और दोनोंके धर्मभी स्वाधीन थे। जैनधर्म और बौद्धधर्म एक दूसरेकी शाखा नहीं थे और नहीं ही उनका उद्भव वैदिक धर्मसे हुआ था। अलबत्ता जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है,[2] किन्तु बौद्धधर्मका साम्य जैनधर्मसे अधिक है। बौद्धधर्मके अनेक पारिभाषिक शब्द (Technical Terms) और सिद्धान्त नितान्त जैनधर्मके अनुरूप हैं।[3]

---

१. बुद्ध अने महावीर (पूना १९२५), पृष्ठ १२-१३.

२. "Jainism played an important part in the religious history of ancient India There can be no doubt that it (Jainism) is older than Buddhism. According to tradition the principles [illegible] Jainism existed in India from the earliest times." —Dr. B. C. Law, M A, B L, Ph D, D Litt. etc.

३. विशेषके लिए स्व० ब्र० शीतलप्रसादजीकृत "जैन-बौद्धतत्वज्ञान" (सूरत) नामक पुस्तक देखो।

अहिंसा-दया और मैत्री भावनाको जैनकी तरह बौद्धभी विशेष महत्व देते हैं। संसार और वासनासे दोनोंही मानवको सावधान करते हैं। दोनोंही कर्मसिद्धांत को मानते और आस्रव-बंध शब्दोंका व्यवहार करते है। किन्तु यह सादृश्य बाह्यरूपमेंही है। गहरे उतरनेपर जैनोंकी अहिंसा और कर्मसिद्धांत बौद्धोंकी अहिंसा और कर्मसिद्धान्तसे विलक्षण ठहरते हैं। जैन अहिंसाका पालक मांस-मदिराको कभी छू नहीं सकता, किन्तु बौद्धभिक्षुमभक्तक मृतमांस ग्रहण करनेमें संकोच नहीं करते। विनयपिटकमें ऐसे उल्लेख हैं जिनसे भासता है कि स्वयं बुद्धने मांस भोजन किया था[1]। उपरान्त बौद्धोंके 'लंकावतार सूत्र'में 'मांस-भक्षणपरिवर्तो' नामक आठवें अध्याय द्वारा मांसभक्षणका विरोध बुद्धके मुहसे अवश्य कराया गया है[2]। मूल पिटकसूत्रोंमेंभी जब हम बुद्धको एक जैनके समान त्रस-स्थावरकी रक्षा करने, रात्रि भोजन न करने, वनस्पतिकायकी विराधना न करनेका सूक्ष्म दयामय उपदेश देते देखते हैं, तो संशयमें पड़ते हैं। हो सकता है कि 'सूकर मद्दव' आदि शब्दोंका अर्थ बुद्धदेवके निकट मांस-मत्स्य न होकर कोई विशेष प्रकारका शाकभोजन रहा हो। श्वेताम्बर जैन सूत्रग्रंथोंमें 'माज्जारकडे' — 'कुक्कुडमंसये' आदि

---

१. 'जीवकसुत्तन्त' (२।१।५), 'मज्झिमनिकाय' (हिन्दी, पृ. १०० और 'महावग्ग' (६।१५।२) में म. बुद्धके १२५० भिक्षुओं सहित मांसभोजन करनेका उल्लेख है।

२. "भगवांस्तस्मै तदवोचत्। अपरिमितैर्महामते कारणैर्मांसं सर्वमभक्ष्यं कृपात्मनो बोधिसत्वस्य-तेभ्यस्तूपदेशमात्रं वक्ष्यामि।" इन शब्दोंके 'लंकावतारसूत्र' में म. गौतम बुद्धके मुखसे मांसाहारका निषेध कराया गया है, जिससे स्पष्ट है कि बौद्धोंमें मांसाहारके विरुद्ध भावना जागृत हुई थी। चीन-जापानके कतिपय बौद्धभिक्षु इस समयभी मांस नहीं खाते हैं। (विशेषके लिये 'जैन-बौद्ध तत्वज्ञान' (सूरत) पुस्तक पृ. १८४।१८९ देखिये।)

३. 'सुत्तनिपात'के धम्मिकसुत्तमें दयाभाव रखनेके लिये स्थावर और त्रस जीवोंके प्राण न लेनेका उपदेश ठीक जैन शास्त्रके अनुरूप है —

"पाण न हाने न च घातयेय्य न चानुजञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥"

'महावग्ग' (६) केण्णियजटिल प्रसंगमें लिखा है — "श्रमण गौतमभी रातको उपरत = विकाल भोजनसे विरति हैं। अर्थात् गौतम बुद्ध रात्रिको भोजन नहीं करते हैं।" — बुद्धचर्या, पृ. १६७.

"सामंजफलसुत्त" (दीघनिकाय) १:६:२ में साधुधर्ममें बताया है कि "साधु बीज-ग्राम-भूत-भूतग्रामके नाशसे विरत होता है। एकाहारी, रातको (भोजनसे) विरत, विकाल भोजनसे विरत होता है। मूलबीज, स्कंधबीज (डाली जो उगती है), फलबीज, अग्रबीज और पांचवा बीज-बीज-यह या इस प्रकारके बीजग्राम-भूतग्रामके विनाशसे विरत होता है।" वनस्पति कायकी रक्षाका ऐसाही विवेचन जैनशास्त्र 'गोम्मटसार' (जीवकांड) की योगमार्गणामें किया है। वहां वनस्पति (१) मूलबीज, जैसे हल्दी, अदरक; (२) अग्रबीज जैसे आर्यक, (३) पर्वबीज जैसे सांठा-गन्ना, (४) कंदबीज जैसे पिंडालु-सूरण; (५) स्कंधबीज जैसे पलास; (६) बीजबीज जैसे गेहूं चना और (७) सम्मूर्छन मिश्रित बीज। साधु इनकीभी रक्षा करता है। जीवदया पालनमें बुद्धने पूरा ध्यान रक्खा; किन्तु परिस्थिति वश संभवतः उनको मृत मांसकी छूट रखना पड़ी। (जैन-बौद्ध तत्वज्ञान, पृ. १७६-१७८).

शब्दोंका प्रयोग वनस्पति विशेषके लिये हुआ मिलता है[1]। किन्तु बौद्धोंके 'विनयपिटक' ग्रंथमें सेनापति सीहका प्रकरण इस अनुमानसे बाधक है[2]। वहां बैलके वध करने और वह बैलका मांस बुद्धको आहारमें अर्पित करनेका स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह अनुमान होता है कि बुद्ध स्वयं और अपने अनुयायियोंको प्राणिहत्यासे दूर रहनेके लिये जैनोंके समानही सावधान रखते थे; किन्तु जब कोई गृहस्थ उनको वह मांस देता था जो उनके उद्देशसे नहीं मारे गये पशुकी हत्यासे प्राप्त हुआ हो, तो वह ले लेते थे[3]। वर्मा आदि देशोंके बौद्ध आजभी इस भ्रामक धारणासे मृतमांस ग्रहण करते हैं। जैन धर्ममें ऐसा कोई संदिग्ध स्थल नहीं है—उसमें मांसभोजनका सर्वथा निषेध है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में उसे स्पष्ट हिंसा पापका कारण और त्याज्य कहा है:—

"न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात्प्रसरत्य निवारिता हिंसा ॥ ६५ ॥
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ६७ ॥"

भावार्थ — "बिना प्राणियोंके मारे मांस नहीं होता है, इसलिये मांस खानेवालेके अवश्य हिंसा होती है। यद्यपि स्वयं मरे हुए भैंस, बैलआदिकामी मांस होता है, तोभी नहीं खाना चाहिये, क्योंकि उनमें उनके आश्रयसे पैदा होनेवाले अनेक जन्तुओंकी हिंसा होगी। मांसकी डली चाहे कच्ची हो, चाहे पकी हो, चाहे पक रही हो, उसमें उसी जातिके जन्तु निरन्तर पैदा होते हैं, जिस जातिके पशुका वह मांस होता है।" इसलिये मांस अभक्ष्य है। श्वेताम्बर जैनोंके 'सूयगडांग' (सूत्रकृताङ्ग) ग्रंथमें दूसरे श्रुत-स्कन्धके छठे अध्ययनमें अडतीस गाथाओंके अन्तर्गत मांसाहार करनेवालोंका वर्णन करके अन्तमें लिखा है:—

"जे यावि भुञ्जन्ति तहप्पगारं सेवन्ति ते पावम जाणमाणा।
मणं न एवं कुसलं करन्ती, वायावि एसाबुइया अमिच्छा ॥"

---

१. 'मार्जारो विराळिकाभिधानो वनस्पति विशेष'—अभयदेवसूरि। 'भगवतीसूत्र' में 'मज्जारकडे' का अर्थ मुक्तपर्णी वनस्पति किया है। 'अभिधानसंग्रह–निघंटु' में कपोतको 'कपोताण्ड-तुल्य फल' और कुक्कुटको वनस्पति विशेष (शीतारक शितिवरीवितुन्नः कुक्कुटः शिति) लिखा है।

२. महावग्ग ६:३१:११ (SBE XVII) p 115.

३. "जीवक, तीन प्रकारके मांसको मैं (बुद्ध) भोजन कहता हूं:— अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित (= जीवका अपने लिये मारा जाना न देखना, न सुनना और न शंका होना.)—जीवकसुत्तन्त (२।१।५) मज्झिमनिकाय (हिन्दी) पृ० २०० 'महावग्ग' (विनय पिटक ६:३१:२४) मेंभी उपर्युक्त तीन शर्तोंसहित मछली खानेका विधान है। इस तरह अहिंसाको मानते हुयेभी बुद्ध मांसभोजनके सर्वथा विरोधी नहीं थे।

अर्थात् — 'जो भी उस प्रकारका आहार करता है, वह पापको न जाननेवाले अनार्य मानवकी सेवा करता है, परन्तु कुशल मनुष्य मांस भक्षणके पापको जानता है, उसकी अभिलाषाभी मनमें नहीं करता है—ऐसी (मांस भोजन-विधान-जैसी) मिथ्या वाणी बोलतामी नहीं!' इस प्रकार जैन और बौद्ध अहिंसाका अन्तर स्पष्ट है।

यही हाल कर्मसिद्धांतका है। महावीरके समानही बुद्धभी कर्मसिद्धांतको स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। बुद्ध इस बातको मानते हैं कि प्रत्येक प्राणी अपने किये हुये शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका फल पाता है। जबतक रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञानकी सन्तान चलती रहेगी तबतक अनेक जन्मोंमें प्राणीको भ्रमण करना पड़ेगा। जब सब आस्रव क्षीण होंगे, तब क्षय होगा और क्षयसे निर्वाणकी प्राप्ति होगी[1]। किन्तु इस विवेचनसे यह स्पष्ट नहीं कि बुद्धभी महावीरके अनुरूप कर्मको एक विशेष सूक्ष्म पुद्गलकी आत्मा पर प्रक्रिया रूप मानते थे, जो आस्रव (=आगमन), बंध (=स्थिति-विपाक) और निर्जरा (=क्षय) की अवस्थाओंसे युक्त है। अलबत्ता बौद्धसाहित्यमें निम्न प्रकार आस्रव और संवर शब्दोंका प्रयोग हुआ मिलता है :—

(१) 'आसवा संवरा पहा तब्बा' (= आस्रवोंको संवरसे दूर करना चाहिये).

(२) 'भिक्खु सब्बासव संवर संवुतो विहरन्ति' (= भिक्षु सर्व आस्रवोंका संवर करता हुआ विहार करता है)। —मज्झिमनिकाय, इतिवुत्तक, सब्बासव सुत्तं।

(३) 'जिसकर्मफलके लिये अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष नर्कमें पचना पड़ता उस कर्मविपाकको ब्राह्मण, तू इसी जन्ममें भोग रहा है।'

—बुद्धचर्या पृ० ३७० (अङ्गुलिमालसुत्त)

इन उद्धारोंमें आस्रव, संवर और कर्मविपाक शब्दोंका प्रयोग हुआ है, जिनसे यह ध्वनित होता है कि बुद्धभी कर्मपुद्गलका आना और फल देना मानते थे, परंतु उन्होंने 'बन्ध' तत्वका जैनकी तरह नहीं माना है। इस लिये यह शंकास्पद है कि उन्होंने महावीरके समानही कर्म-पुद्गलको आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा माना है। बंध और निर्जरा नामक तत्व बौद्धधर्ममें नहीं हैं[2]। इस प्रकार बाह्य सादृश्य होते हुयेभी दोनों धर्मोंकी मान्यताओंमें अन्तर है।

---

१. जैन-बौद्ध तत्वज्ञान (सूरत), पृष्ठ १४४-१५३.

२. *Bandha*—In Jainism it means bondage. In Buddhism, it means Samyojana. *Nirjarā*—There is nothing like this in Buddhism.

—Dr B C Law, M A, B L, Ph D, D Litt (Foreword to Bhagawāna Mahāvira Aur Mahātmā Buddha, p 11).

आस्रवके विषयमें हेकोबीने लिखाथा कि विचार पर विशेष असर करनेवाले बाह्य जगतके प्रभाव को बौद्ध आस्रव कहते हैं। यह भाव जैनधर्मके आस्रवमें प्रकट होता है, क्योंकि जीव पर कर्मपुद्गल असर करता है, यह मान्यता केवल जैनदर्शनमेंही है। —जैनधर्म (गुजराती) पृ ४६४.

किन्तु महावीर और बुद्धदेवके सिद्धांतोंमें इसप्रकार बाह्य सादृश्य होनेका कारणभी होना चाहिये। [illegible] कारण जैनाचार्य देवसेनके 'दर्शनसार' ग्रन्थको देखनेसे स्पष्ट होता है। उसमें लिखा है कि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके तीर्थके आचार्य पिहिताश्रवके शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुये, जो भ्रष्ट होकर मत्स्य भक्षक और अपने मत-बौद्धधर्मके प्रणेता हुये[1]। अपने साधुजीवनमें जैन मुनिचर्याका पालन बुद्धने किया था-इस बातको उन्होंने निम्नलिखित शब्दोंमें स्वीकार किया है, बुद्ध कहते हैं :—

"यहा सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता थी-अचेलक (नग्न) था। मुक्ताचार, हस्तापलेखन (हथचट्टा), नाह हिमादन्तिक (बुलाई भिक्षाका त्यागी), न-तिष्ट-भदन्तिक (ठहरिये कह, दी गई भिक्षाको), न अपने उद्देश्यसे किए गएको और न निमन्त्रणको खाता था।... न मछली, न मांस, न सुरा पीता था।... शाकाहारी था।... केशदाढी लोचनेवाला था।" — मज्झिमनिकाय, १।२।२, (हिन्दी), पृ. ४८-४९.

बुद्धकी यह चर्या बिल्कुल दिगम्बर मुनिकी चर्याके अनुरूप है। अतः यह स्पष्ट है कि जैन-मुनिपदसे भ्रष्ट होकर बुद्धने 'मध्यमार्ग' का निरूपण किया था। इसलियेही उनके मतका सादृश्य जैनमत और उसके सिद्धांतोंसे है।

जैनोंकी महान् तपस्यासे घबड़ा कर बुद्ध मध्यमार्गी बन गये — न वह गृहस्थोंकी तरह वासनासक्त थे और नहीं ही श्रमणोंके अनुरूप घोर तपस्वी। वानप्रस्थी परिव्राजकोंके समान बुद्धने सन्यासी जीवनमें स्त्री-पुरुषकी शिथिलताकाभी निरोध किया था। उसके विपरीत महावीर योगी और महातपस्वी रहे। डॉ. ल्यूमानने ठीक लिखा था कि "महावीर केवल साधुही नहीं, तपस्वीभी थे। किन्तु बुद्धको बोध प्राप्त होनेपर वह तपस्वी न रहे-मात्र साधु रह गये थे।" बुद्धने अपना पुरुषार्थ जीवनधर्मपर लगाया। इस प्रकार महावीरका उद्देश्य आत्मधर्म हुआ तो बुद्धका लोकधर्म। बुद्धने अपना उद्देश्य आत्मधर्मसे विकसित करके लोकधर्म स्थिर किया। इसीकारण वह प्रख्यातभी खूब हुये। बुद्धकी दृष्टि लोक समाजपर लगी-वह सबके थे और उनका आत्मबोधभी सबके लिये था। इस प्रकार उनका धर्म महावीरके धर्मसे सर्वथा-स्पष्टरीतिसे जुदा ठहरता है। महावीरके धर्ममें सर्वोच्च भावना आत्मयोग और आत्मत्यागकी है। प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध- इन दो शब्दोंका अर्थ भेद दोनों महापुरुषोंके भेदको स्पष्ट करता है। प्रत्येक बुद्धका अर्थ यह कि 'जो अपने लिये ज्ञानी हुआ हो।'

---

1. "सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुद्धकित्तिमुणी ॥ ६ ॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ ७ ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥ ८ ॥ —दर्शनसार

विशेषके लिये "भ० महावीर और [illegible] बुद्ध" (सूरत) पृ० ४८-१९ और "जैन बौद्ध तत्वज्ञान" पृष्ठ २००-२०४ देखो।

और बुद्धका अर्थ यहकि '[illegible] पुरुष जो सबके लिये ज्ञानी हुआ हो!' पहला ज्ञानी एकान्तमें रहता हुआ अपनी आत्मशुद्धि करके संतोष मानता है। दूसरा, लोकसमाजमें विचरता और उपदेश देते हुएभी आत्मशुद्धिका प्रयत्न करता है। महावीरको एकान्तवासी प्रत्येकबुद्धकी संज्ञातो दी नहीं जा सकती, क्यों कि वहभी लोकसमाजमें विचरते थे। बुद्धकी तरह महावीरकेभी अनेक शिष्य थे और उनका अपना संघभी था। महावीर संघका विस्तारभी होता रहा है। भारतकी सीमाके बाहर यद्यपि उसका विस्तार अधिक नहीं हुआ, परन्तु भारतमें उसका अस्तित्व आजतक है।... अतः महावीरका स्थान प्रत्येकबुद्धसे ऊंचा है। निस्सन्देह महावीर उन महापुरुषोंमें थे जो आत्म-चिन्तवनपर विशेष ध्यान देते थे और उनके शिष्यगण आत्मोद्धारके लिये विशेष पुरुषार्थ करते थे। इस प्रकार प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध-इन दोनों श्रेणियोंके ऊपर महावीर थे[1]।" वह थेभी एक तीर्थंकर, जिन्होंने योग और ध्यानकी पराकाष्ठाको पहुंचकर मन-वचन-कायकी सीमाओंको जीत लिया था। उन्हें मानवोंके मध्य घूम-फिर कर वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छाही नहीं रही थी। वह यत्र-तत्र निर्मोही होकर विचरते थे। उनकी अमित दया निरन्तर जीवोंको अभय और सुखी बनानेमें कारणभूत थी। धर्मका विश्लेषण मनोविज्ञानके आधारसे करके उन्होंने आत्मज्ञानका उपदेश दिया था। उनके धर्मविज्ञानमें प्रत्येक प्राणी स्वाधीन था—उसे दूसरेका मुह ताकनेकी आवश्यकता न थी। वह स्वय पुरुषार्थ करे और सुख-समृद्धिको पा ले। बाह्य समृद्धिको महावीरने हेय बताया था। इसलिये उनके शिष्य आत्मोद्धारके कार्यमें संलग्न रहते थे। वह अपना आत्मोपकार करते थे और लोककामी। आत्म-स्वातंत्र्य-प्राप्तिका यह मार्ग बुद्धके मध्यमार्गसे अधिक संयममय और श्रमसाध्य था। किन्तु जो व्यक्ति उसके रहस्यको पहिचान लेता था, उसके निकट वह अति सरल और आनन्दका मार्ग था। वह इस जन्मके संयोग-वियोगके दुखोंसे भयभीत होकर वासनासक्त नहीं रहता था और भविष्य जीवनके स्वरूपको समझ कर जन्म-मरणको जीतनेके लिये पुरुषार्थ करता था। महावीरने प्राणीमात्रको बता दिया था, वह क्या है? लोक क्या है? लोकसे उसका सम्बन्ध क्या है? सुख-दुख उसकी आत्म-भ्रान्तिके परिणाम है। इसलिये भ्रान्ति-मुक्त होना उपादेय है। बुद्धदेवने लोक और परलोककी ओर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने संसारके दुखों और उनसे मुक्त होनेके लिये इस जीवनको संयमित बनाने पर जोर दिया। यह जीवन सुधार लिया तो भविष्यभी सुधर जायगा। बात तो ठीक थी, परन्तु बुद्धिकी जिज्ञासाको इतनेसे संतोष नहीं होता। इसलिये महावीरने जीवन-विज्ञानका निरूपण किया—मानवको [illegible] जीवन और भावी जीवनका वैज्ञानिक बोध उन्होंने कराया। इससे मानवके मन और बुद्धि दोनोंको संतोष हुआ और वह इस जीवनके साथही भावी जीवनकोभी सफल बनानेमें समर्थ हुआ।

"मज्झिमनिकाय"के 'सामगामसुत्त'से स्पष्ट है कि जिस समय बुद्ध सामगाममें थे, उस समय ज्ञातृपुत्र महावीर पावासे मुक्त हुये थे[2]। महावीर-निर्वाणसे कुछ समय पश्चात् बुद्ध दिवंगत हुये थे।

---

१. बुद्ध अने महावीर (गुज०) पृ० १८–२०.

२. "एवम् समयम् भगवा सक्केसु विहरन्ति सामगामे, तेन खो पन समयेन निगन्ठो नातपुत्तो पावायम् अधुना कालकतो होति। —मज्झिमनिकाय भा० १ पृ० ९३.

तुम सफल आराधना.......!

(श्री० ज्ञानचन्द्र अलया)

१

तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे !
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे ! !
जब मनुजता त्रस्थ थी, पशुता विकल,
छा रहा था क्षिति-क्षितिज पर एक छल;
उस विषम वातावरणको चीरते,
तब तुम्हीं तो मुस्कराए थे, सबल !
तुम धराके धर्म, युग-अभिमान पूरे ! !
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे !
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे ! !

२

पुण्यकी जागी सुषुप्ता चेतना,
संकुचित, सिमटी सलज्जा वेदना,
मौन माया-मेघ-मद-मसिसे भरे
छट गए पलमें, नया दिनकर तना !
पापके प्रति तुम सदा पाषाण पूरे !
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे !
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे ! !

३

आजभी तुम प्रेरणाके बिन्दुसे,
या निरन्तर साधनाके सिन्धुसे !
चिर-चमत्कृत मन-मर्मोके बीचही;
नव उदित निष्कलङ्क पूरे इन्दुसे !
अन्य सब आधे कि तुम कल्याण पूरे !
तुम सफल आराधना, तुम गान पूरे !
थक न जाए सृष्टि, तुम गति-दान पूरे ! !

म० महावीर और म० गांधी !

(श्री० कामताप्रसाद जैन)

अहमदाबादमें वि० स० १९१६ के वीरजयन्ती उत्सवमें स्व० म० गांधीने पधारकर जो भाषण दिया उसमें आपने कहा था कि "महावीर स्वामीका नाम इससमय यदि किसीभी सिद्धान्तके लिये पूजा जाता हो तो वह अहिंसा है। मैंने अपनी शक्तिके अनुसार संसारके जुदे जुदे धर्मोंका अध्ययन किया है और जो जो सिद्धान्त मुझे योग्य मालूम हुये हैं, उनका आचरणभी मैं करता रहा हू। मैं मानता हू कि प्रत्येक धर्मकी उच्चता इसी बातमें है कि उस धर्ममें अहिंसाका तत्व कितने परिमाणमें है और इस तत्वको यदि किसीनेभी अधिकसे अधिक विकसित किया हो, तो वे महावीर स्वामी थे[1]।" इस प्रकार म० गांधीकी दृष्टिमें म० महावीर अहिंसाके सर्वश्रेष्ठ प्रणेता थे। अब उनकी परस्पर तुलना भला क्योंकी जावे! म० महावीर धर्मयुगके क्रान्तिकारी वैज्ञानिक महापुरुष थे और म० गांधी कल-युगके क्रान्तिमय सुधारवादी नेता! उनकी वाणी कहती है कि म० महावीरसे उन्होंने बहुतकुछ सीखा था। इस युगमें म० महावीरके अनन्य भक्त शतावधानी जैन कवि राजचन्द्रजी हुये हैं। म० गांधीजीने इन कवि राजचन्द्रजीके विषयमें एकबार अहमदाबादमें कहा था कि "मेरे जीवन पर श्रीमद्राजचन्द्रभाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। यूरुपके तत्वज्ञानियोंमें मैं टाल्स्टॉयको पहली श्रेणीका और रस्किन को दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूं; पर श्रीमद्राजचन्द्रभाईका अनुभव इन दोनोंसे बढ़ा-चढ़ा था[2]।" इस प्रकार श्रीमद्राजचन्द्रजीके सम्पर्कमें आकर म० गांधीने म० महावीरकी शिक्षाका परिचय पाया था-इस अध्ययनसे वह ऐसे प्रभावित हुये कि अहिंसाको उन्होंने अपने जीवनका आधार-स्तम्भ बनाया और उसके अनुसार सत्याग्रह संग्राममें विजय पाकर भारतको स्वतंत्र बनाया।

निस्सन्देह जैन धर्माचार्योंका प्रभाव उनके हृदय पर बचपनसे पड़ा था। उनकी माके गुरु जैन धर्मानुयायी बेचरजी स्वामी थे और उनके पिताजीके पासभी जैनधर्माचार्य आते थे, जिनकी धर्मचर्चा वे सुना करते थे[3]। विलायत जानेके प्रसंगमें म० गांधीजीने अपनी "आत्मकथा"में लिखा है कि "माता बोली–'मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर विदेशमें कैसे होगा? मेरी तो अकल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूंगी।' बेचरजी स्वामी मोढ बनियेसे जैन साधु हुए थे। जोशीजीकी तरह सलाहकारभी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा कि मैं इससे तीनों बातोंकी प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने देनेमें कोई हर्ज नहीं। तदनुसार मैंने मांस, मदिरा और स्त्रीसंगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा ली। माताजीने इजाजत दे दी।[4]" इस प्रसंगसे स्पष्ट है कि महात्माजीके अहिंसक

१. जैन जगत्, १ अप्रैल १९२७ से. २. आत्मसिद्धि से.
३ आत्मकथा (प्रथम खंड) अजमेर, पृष्ठ ६८. ४. आत्मकथा (१ भाग) पृ० १६.

जीवनके निर्माणमें म० महावीरकी अहिंसा ही कार्यकारी थी। जैन साधुनेही उन्हें अहिंसा व्रतको आंशिक पालनेका प्रण कराया था। आगे अफ्रीकाके अनुभवोंने गांधीजीको धर्मतत्व समझनेके लिये उत्साहित किया था। उससमय उनको जैन कवि श्रीरायचन्द्रजीसे वस्तुतत्व समझनेमें विशेष सहायता मिली थी। वह स्वयं लिखते हैं कि "कितनेही धर्माचार्योंके सम्पर्कमें मैं आया हू, प्रत्येक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका मैंने प्रयत्न किया है, पर जो छाप मेरे दिलपर रायचदभाईकी पड़ी वह किसीकी न पड़ सकी।...रायचदभाईने अपने सजीव सम्पर्कसे, टाल्स्टॉयने 'वैकुठ तुम्हारे हृदयमें है' नामक पुस्तकद्वारा, तथा रस्किनने 'अन्टु दिस लास्ट–सर्वोदय' नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया[५]।" अफ्रीकाकी कठिनाइयोंके प्रसंगमें म० जीने लिखा है कि "मैंने अपनी दिक्कतें रायचन्दभाईको लिखीं। हिन्दुस्तानके दूसरे धर्मशास्त्रियोंसेभी पत्रव्यवहार किया। उनके उत्तरभी आये। परन्तु रायचदभाईके पत्रने मुझे कुछ शान्ति दी। कविजीके साथ तो (पत्रव्यवहार) अन्ततक रहा। उन्होंने कितनीही पुस्तकें भेजी। उन्हेंभी पढ गया। उनमें 'पचीकरण'–'मणिरत्नमाला'–'मुमुक्षुप्रकरण' योगवासिष्ठ-हरिभद्रसूरिका 'षट्दर्शनसमुच्चय' इत्यादि थे।[६]" अतएव म० जीके शब्दोंसेही म० महावीरके धर्मका जो प्रभाव उनपर पड़ा, वह स्पष्ट है।

नेटाल (अफ्रीका) से म० गांधीने रायचन्द्रजीको एक पत्र लिखकर सत्ताइस प्रश्न आत्मधर्म विषयक पूछे थे, जिनका उत्तर कविजीने तभी अपने पत्रमें दिया था जिसे उन्होंने क्वार बदी ६ स० १८५० को लिखा था। यह प्रश्नोत्तर कवि रायचन्द्रजीकी पुस्तक 'आत्मसिद्धि' के प्रारम्भमें दिये हैं, जो स० १८७५ में बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। इन प्रश्नोत्तरके अवलोकनसे स्पष्ट होता है कि महात्माजीके धर्मसिद्धान्तोंका निर्माण कवि रायचन्द्रजीके उत्तरों पर कितना निर्भर था। उदाहरणतः अहिंसाविषयक प्रश्न लीजिये। म० जीने पूछा था कि "सर्प काटने आवे तो उससमय हमें स्थिर रह कर उसे काटने देना उचित है या मार डालना?" कविजीने उत्तर दिया था कि "इस प्रश्नका मैं यह उत्तर दू कि सर्पको 'काटने दो' तो बड़ी कठिन समस्या आकर उपस्थित होती है। तथापि तुमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' तो फिर इस असार शरीरकी रक्षार्थ उसे मारना क्योंकर उचित हो सकता है जिसकी कि शरीरमें प्रीति है–मोहबुद्धि है। जो आत्महितके इच्छुक हैं उन्हें तो यही उचित है कि वे शरीरसे मोह न कर उसे सर्पके आधीन कर दें। अब तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्महित न करना हो उसे क्या करना चाहिये? तो उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियोंमें परिभ्रमण करना चाहिये। उसे यह उपदेश कैसे किया जा सकता है कि वह सर्पको मार डाले। अनार्यवृत्तिके द्वारा सर्पके मारनेका उपदेश किया जाता है, पर हमें तो यही इच्छा करना चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्नमेंभी न हो।" कहना न होगा कि महात्माजीने अपना अहिंसा सिद्धात इस आर्य-सत्यके आधार पर निर्धारित किया था। यही कारण है कि ता० १५ अगस्त ४७ को जब भारत स्वतंत्र घोषित हुआ और देशमें साम्प्रदायिक विद्वेषाग्नि जोरसे भड़की तो उन्होंने अत्याचारियोंके प्रतिभी दयामय व्यवहार करनेका उपदेश दिया–बदला न लेनेके

५. आत्मकथा १।१५८–१५९.   ६. वही, पृ० २३१–२३३.

लिये सावधान किया। मानव हतबुद्धि होकर भयंकर सर्प बन गया तो क्या उसके अशोभन क्रूर कार्यसे रुष्ट होकर विवेकी अपना आर्यधर्म भुला दे? नहीं! महात्माजीने कहा कि बदलेसे द्वेष नहीं मिटता, बल्कि प्रेम और क्षमासे द्वेषका अन्त किया जा सकता है! भ० महावीरनेभी कहा था कि 'शान्तिसे क्रोधको जीतो।' (उवसमेण हणे कोहं)। इसतरह हम पाते हैं कि म० गांधीद्वारा भ० महावीरके उपदिष्ट सिद्धांतोंकाही प्रसार हुआ था।

म० गांधी खानपानमें पूर्ण शाकाहारी और दिवाभोजी तो थेही, पर परीक्षाके समयमेंभी वह उसपर दृढ रहे। एक बार उनके पुत्र मणिलालजीको तीव्र ज्वर हुआ और डाक्टरने मुर्गीके अंडेका शोरवा एकमात्र औषधि निर्धारित की। औषधित्वमें एक अबोध बच्चेको अंडेका शोरवा देनेमें डाक्टरने कोई हर्ज न समझा और गांधीजीसे ओर देकर कहा कि दीजिये उसे। हिन्दू घरोंमें आये दिन ऐसा होता है। किन्तु म० जीको डाक्टरकी यह बात नहीं रुची। पुत्र मोहमें [illegible] स्वधर्मसे विचलित नहीं हुये। शोरवा नहीं दिया, बल्कि पानीका इलाज किया। मणिलालजी अच्छे हो गये। इस दृढतासे वह खानपानमें अहिंसाका ध्यान रखते थे।

यद्यपि म० जी अपनेको 'वैष्णव' कहते थे, क्योंकि वह जन्मतः वैष्णव थे, [illegible] वह वैष्णवका बड़ा व्यापक अर्थ करते थे; जिसके कारण कहना होगा कि वह सम्प्रदाय और जातिकी सीमासे ऊपर उठ गये थे। वे गुणके पुजारी थे। इसी लिये तो उन्होंने हरिजन उद्धारकी बात कही और भंगी बस्तीमें ठहरे। भ० महावीरके इस उपदेशको उन्होंने मूर्तिमान् बनाया था कि ऊंची जातिमें जन्म लेनेसे कोई ऊंचा नहीं होता। मनुष्य अपने कर्मसे ब्राह्मण होता है, कर्मसे क्षत्रिय होता है, कर्मसे वैश्य होता है और कर्मसे शूद्र होता है।

जैनोंकी तरहही म० जी प्रत्येक जीवको ईश्वररूप मानते थे। वह ईश्वरको मानव हृदयमें विराजमान बताते थे। उन्होंने [illegible] कहा था कि "मेरा ईश्वर तो सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है, निर्भयता ईश्वर है, ईश्वर प्रकाश और जीवनका मूल है। ईश्वर अन्तरात्मा है। ईश्वरके उतनेही नाम हैं जितने पृथ्वीपर प्राणी हैं और इसलिये हम उसे बिना नामकाभी कहते हैं और चूंकि उसके अनन्त रूप हैं इस लिये हम उसे अरूपी कहते हैं।" (नवजीवन, ५.३.२५) श्री समन्तभद्राचार्यजीने अहिंसाकोही परमब्रह्म घोषित किया था।

जैनधर्ममें सत्य-अहिंसादि व्रतोंके साथ सल्लेखना व्रतका विशेष महत्व है। सल्लेखना व्रत समतासे मरनेकी कलाको सीखना है—नश्वर देह और शाश्वत आत्माको पहिचानना है। अतएव उपसर्ग होने परभी—युद्धमें शत्रुसे मर्माहत होने परभी समतापूर्वक मरनेकी कलाको सीख लेना सल्लेखना है। म० गांधीने इस तत्वको माना था और स्पष्ट कहा था कि "मरनेका हुन्नर सीखनेके बादही धर्ममें ताकत पैदा होती है। धर्मके वृक्षको मरनेवालेही सींचते हैं। बहादुर लोग मरते मरतेभी मारनेवालोंकी शिकायत नहीं करेंगे। न उन्हें सजा दिलवानेकी बात सोचेंगे, क्योंकि मारनेवाले सजासे छूट जानेवाले नहीं हैं। हम तो मरते वक्तभी सबका, मारनेवालोंकाभी भला चाहनेकी कोशिश करते हुये

मरेंगे। "[1] जो उन्होंने कहा, वह करके दिखा दिया—अपने हत्यारोंके प्रतिभी वह दयालु रहे। महान् थे वह।

म० महावीरने जिस प्रकार अहिंसाको परम धर्म माना और लोक जीवनमें उसको प्रतिष्ठापित किया, उसी प्रकार उनके पश्चात् म० गांधीने अहिंसाके प्रयोगोंको मानवी जीवनमें सफल बनाया। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया कि "कुछ लोग तलवारसे हिन्दूधर्मको बचानेकी बात करते हैं। वे तलवार लेकर कवायद करते हैं। यह सब क्यों? मारनेके लिये। इस तरह हिन्दूधर्म बढनेवाले नहीं हैं। सत्यसेही धर्म बढता है। " 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः' और 'अहिंसा परमो धर्मः' भी हिन्दूधर्मने सिखाया है[2]। "

म० महावीरको म० गांधीने अहिंसाका महान् उपदेशक माना और उनके अनन्यभक्त कवि राजचन्द्रजीसे धर्मतत्वको समझ कर जीवन सफल बनाया और भारतवासियोंको आत्मस्वातन्त्र्य-भोगका सुख सुलभ कराया। हमारा कर्तव्य है कि सत्य और अहिंसाको जगमें सजीव बनावें।

गुञ्जरित होगा अहिंसक वीरके सन्देशका रव!

(रचयिता: श्री० कल्याणकुमार जैन, 'शशि')

१

विश्वके हित बह रहा हो
प्रेमका अविश्रान्त निर्झर
रोम रोम स्वतंत्र हो बन्दी
न हो जीवन हृदय स्वर!

२

एकता समता क्षमा
सौहार्द्र जागे उत्तरोत्तर
शान्ति जननी शुद्ध हार्दिकता
बहे जगमें निरन्तर!

३

विश्व रक्षाके लिये
अन्तर सदा हो प्रोत्साहित
हो धरामय घोर हिंसा
भावना होकर पराजित!

४

आज हिंसा रह गई
सुधंसे प्रदीपोंका उजाला
विश्वमें होगा अहिंसा
सत्यका फिर बोलबाला!

५

फिर बहायेगा निरर्थक रक्त
मानव का न मानव
गुञ्जरित होगा अहिंसक
वीरके संदेशका रव!

६

जग जलानेके लिये
कोई न फिर दीपक जलेगा
अमर जीवन दीप जल कर
विश्वमें समहर बनेगा!

७

आज हिंसा दानवोंके केन्द्रमें भीषण प्रलय हो!
विश्वके हित 'वीर' के सन्देशकी जगमें विजयहो!!

१–२. "विश्ववाणी"–श्रद्धाञ्जलिअङ्क, पृष्ठ १६२–१६३.

ज्ञातृ-पुत्र महावीरकी जन्मभूमि वैशाली।

(ले० महापंडित श्री० राहुल साकृत्यायनजी, प्रयाग)

[प्रस्तुत लेखमें महापंडित राहुल साकृत्यायनने जो प्रकाश भगवान् महावीर के जन्म स्थानके विषयमें डाला है, उस पर जैनोंको विशेष ध्यान देना उचित है। मुजफ्फरपुर जिलेका बसाढ़ नामक ग्रामही प्राचीन वैशाली और कुंडग्राम प्रमाणित हुआ है। वसाढकी खुदाईसे ऐसे चिन्ह मिले हैं, जिनसे सिद्ध है कि वैशाली यहीं पर आबाद थी। चीनसे जो यात्री आये उन्होंनेभी अपने यात्राग्रन्थोंमें इसी स्थान पर वैशालीकी स्थिति सूचित की है। जैन शास्त्रोंसेभी यह सिद्ध होता है कि वैशालीके पासही भगवान् महावीरकी जन्मभूमि कुण्डग्राम अवस्थित थी। बसाढके खण्डहरोंमें वैशाली, कुंडग्राम और वणीय ग्रामके स्मृति-चिन्ह रूप अवशेष बसाढ, बसुकुंड और बनिया, नामके ग्राम मिलते हैं। जैनशास्त्रोंके निम्न लिखित अवतरणोंसे वैशाली और कुंडग्राम विदेह देशमें अवस्थित प्रमाणित होते हैं।

"तएणं से कूणिएराया............. पयमाणे पयमाणे अगजणं जणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नयरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए। —निरयावलियाओ।

इससे सिद्ध है कि अंग देश (बिहार प्रान्तका भागलपुर जिला) से चल कर विदेह देशमें पहुंचा जाता था जहां वैशाली अवस्थित थी। 'हरिवंश पुराण' सेभी स्पष्ट है कि कुंडग्राम विदेह देशमें था और यहीं राजा चेटककी राजधानी वैशाली थी। (विदेह इति विख्यातः स्वर्ग खंडसमः श्रिय.।...... सुखांभ. कुंडग्रामाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरं।...... चेतस्चेटक राजस्य यास्ताः सप्तशरीरजाः क्षतिलेहा कुलं चकुस्ताश्चाधा प्रियकारिणीं। इत्यादि) श्रीपूज्यपाद आचार्यभी कुंडपुरको विदेह देशमें बताते हैं (भारतवास्ये विदेह कुण्डपुरे) इन और ऐसे अन्य उल्लेखोंसे वैशाली और कुंडग्रामका विदेह देशमें अवस्थित होना स्पष्ट है। बिहारवासियोंने बसाढको भगवान महावीरकी जन्मभूमि मान कर उसका उद्धारकार्य प्रारम्भ कर दिया है और महावीर जयन्तीके दिन वहां उत्सवभी मनाया जाता है। किन्तु खेद है कि जैनी अभीतक यहभी निश्चित नहीं कर सके हैं कि भगवान महावीरकी जन्मभूमि कहाँपर है? राजगृह और नालन्दाके खंडहरोंके पास बना हुआ बड़ागांव नामक स्थान कदापि भगवान महावीरका जन्मस्थान नहीं हो सकता है। अतः जैनोंको चाहिये कि बसाढमेंही भगवान महावीरके जन्मस्थान तीर्थकी स्थापना करें। महापंडित राहुलजीके कथनको उन्हें व्यवहारिक रूप देना उचित है। —का० प्र०]

ईसा पूर्व पांचवीं छटीं शताब्दिमें वैशालीका गणराज्य बहुतही शक्तिशाली राष्ट्र था। वह उत्तरीय भारतके मगध, कौशल, वत्स और अवन्तीके विशाल राज्योंसे शक्तिमें समकक्षता करता था। समय आया, जब राजतन्त्रके प्राबल्यके सामने गणों (प्रजातन्त्रों) का विनाश हुआ; यद्यपि ये काम होनेमें शताब्दियां लगीं और भारतका अन्तिम गण-तन्त्र यौधेय ई० चौथी शताब्दिके अन्तमें लुप्त हुआ। अपने जीवनकी पिछली तीन शताब्दियोंमें यौधेय गणका वही उच्च स्थान था, जोकि अपने समयके वैशालीके गणतन्त्रका था। गुप्तों द्वारा यौधेय गणका जब उच्छेद हुआ, तौर यौधेय अपने नगरों अग्रोहा, रोहत, सुघ्नि आदि से निकलकर जहां तहां बिखर गए, और अग्रवाल, खण्डेलवाल,

ओसवाल, बर्न-वाल, रोहतगी (रस्तोगी) आदि नामोंसे प्रख्यात हुए। आजभी यौधेय (हरियाना) की भूमिसे निकली इन जातियोंमें ज्ञातृ-पुत्र महावीरकी शिक्षाका आचरण या धर्मके रूपमें अस्तित्व पाया जाता है। महावीर एक बलशाली जनसत्ताक गणमें पैदा हुए और दूसरे गणसे निकले लोगोंमें आज उनका धर्म सुरक्षित है। सोलह शताब्दियों तक निरंकुश स्वदेशी विदेशी राजाओंके जुयेके नीचे दबता पिसता भारत आज फिर एक विशाल प्रजातन्त्रके रूपमें परिणत हो रहा है। गण-तन्त्री धर्म-वाले हम बौद्धों और जैनियोंके लिए यह अभिमानकी बात है।

यह आकस्मिक बात नहीं है, कि बुद्ध और महावीरको जन्म देनेवाले राजतन्त्र नहीं, प्रजा-तन्त्र थे। बुद्ध शाक्योंके प्रजातन्त्रमें पैदा हुए, और महावीर वैशालीके लिच्छवियोंके प्रजातन्त्रमें। लेकिन यह कितने आश्चर्यकी बात है, कि महावीरके अनुयायी आज उनकी जन्मभूमिको भूल गए, और वह उसे लिछुवार (मुंगेर जिला) में ले गए। लिछुवार अंग देशमें है, लेकिन जैन ग्रन्थोंके अनुसार महावीरको वैशालिक कहा गया। "विदेह जच्चे, विदेह सुकमाले" का वचन बतलाता है, कि उनका जन्म विदेह देशमें हुआ था। विदेह और वृजि (वैशाली वाला प्रदेश) आपसमें वैसाही सम्बन्ध रखते थे, जैसा कोसल और शाक्य। एकबार कोसलराज प्रसेनजितने बुद्धसे कहा था "भगवानभी कोसलक हैं और मैंभी कोसलक हूं" वस्तुतः गंगा-गण्डकी (तत्कालीन मही) कोसी और हिमालयके बीचके सुन्दर उर्वर समतल भूमिका नाम विदेह था। हां, भाषाकी दृष्टिसे एक होते हुयेभी किन्हीं राजनैतिक कारणोंसे इस भूमिका यह भाग जो आज मुंगेर और भागलपुर जिलोंके गंगाके उत्तरीय अंशके रूपमें परिणत हो गए हैं—जो अंगुत्तराप (आप=गंगाके उत्तर वाला अंग) कहा जाता था। यही प्रदेश गुप्तकालमें तीर भुक्ति (नदियोंके तीर वाली भुक्ति=सूबा) कहा जाने लगा, जिसकाही अपभ्रंश आजका तिर्हुत शब्द है। विदेहकी राजधानी मिथला नगरी थी। काशी था देशका नाम, किन्तु पीछे उसकी राजधानी वराणसी (वराणस, बनारस) का पर्याय काशी बन गया। यही बात विदेहके साथ उलटी तौरसे हुई और वहां राजधानी मिथिलाके नामने सारे देशको अपना नाम दे दिया। इसी विशाल विदेह भूमिका पश्चिमी भाग था लिच्छवि गणका वृजि देश, जिसकी राजधानी थी वैशाली। इस प्रकार ज्ञातृपुत्र महावीर 'वैशालिक' भी थे, 'वैदेहिक' भी थे।

भगवान महावीरको ज्ञातृ-पुत्र या ज्ञातृ-सन्तान कहा गया है। पालीमें ज्ञातृका रूप 'नात' बन गया है। नातिका (ज्ञातृका) नामका एक बड़ा ग्राम वैशाली प्रजातन्त्रमें था। वैशाली (बसाढ) और उसके आसपास अबभी एक प्रभावशाली जाति रहती है, जिसे जथारिया कहते हैं। यह भूमिहार [illegible] पछिमा ब्राह्मण जातिकी एक शाखा है। जहां छपरा, गोरखपुर, बलिया आदि जिलोंमें भूमिहारके लिए ब्राह्मणका प्रयोग आश्चर्यके साथ सुना जाता था, वहां दरभंगा, भागलपुर आदिके मैथिल ब्राह्मण भूमिहार ब्राह्मणोंको पछिमा ब्राह्मणही नहीं कहते, बल्कि उनके साथ रोटी बेटीके सैकड़ों उदाहरण मिल सकते है। जथरिया शब्द ज्ञातृसे अपभ्रंश होकर बना है। इसके सिद्ध करनेके लिए बहुत परिश्रमकी आवश्यकता नहीं—ज्ञातृसे जातर फिर जाथर—उपरान्त जतरिया, जथरिया। लेकिन कितने जथरियों और उनसेभी अधिक भूमि-हारोंकी इस पर घोर आपत्ति है। वह इसलिए, कि आज

के जथरिया भूमिहार होनेसे जब कि ब्राह्मण होनेका दावा करते हैं, वहाँ प्राचीन ज्ञातृ क्षत्रिय थे। उनके ध्यानमें नहीं आता कि ऐसाभी समय था, जब कि आर्योंमें ब्राह्मण-क्षत्रियका भेद न था। एकही पिताके दो पुत्रोंमें एक राष्ट्ररक्षक खड्गहस्त क्षत्रिय होता और दूसरा देव अर्चक कुशपाणि ब्राह्मण। वस्तुतः ईसा पूर्व पन्द्रहवीं सदीमें कुरु पंचालकी भूमिमें ब्राह्मण क्षत्रिय भेदका बीजारोपण हुआ। यही दोनों जनपद थे, जिन्होंने सर्व प्रथम राजतन्त्रको स्वीकार किया। प्रजातन्त्रोंने बहुत पीछे तक इन भेदोंको स्वीकार नहीं किया, न ब्राह्मणोंकी प्रधानता तथा उनके जाति श्रेष्ठ होनेकोही। ज्ञातृ इसी तरहका प्रजातन्त्रीय आर्य थे। आयुध जीवी आर्य होनेसे उन्हें क्षत्रियभी कहा जाने लगा था, किन्तु वे वस्तुतः उन आर्योंका प्रतिनिधित्व करते थे, जिनमें ब्राह्मण क्षत्रियका भेद न हो पाया था। इसलिए जथरियोंको ज्ञातृ कहे जानेसे एक जातिमेंसे उतरनेका भय नहीं होना चाहिए। फिर प्रजा-तन्त्रीय भारतमें तो यह भय औरभी अनावश्यक है जब कि हमें निश्चित जान पड़ता है, कि आगे सभीकी रोटी बेटी एक होने जा रही है![1]

जथरिया तरुणोंमें तो कितने स्वीकार करने लगे हैं, कि भ० महावीर उन्हींके वंशके थे। लेकिन हमारे जैन भाई तो अभभी इसे माननेके लिए तैयार नहीं हैं, कि वैशाली (बसाढ़) ही वह नगरी थी जिसके उपनगर कुण्डग्राममें वर्द्धमानने जन्म लिया था! जिन्होंने मानव दुर्वृत्तियों पर जय प्राप्त कर 'जिन्' बन—अपनी महती वीरताके लिए महावीर नाम पा प्रसिद्ध हुए। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जैन परम्परामें भ० महावीरके निर्वाण स्थान और जन्म स्थान दोनोंको भुला कर उनकी जगह नये स्थानोंको स्वीकार किया। कुण्ड ग्रामको वैशाली और विदेहसे हटा कर अंगमें (लिछुआर) और निर्वाण स्थान मल्लोंकी पावा (जो पडरौनाके पास पपौर हो सकती है) से हटा कर मगधके आधुनिक स्थान पावापुरीमें ले गए।

वैशालीके निवासी जाग्रत हुए हैं। भारतीय प्रजातन्त्रमें अपने समयके अत्यन्त बलशाली वैशाली प्रजातन्त्रके ऐतिहासिक गौरवको फिरसे सजीव रूपमें हमारे सामने लानेके लिये वह प्रयत्न कर रहे हैं। पाँच वर्षसे वे महावीर जयन्तीका मेला लगाने लगे हैं, और चैत मासके शुक्ल पक्षीय त्रयोदशीको हजारों नर नारी वहाँ इकट्ठा हो अपने पुण्य इतिहासके प्रति श्रद्धा प्रसून अर्पित करते हैं। भारतीय प्रजातन्त्रोंमें यही एक प्रजातन्त्र था, जिसकी शासन व्यवस्था और पार्लामेन्टरी कार्यवाही हमें मालूम है, क्योंकि बुद्ध इस शासन प्रणालीसे इतने प्रभावित हुए थे, कि अपने संघके नियमोंके बनानेमें उन्होंने वैशाली व्यवस्थाका आश्रय लिया था।

जिस तरह बुद्धकी जन्मभूमि लुम्बिनीको अशोकसे लेकर आज तकके बौद्ध न भुलासके, उसी तरह जैन बन्धुओंको महावीरकी जन्मभूमि वैशालीको भुलाना नहीं चाहिए।

---

1. यह भविष्य कथन है। —का० प्र०

भगवान् महावीरकी निर्वाण-भूमि पावाकी स्थिति।

(ले० डॉ० राजबली पाण्डेय, एम ए., डी. लिट्., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

[भ० महावीरके निर्वाणक्षेत्र पावाके विषयमें जैनेतर विद्वानोंके विभिन्न अभिमत प्रगट हो रहे हैं। प्रो० राजबलिजीका प्रस्तुत लेखभी उस दिशामें एक उल्लेखनीय नमूना है। विद्वानोंके [illegible] अभिमत विचारणीय अवश्य हैं, परंतु प्रकृत विषयके निर्णायक नहीं माने जा सकते। जबतक अनुमानित स्थानों पर खननकार्य न हो और उससे कोई ऐसा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो जिससे यह सिद्ध होवे कि पावा यहाही थी, तबतक जैन मान्यताको अविश्वनीय नहीं ठहराया जा सकता। जैसी राजगृह और नालन्दाके खण्डहरोंसे कुछ दूर पर अवस्थित पावापुरको भ० महावीरका निर्वाणक्षेत्र कई सौ वर्षोंसे मानते आ रहे हैं। खेद है, जैनोंने वहांके पुरातन चिन्होंको मिटाकर नये नये मंदिर निर्माण कर दिये हैं। इस लिये विद्वानोंको शंका होती है। किन्तु डॉ० जैकोबी और डॉ० लाहाने इस स्थानकोही पावा माना था। बौद्ध ग्रन्थ 'अट्ठकथा' (पपञ्चसूदनी २, १, ४) में लिखा है कि जब भ० महावीर नालन्दामें थे, तब वह अस्वस्थ हो गये थे और उनके शिष्य उन्हें पावा ले गये थे। वहां पहुंच कर वह थोडे दिनों पश्चात् दिवंगत हो गये। बौद्ध ग्रन्थके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि पावा पहुंचनेके पहले भगवान् नालन्दामें थे। अतः [illegible] वहांसे बहुत दूर न जाकर निकटके नगरमेंही गये जचते हैं। वर्तमान पावा नालन्दाके पास है। अतः इस पावापुरको प्राचीन पावा मानना कुछ अप्राकृत नहीं भासता। —का० प्र०]

इस बातको सभी प्राचीन लेखक और आधुनिक ऐतिहासिक मानते हैं कि भगवान् महावीरका निर्वाण पावा (अपापा) नगरीमें हुआ था। श्रद्धालु जैन आजकल जिस स्थानको उनकी निर्वाण-भूमि समझ कर तीर्थयात्रा करने जाते हैं वह पटना जिलान्तर्गत राजगिर (राजगृह) के पास है। प्रस्तुत लेखकके मतमें आधुनिक पावाकी प्रतिष्ठा भावनाप्रसूत, पीछे स्थानान्तरित और कल्पित है। वास्तविक पावा उससे भिन्न और दूरस्थ थी।

मूल ग्रंथोंमें भगवान् महावीरके निर्वाणके सम्बन्धमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं :—

(१) जैन कल्पसूत्र और परिशिष्टपर्वनके अनुसार भगवान् महावीरका देहावसान मल्लोंकी राजधानी पावामें हुआ था। मल्लोंकी नव शाखाओं (मल्लकि) ने निर्वाणस्थान पर दीपक जला कर प्रकाशोत्सव मनाया।

(२) बौद्ध ग्रंथ मज्झिम-निकायमें यह उल्लेख है कि जिस समय भगवान् बुद्ध शाक्य देशके सामग्राममें विहार करते थे उस समय निगंठ नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र) अभी अभी पावामें दिवंगत हुये थे (पासादिक सुत्तान्त)।

(३) बौद्ध ग्रंथ अट्ठकथासेभी इस बातकी पुष्टि होती है कि मरनेके समय भगवान् महावीर नालन्दासे पावा चले आये थे।

ऊपरके वर्णनोंसे नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) जिस पावामें भगवान् महावीरका निर्वाण हुआ था [illegible] मल्लोंकी राजधानी थी।

(२) उपर्युक्त पावा शाक्य देशके निकट थी; दूसरे वर्णनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है।

(३) जिस तरह भगवान् बुद्ध निर्वाणके पूर्व राजगृहसे चल कर कुशीनगर पहुँचे थे उसी तरह भगवान् महावीरभी नालन्दासे चल कर पावा आये थे। ऐसा जान पड़ता है कि मल्ल-राष्ट्रसे दोनों महापुरुषोंका घनिष्ठ स्नेह था; इसी लिये दोनोंने मल्लोंकी राजधानियाँ कुशीनगर और पावाको अपने निर्वाणके लिये चुना।

अब प्रश्न यह है कि मल्लोंकी राजधानी पावा कहाँ पर स्थित थी। यह निश्चित है कि बौद्ध साहित्यमें जिन गणतन्त्रोंका वर्णन मिलता है उनमेंसे पावाके मल्लोंकाभी एक गणतन्त्र था। मल्लोंकी दो मुख्य शाखायें थीं—(१) कुशीनगर (कुशीनारा) के मल्ल और (२) पावा (अपापा) के मल्ल। मल्लोंकी नव छोटी छोटी शाखाओंकाभी वर्णन मिलता है जिनको मल्लकि (लघुवाचक) कहते थे। इनके सभी वर्णनोंसे यही निष्कर्ष निकलता है कि मल्लोंकी सभी शाखायें निकटस्थ, पड़ोसी और एकही संघमें संघटित थी। अतः मल्लोंकी दूसरी प्रमुख शाखाकी राजधानी पहली प्रमुख शाखाकी राजधानी कुशीनगरके पास होनी चाहिये। अब यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो गया है कि कुशीनगर देवरिया जिलान्तर्गत (गोरखपुर जिलासे निकला हुआ एक नया जिला) कसया नामक कसबेके पास अनुरुधवाके डीहों पर स्थित था। बौद्धकालीन गणतन्त्र बड़े बड़े राज्य नहीं थे। गण-राज्योंमें उनकी राजधानी और उसके पड़ोसका प्रदेश सम्मिलित होता था। ये यूनानके नगर-राष्ट्रोंसे संभवतः कुछ बड़े थे। इस परिस्थितिमें पावा कुशीनगरसे बहुत दूर न हो कर उसके पासही कहीं स्थित होनी चाहिये।

बौद्ध साहित्यमें पावाकी स्थिति और दिशाके सम्बन्धमें निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं :—

(१) प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ परिनिब्बाण-सुत्तान्तमें परिनिर्वाणके पूर्व भगवान् बुद्धकी राजगृहसे कुशीनगर तककी यात्राके मार्ग और चारिका (भ्रमण) का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनु-सार भगवान् बुद्ध राजगृहसे नालन्दा, नालन्दासे पाटलिपुत्र, पाटलिपुत्रसे कोटिग्राम, कोटिग्रामसे नादिका, नादिकासे वैशाली, वैशालीसे भण्डग्राम, भण्डग्रामसे हस्तिग्राम, हस्तिग्रामसे अम्बग्राम, अम्ब-ग्रामसे जम्बुग्राम, जम्बुग्रामसे भोगनगर, भोगनगरसे पावा और पावासे कुशीनगर गये। इस यात्रा-क्रममें पावा भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें आती है। एक बात और ध्यान देनेकी है। भगवान् बुद्ध रक्तातिसारसे पीड़ित होते हुयेभी पावासे कुशीनगर पैदल एक दिनमें विश्राम करते हुये पहुँच गये थे। अतएव पावा कुशीनगरसे एक दिनकी हल्की यात्राकी दूरी पर स्थित होनी चाहिये।

(२) दूसरे बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपातके सिद्दिगयसुत्तमेंभी एक यात्राका वर्णन आता है। इसके अनुसार हेमक, नन्द, दूभय आदि अनेक साधु अलकसे चले थे और उनके मार्गमें क्रमशः निम्न-लिखित नगर पड़े :—

कोसम्बिञ्चापि साकेतं सावत्थि च पुरुत्तमं।
सेतव्य कपिलवत्थुं कुसिनारञ्च मंदिरं॥
पावञ्च भोगनगरं वेसालिमागधं पुरं।

ऊपरके अवतरणसेभी स्पष्ट है कि वैशालीकी ओरसे पावानगरी भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें पड़ती थी।

इन सब बातोंको ध्यानमें रख कर जो सड़क कुशीनगरसे वैशालीकी ओर जाती है उसी पर पावानगरीको ढूँढना चाहिये। इसी रास्ते पर कुशीनगरसे लगभग ९ मीलकी दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशामें सठियाँव फाजिलनगरके अवशेष (डेढ़ मील विस्तृत) हैं। ये अवशेष भोगनगर (वर्तमान बदराँव) और कुशीनगरके बीचमें पड़ते हैं। महापरिनिब्बाण-सुत्तान्तमें यहभी दिया हुआ है कि पावा और कुशीनगरके बीच दो नदियाँ पड़ती थी। ये नदियाँ कुन्वा अथवा सोना और घाघी (प्राचीन ककुत्था) के रूपमें अवभी वर्तमान हैं। कार्लायल नामक पुरातत्त्वविद्ने १८७५-७६ में गोरखपुर जिलेका पुरातात्त्विक निरीक्षण किया था। उसनेभी साहित्यिक वर्णन और भौगोलिक स्थितिके आधारपर इन्हीं सठियाँव-फाजिलनगरके अवशेषों पर प्राचीन पावानगरीकी स्थिति निश्चित कीथी। अतः सभी स्थितियों पर विचार करते हुये पावानगरीकी स्थिति यहीं निश्चित जान पड़ती है। फाजिलनगर नाम नया है और यह नाम मुसलिम शासनके समय पड़ा था। यहाँ एक टीले पर एक मुसलमान साधुकी समाधि है। परन्तु इसके पासहीमें पुराने विहारोंके भग्नावशेष और जैन मूर्त्तियोंके टुकड़े पाये गये हैं जो इस बातकी ओर संकेत करते हैं कि इस स्थानका सम्बन्ध बौद्ध और जैन दोनों धर्मोंसे था। और इससे लगा हुआ एक विस्तृत नगर था। दुर्भाग्यवश यहाँ खनन-कार्य अभी बिल्कुल नहीं हुआ है। खोदाई होने पर इस स्थानका इतिहास और स्पष्ट हो जायेगा।

कुछ विद्वानोंने पावाकी स्थिति अन्यत्र निश्चित करनेकी चेष्टा की है। कनिंघमने पावाको वर्तमान पडरौना (देवरिया जिलेमेंही) और महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने पपउर (रामकोला स्टेशनके पास) से मिलानेका प्रयास किया था। इस अभिमतमें थोड़ेसे शब्द साम्यके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं। ये दोनों स्थान कुशीनगरसे पश्चिमोत्तर कपिलवस्तु और वहाँसे श्रावस्ती जानेवाले मार्गपर स्थित हैं, जो वैशाली जानेवाले मार्गकी ठीक उलटी दिशामें हैं। अतः पडरौना और पपउर किसी तरहभी पावा नहीं हो सकते। काशीप्रसाद जायसवालने अपने हिन्दू पॉलिटी नामक ग्रन्थमें, प्राचीन राज्योंकी स्थिति और भूगोल पर ध्यान न देते हुये, मल्लोंके राज्यको कुशी-नगरसे पटना तक विस्तृत और वर्तमान पावाकोही अस्पष्ट रूपसे प्राचीन मल्लोंकी राजधानी पावा मान लिया था। यह मत सर्वथा भ्रान्त था। ग्रन्थके दूसरे संस्करणमें उन्होंने इस मतका परित्याग कर दिया।

वर्तमान पावाको मल्लोंकी राजधानी और भगवान् महावीरकी निर्वाणभूमि माननेमें कई प्रबल आपत्तियाँ हैं :

(१) भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दोनोंके समकालीन मगधके राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु थे। मगध गंगाके दक्षिण सम्पूर्ण दक्षिणी विहार पर विस्तृत था। उस समय उसकी राजधानी पाटलिपुत्र नहीं, अपितु राजगृह थी। अजातशत्रु बड़ाही महत्वाकांक्षी, साम्राज्यवादी और गणतन्त्रोंका शत्रु था। उसने गंगाके उत्तरमें स्थित वज्जिसंघ पर आक्रमण कर १० वर्षके युद्धके बाद उसको परास्त किया। इस युद्धमें वज्जिसंघकी ओरसे मल्लभी लड़े थे। अतः राजगृहसे सटी पावापुरी का होना राजनैतिक दृष्टिसे बिल्कुल असंभव था। मगध और काशी दोनों पर अजातशत्रुका शासन था। अतः गंगाके दक्षिणमें मल्लोंका राज्य किसी प्रकारभी नहीं हो सकता था।

(२) महापरिनिब्बाण-सुत्तान्तसे तत्कालीन भूगोल और उस समयके मार्गोंकी दिशायें स्पष्ट मालूम होती हैं। राजगृह (दक्षिण विहार) से चल कर मार्ग गंगाको पाटलिपुत्र पर पार करता था और इसके बाद वैशाली (मुजफ्फरपुर उत्तर विहार) पहुँचता था। यहाँसे पश्चिमोत्तरमें चल कर भोगनगर और कुशीनगरके बीचमें उसी मार्ग पर पावानगरी पड़ती थी। भगवान् बुद्ध बीमारीकी अवस्थामेंभी पावासे चल कर एक दिनमें कुशीनगर पहुँचे थे, अतः पावा कुशीनगरके पास होनी चाहिये। राजगृह कुशीनगरसे लगभग १०० मील दूर है; इस लिये इसके पास पावा नहीं हो सकती। लिच्छवियोंके बाद पावाके मल्लोंमेंही भगवान् महावीरका अधिक आदर था। अतः वे नालन्दा छोड़ कर इसी मार्गसे पावामें अपना शरीर छोड़नेके लिये गये थे। अतः वास्तविक पावाको दक्षिण विहारमें नालन्दाके पास खोजना व्यर्थ है। आजकलकी कल्पित पावापुरी नालन्दा-राजगृहके बीच बड़गाँवमें है। संभव है भगवान् महावीरकी चारिकासे वह स्थान कभी पवित्र हुआ हो, अथवा उनकी अंतिम यात्रा यहाँसे प्रारम्भ हुई हो, और वास्तविक पावाके मुसलमानों द्वारा ध्वस्त होने पर, पीछेसे उसको निर्वाणभूमिका महत्व मिल गया हो।

(३) वर्तमान पावापुरीमें प्राचीन नगर अथवा धर्मस्थानके कोई अवशेष नहीं मिलते हैं। वर्तमान मंदिर आधुनिक हैं। यह बात इस स्थानकी प्राचीनतामें सन्देह उत्पन्न करती है। वर्तमान पावा सम्भवतः चौदहवीं शताब्दीमें स्थानान्तरित हुई। जैन जनताने प्रारम्भमें मुसलिम आतंक और पीछे अपने अज्ञानके कारण वास्तविक पावाका परित्याग करके नवीन पावाकी कल्पना की। किन्तु भय और कल्पना वास्तविकताको ढक नहीं सकते। वास्तविक पावा सठियाँव-फाजिलनगरके खंडहरोंमें अबभी सोयी पड़ी है।

भ० महावीरका निर्वाणोत्सव और दीपमालिका !

(ले० श्री. प्रो० परशुराम कृष्ण गोडे, एम्. ए., क्यूरेटर भाण्डारकर ओ. रि. इन्स्टीट्यूट, पूना)

[श्री. प्रो. परशुराम कृष्ण गोडे, एम्. ए. ने दीपमालिका त्यौहारके विषयमें उल्लेखनीय गवेषणाकी है और अपने शोध-परिणामोंको वह समय-समय पर अंग्रेजीकी विविध शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहे हैं। प्रस्तुत लेखमें उनकी अबतककी शोधका परिचय और परिणामका सार उपस्थित किया जा रहा है। पाठकगण देखेंगे कि दीपावली विषयक भारतीय साहित्यमें सर्वप्राचीन लिखित साक्षी 'कल्पसूत्र' की है, जिसे श्वेताम्बर जैनी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके गुरु भद्रबाहु आचार्य द्वारा रचा गया बताते हैं। उसमें भ० महावीरके निर्वाणोपलक्षमें लिच्छवि-मल्लकि आदि राजाओं द्वारा दीपमालिका मनानेका उल्लेख है। श्री जिनसेनाचार्यजीनेभी 'हरिवंशपुराण' (शक सं० ७०५) में यही लिखा है और इस निर्वाण दीपोत्सवके कारण भारतमें 'दीपालिका' (दिवाली) त्यौहार प्रचलित हुआ बताया है।[1] इसी बातको श्री गुणभद्राचार्यने 'उत्तरपुराण' (११ पर्व) में दुहराया है।[2] अतः जैनमान्यताके अनुसार दीपमालिका या दिवालीका त्यौहार भ० महावीरके निर्वाणोत्सवका प्रतीक ठहरता है। साहित्यिक उल्लेखोंमें यही सर्वप्राचीन है। यक्षरात्रि, सुखरात्रि, दीपालिका आदि रूपमें सम्भवतः वीरनिर्वाण-दीपोत्सव उपरान्त कालमें परिवर्तित किया जाकर माना जाने लगा। विद्वानोंको इस विषयमें शोध करके वस्तुस्थिति स्थापित करना अपेक्षित है। —का. प्र.]

मानवके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमें त्यौहारोंका प्रभाव अनूठा है, किन्तु उनके उद्गमका इतिहास कल्पनाके आलोकमें छिपा रहता है। भारतमें अनेक मत-मतान्तर हैं और अनेक धार्मिक एवं अन्य त्यौहारभी हैं। किन्तु उनका परिचय ऐतिहासिक नहीं, बल्कि वर्णनात्मक मिलता है। श्रीभागवेदीने मराठी भाषामें "आर्यांच्या सणांचा इतिहास" नामक पुस्तक ३७० पृष्ठोंमें लिखी है,

---

१. चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः ॥ १६ ॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन्धनवद्विबन्धनः।
विबंधनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुबंधनं ॥ १७ ॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया।
तदास्म पावा नगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥ १८ ॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेंद्रनिर्वाण विभूति भक्तिभाक् ॥ २१ ॥
—हरिवंश पुराण, षट्षष्टितमः सर्गः।

२. 'उत्तरपुराण' में केवल देवेन्द्रोंद्वारा निर्वाणोत्सव मनाने का उल्लेख है।

परन्तु उसमें भी हिन्दू त्योहारोंका ऐतिहासिक विवेचन नहीं मिलता। 'ऋग्वेदी' ने भारतीय त्योहारोंका निम्न प्रकार वर्गीकरण किया है :—

(१) ऋतु अपेक्षित त्योहार : संवत्सर प्रतिपदा, अक्षयतृतीया, चातुर्मास, श्रावणी, नारली पौर्णिमा, विजयादशमी, दीपावली, धात्रीपूजन, मकरसंक्रांति, वसंतपंचमी, होली व शिमगा।

(२) ऐतिहासिक त्योहार : श्रीरामनवमी, परशुरामजयंती, दशहरा, कृष्णजन्माष्टमी, व वामनद्वादशी।

(३) शैव त्योहार : त्रिपुरी पौर्णिमा, महाशिवरात्रि।

(४) वैष्णव त्योहार : नृसिंहजयन्ती, महाएकादशी, अनन्तचतुर्दशी, वैकुण्ठचतुर्दशी, व दोलोत्सव।

(५) कौटुम्बिक त्योहार : वटसावित्री, मंगलागौरी, पिठोरी अमावस्या, हरितालिका, व ऋषिपंचमी।

(६) शाक्त त्योहार : गौरी उत्सव, ज्येष्ठा गौरी, ललिता पंचमी, सरस्वती, देवी नवरात्र, व चंपाषष्ठी।

(७) सौर त्योहार : रथसप्तमी।

(८) गाणपत्य त्योहार : गणेशचतुर्थी।

इन त्योहारोंमें श्रीऋग्वेदीने बौद्ध और जैन त्योहारोंकी गणना नहीं की है। बौद्धोंमें वैशाखी-पूर्णिमाकी विशेष मान्यता है। जैनोंके प्रमुख पर्व और त्योहार निम्न प्रकार हैं :—

(१) श्रीमहावीर जयन्ती (चैत्र शु० त्रयोदशी), (२) अक्षयतृतीया, (३) श्रुत-पंचमी–ज्येष्ठ शु० ५, (४) श्रावणी प्रतिपदा–वीरशासन जयंती, (५) रक्षाबन्धन–श्रावणी-पूर्णिमा, (६) पर्यूषण-पर्व (भाद्रपमास), (७) क्षमावणी–अश्विन प्रतिपदा, (८) वीर-निर्वाण–दीपमालिका, (९) अष्टान्हिकापर्व (कार्तिक-फाल्गुण-आषाढ), (१०) ऋषभ-निर्वाण, (११) वसंतपंचमी आदि.

प्रस्तुत लेखमें दीपमालिका त्योहारके विषयमें ऐतिहासिक शोधकी दृष्टिसे विचार करना अभीष्ट है। दीपमालिका त्योहार जैनीभी मानते हैं और वैष्णवादि हिन्दूभी। इस त्योहारमें जैनी और हिन्दू प्रायः एक समान रीति रस बरतते हैं। अतः हमारे सम्मुख दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न तो यह कि जैन और हिन्दू दिवालीमेंसे कौन प्राचीन है? और दूसरा प्रश्न यह है कि क्या यह मानना ठीक है कि प्राचीन दिवालीका प्रभाव अर्वाचीन पर पड़ा है? इन प्रश्नोंका समाधान ऐतिहासिक साक्षीके आधारसेही किया जा सकता है। अतएव दिवाली त्योहारके उद्गम और विकासका इतिहास ढूंढना आवश्यक है।

यूं तो दिवालीके त्यौहारकी उत्पत्तिके विषयमें अनेक जनश्रुतियां मिलती हैं, परंतु उनकी पुष्टि किसी लिखित अथवा उत्कीर्ण साक्षीसे होना आवश्यक है। श्री. बी. ए. गुप्तेने दिवाली विषयक लगभग आधीदर्जन जनश्रुतियोंका उल्लेख एक लेखमें किया है।[1] उसका निष्कर्ष दिवालीकी उत्पत्ति निम्नलिखित छै रूपमें व्यक्त करता है:—

(१) ऋतुपरिवर्तनके उपलक्ष्यमें यह त्यौहार चला।

(२) शालि-धान्यकी फसलका अन्त होता इस कारण मनाया गया।

(३) दूसरी फसलके लिये खाद डालकर खेत तैयार करनेका समय-प्रतीक।

(४) सूर्यके तुला राशि युक्त होनेके उपलक्ष्यमें।

(५) रामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी स्मृतिमें।

(६) विक्रमादित्यके संवत्-प्रवर्तनका दिवस होने रूपमें।

इन जनश्रुतियोंमें अन्तिम दोका ऐतिहासिक महत्व है। शेष जनश्रुतियां ऋतुपरिवर्तन जनित कृषिसम्बन्धी महत्वको प्रगट करती हैं। (किन्तु उस अवसर पर दीपोत्सवका कारण अस्पष्ट है। होलीभी ऋतुसम्बन्धी त्यौहार है, परन्तु उस पर अथवा ऐसे अन्य त्यौहारों पर दीपमालिका नहीं होती। —सं०) इन जनश्रुतियोंको पुष्टि ऐतिहासिक आधारसे किये जानेकी आवश्यकता है। रामचन्द्रजीके राज्याभिषेक अथवा विक्रम-संवत्-प्रवर्तनके उपलक्ष्यमें दिवालीकी मान्यता कबसे हुई, यह पता लगाना शेष है। हॉप्किन्स सा० (Hopkins) ने आधुनिक हिन्दू त्यौहारोंमें दिवाली, होली, मकरसंक्रान्ति आदिको गिना है; परन्तु इनका उद्गम कब और कैसे हुआ, इस पर वह चुप है।[2] किन्तु वह 'दिवाली' को आधुनिक (नवीन) त्यौहार बताते हैं।

श्री० मॉर्गरेट स्टीवेन्सनने जैन दिवालीका परिचय निम्न प्रकार 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन ऐंड ईथिक्स' (भा०-५ पृ० ८७५-८७९) में लिखा है:—

"पर्यूषणके उपरान्त जैनोंका दूसरा पवित्र त्यौहार दिवाली है। पर्यूषण जैनोंकी अहिंसा भावनाका प्रतीक है और दिवाली जैनोंकी वणिकवृत्तिमें धनके महत्वको लिये हुये है। जैनी दिवाली को मनानेके लिये एक विशेष कारण उपस्थित करते हैं, जो प्रायः लक्ष्मीपूजाका हिन्दू त्यौहार प्रतीत होता है। जैनी कहते हैं कि जब भ० महावीरका निर्वाण हुआ तो उनका निर्वाणोत्सव अठारह लिच्छवि-मल्लकि एवं अन्य राजाओंने यह कहते हुये मनाया कि 'ज्ञानप्रकाश लुप्त हो गया है। अतः आओ भौतिक (दीपों) का प्रकाश फैलायें।' (कल्पसूत्र, SBE., भा० २२ पृ० २६६) जैनी दिवाली चार दिनोंतक मनाते हैं, जो प्रायः अक्तूबर या नवम्बरमें पड़ती है। श्वेताम्बर जैनोंमें पहले धनतेरसके दिन लक्ष्मी देवीके सम्मानमें रत्नाभूषणोंको सुसज्जित किया जाता है। दूसरा दिन

---

१. इंडियन ऐन्टीक्वेरी, भा० ३१, पृ० २१७-२१९ (मई १९०२)।

२. इन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलीजन ऐंड ईथिक्स, (१९१२) भा० ५ पृ० ८६७-८७१।

'काली चौदस' कहलाता है। इस दिन लोग पक्वान्न और मिष्ठान्न बना कर भूत-प्रेतादिके कोपको शमन करनेके लिये चढ़ाते हैं और निकटके चौराहे पर रख आते हैं। तीसरा दिन अमावस इस त्यौहारका प्रमुख दिवस है। इस दिनही भ० महावीरने मोक्ष-गमन किया और इन्द्रभूति गौतमने कैवल्य-(-लक्ष्मी) प्राप्त की थी। इस दिनही रातको जैनी महापूजा करते और दीपमालिका मनाते हैं। अमावसके प्रातःही तीनों सम्प्रदायोंके जैनी अपने २ मंदिरों, उपाश्रयों अथवा स्थानकोंमें जाते हैं। वहां जो साधुमहाराज अथवा साध्वी देवी उपस्थित होते हैं, उनके मुखसे भ० महावीरका जीवनवृत्तान्त सुनते हैं और सामायिक, गीत और भजन गाते हैं। भक्तवत्सल वहीं ठहर कर प्रोषध करते हैं। शेष अपने घरोंको लौट जाते और वर्षभरके हिसाब-किताबका चिट्ठा तैयार करते हैं। सायंकालको वे एक ब्राह्मणको बुला कर शारदा-पूजा करवाते हैं, क्योंकि जैनोंमें ब्राह्मण अबभी पौरोहित्यका काम करते हैं। जैनी अपनी बहियां एक चौकी पर रख देते हैं। ब्राह्मण आता है और यजमानके माथे पर टीका कर देता है और उनकी कलम और बहीके आदि पृष्ठको चर्च देता है। तब वह बहीके आदि पृष्ठ पर शब्द 'श्री' ६, ७ या ८ बार लिखता है। अब वहीं पर पुरानेसे पुराने सिक्के रखते हैं, जो लक्ष्मीका प्रतीक होता है। यह कियाही 'लक्ष्मीपूजा' है। वर्षभर वह सिक्का बड़ी सार-सम्हालसे रक्खा जाता है। क्योंकि उसे सौभाग्यवर्द्धक माना जाता है। दूसरी दिवाली पर वही सिक्का फिर पूजाके लिये काममें लिया जाता है। इस प्रकार किन्हीं जैन घरोंमें बड़े पुराने २ सिक्के मिलते हैं। वहीं पर एक पान, सुपारी, अक्षत आदिभी रक्खे जाते हैं। कपूर जला कर जैनी उनकी आरती करता है और रोरीको बहियों पर छिड़क कर पूजा समाप्त करता है। तब पुरोहित और उपस्थित जैना मिष्टान्न खाते हैं। कई घंटे बहिया खुली रक्खी रहती हैं। उपरान्त जैन उन्हें 'लक्ष-लाभ, लक्ष-लाभ' कहते हुये बन्द करके रख देते हैं। चौथा दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदाका नव-वर्षका पहला दिन माना जाता है। इस दिन जैन परस्पर एक दूसरेसे मिल कर अभिवादन करते हैं और अपने व्यापारिक वर्षका प्रारंभ करते हैं। इसी दिन अपने मिलनेवालोंको दिवाली-पूजनके मंगलपत्र लिखते हैं।"[1]

---

१. सं० नोट—मूलतः दिवाली निर्वाण उत्सव है, परंतु इन्द्रभूति गौतम द्वारा कैवल्यविभूतिकी प्राप्तिके उपलक्षमें दिवालीको लक्ष्मी (= धन) पूजाका त्योहारभी माना गया है। एक जैनके निकट सबसे बड़ी विभूति और महालक्ष्मी केवलज्ञानकी प्राप्ति है। व्यवहारमें धन ही लक्ष्मी है। अतः व्यवहार-रत जैनों द्वारा अध्यात्मलक्ष्मीको गौण करके भौतिक लक्ष्मीकी पूजाका समावेश दिवाली-पूजनमें किया जाना स्वाभाविक है। उत्तर भारतमें गुजरातसे भिन्न रूपमें दिवाली मनाई जाती है। धनतेरस तो ठीक एक ही रूपमें मनाई जाती है, परंतु दूसरे दिनको जैन 'काली चौदस' नहीं कहते, बल्कि 'निर्वाण चौदस' कहते हैं। [illegible] दिन सायंकालको कुछ दीपक जलाकर घरके मुख्य द्वार पर रक्खे जाते हैं और उनको अन्न-मिष्टान्न चढ़ाते हैं। उनमेंसे बड़े दीपकको जलता हुआ घरमें वापस ले आते हैं और उसे इस तरह सम्हाल कर रखते हैं कि वह रात भर जलता रहे। इसे 'जमका दिया' कहते हैं। 'भ० महावीरने यम अर्थात् मृत्युको जीत लिया था। उस विजयका प्रतीक यह दीप है। अमावसके प्रातः जैन नर-नारी मंदिरोंमें जाकर महावीर निर्वाणपूजा करते और धर्मश्रवण करते हैं। कोई २ उपवासभी रखते हैं। पूजामें लाडू

(सामनेके पृष्ठ पर देखो)

इस प्रकार जैन दिवालीका उद्गम म० महावीरके निर्वाणोत्सवसे प्रगट होता है और उनका निर्वाणकाल ई० पूर्व ५२८-५२७ माना जाता है। अतएव जैन दिवाली २४०० वर्षों इतनी प्राचीन ठहरती है। अब प्रश्न यह है कि क्या हिन्दू दिवालीभी इतनी प्राचीन है? क्या उसके उद्गम का आदिस्रोत इतिहाससे प्रमाणित किया जा सकता है? इन प्रश्नोंका उत्तर शास्त्रीय उल्लेखोंके आधारसे देनेके लियेही हमें प्रस्तुत लेख लिखना अभीष्ट है। अतएव शास्त्रीय साक्षीके आधारसे जितनी प्राचीनता हम खोज सके हैं, यहां उपस्थित करते हैं। शेष कार्य अन्य शोधकों पर हम छोड़ते हैं। वे आगे खोज करें और ठीक निर्णय दें, यह वाञ्छनीय है।

हिन्दू दिवालीके विषयमें श्री० मार्गरेट स्टीवेन्सनने जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दूभी दिवालीका त्यौहार चार दिनोंतक मनाते हैं। पहला दिन धनतेरसका बहुतही पवित्र माना जाता है। इस दिन सभी शुभकार्य किये जाते हैं। देना-लेना चुकता कर दिया जाता है। घरोंकी लिपाई पुताई हो जाती है। पुराने बरतन बदल कर नये कर लिये जाते हैं। लड़के गोधूलिवेला पर गउओंके मध्य जा कर लकड़ीमें बधी सफेद बत्तियोंको जिन्हें 'मबुवा' कहते हैं, घुमाते हैं। गउयें चौंक कर धूल उड़ाती हैं। वह धूल बालकोंके शरीर पर पड़ती है तो बहुत शुभ माना जाता है[1]। इस दिनभी घरोंमें रोशनी की जाती है। दूसरा दिन 'रूप चतुर्दशी' कहलाता है। इस दिन सब लोग तड़के उठ कर खूब नहाते-धोते और अच्छे कपड़े पहनते हैं। फिर वे मित्रोंके यहां जा कर जलपान करते और खुशियां मनाते हैं। किन्तु चौदसकी रात्रिको वह 'काल रात्रि' कहते हैं। लोगोंकी धारणा है कि इस दिन दुष्ट प्रेतात्मायें लोगोंको सताती हैं। वे टोटके करके चौराहे पर रखते हैं, हनूमानजीपर तेल व सिंदूर चढ़ाते हैं। चढ़े हुये तेलका काजल पारकर आखोंमें डालते हैं और तब अपनेको प्रेतात्माओंसे सुरक्षित समझते हैं। कोई २ मन्त्र साधनाभी करते हैं। कोली-भील आदि लोग महाकाली-भैरवी आदि देवीको बलि चढाते हैं। किन्तु तीसरा दिन विशेष महत्वका समझा जाता है। इस दिन लड़के-लड़कियां बहुत तड़के उठकर अच्छे कपड़े पहनते और पटाखे छुड़ानेमें मग्न हो जाते हैं। इस दिन गीले कपड़ेमें गन्नेकी पोई घुरस कर वे दीवट बनाते हैं और उसपर जलता हुआ दीया रखकर वे घर-घर तेल मागते जाते हैं। इस दीपकके प्रकाशसे वे अपने मृत पूर्वजोंको प्रकाश पहुंचता समझते हैं। इसी दिन शामको बही-पूजन किया जाता है और बड़े २ दीपक जलाकर रोशनी की जाती है। पुरोहित आकर वह पूजन करता है और अन्तमें मिष्टान्न खाया जाता है और मित्रोंको भेजा जाता है। इस समय पटाखे छोड़े जाते हैं। वहियें रात-

(पीछे पृष्ठसे चालू)

-चढानेकी प्रथाभी कुछ समयसे चल पड़ी है। सायंकालको मंदिर और घरोंमें दीपक जलाये जाते हैं तथा बहीपूजन किया जाता है। इधर कोई पुरोहित नहीं बुलाते-सब लोग स्वयं पूजा करते हैं। उच्चासन पर जैनशास्त्र विराजमान करते हैं, जो ज्ञानलक्ष्मी माने जाते हैं। उसके नीचे बही और सिक्के रख कर पूजा करते हैं। पश्चात् आरती करके बहियोंमें 'श्री महावीराय नमः' और 'श्री केवलज्ञानलक्ष्मी नमः' लिख कर पूजन करनेका उल्लेख तिथिवार सहित करते हैं। मिष्टान्नभी बांटते हैं। —का० प्र०

१. उत्तर भारतमें यह क्रिया नहीं की जाती है। —का० प्र०

भर खुली रक्खी रहती हैं और उनके पास एक दीपक जलता रहता है। प्रातः पुरोहित आता है, जिससे यजमान कहता है "लक्ष्म लाभ"। पुरोहित कहता है कि "सवालक्ष लाभ हो!" और बहियें बंद कर देता है। रातभर घरमें सब लोग जागरण करते हैं और प्रातः उठकर मंगलकामना करते हैं। इस प्रकार हिन्दू दिवाली मनाई जाती है[1]। इस वर्णनको देखकर देशके भिन्न भागोंमें दिवाली मनानेका अन्तर सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

स्यामदेशमेंभी दिवाली मनाई जाती है। अमावास्याको बांसोंमें लटका कर दीपक रात भर जलाये जाते हैं और चतुर्दशी, अमावस्या एवं प्रतिपदाके दिन नदियोंमें जलते हुये दीपक बहाये जाते हैं। इन दिनों आतिशबाजीभी छोडी जाती है। किन्तु स्याममें इस त्योहारकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है[2]।

'मराठा क्रॉनीकल' में महदजी सिंधिया (१७७४-१७८९ ई०) के विवरणमें लिखा है कि कोटामें दिवाली चार दिन मनाई जाती थी। कोटा नरेश "दारूची लंका" (आतिशबाजीकी लंका) बनवा कर उसमें हनुमान द्वारा आग लगवाते थे। पूनामें पेशवाकी आज्ञासे महदजीने पार्वती पर्वत पर यह उत्सव रचाया था।[3] सम्भवतः तभीसे दक्षिणमें दिवाली पर पटाखे छोडनेकी प्रथा चली है।

दिवाली-उत्सवका सचित्र चित्रण जैन 'कल्पसूत्र' में मिलता है, जिसे प्रो० ब्राउनने वाशिंगटनमें (१९३४) छपवाया था। इस चित्रमें एक चंदोवाके नीचे तीन पुरुष हाथोंमें मशाल लिये अंकित हैं, जो संभवतः लिच्छवि, मल्ल और वैदेहिक राजाओंके द्योतक हैं। उसके नीचे 'दीवाली' लिखा हुआ है। यह चित्र १६ वीं शताब्दीका अनुमान किया गया है।[4]

शास्त्रीय उल्लेखों पर विचार करनेसे हमको 'कल्पसूत्र' के पश्चात् दिवालीका उल्लेख 'काम-सूत्र' (सन् ५०-४००) में 'यक्षरात्रि' के नामसे मिलता है, क्योंकि श्री० हेमचन्द्राचार्यने दीवालीकाही अपर नाम 'जक्खरत्ती' (यक्षरात्रि) लिखा है। यशोधरने अपनी टीकामें 'यक्ष-रात्रि' को 'सुखरात्रि' लिखा है।[5]

---

१. *Stevenson*, Rites of the Twice-Born, (Religious Quest of India Series), pp. 335-340

'उत्तर भारत' में धनतेरसको रोशनी नहीं की जाती। पटाखे तो किसी दिन नहीं छोडे जाते। लोग मिलनेभी नहीं जाते। चौदसको मृत-प्रेतके समझके लिये कोई क्रिया नहीं करते। न लडके तेल मांगने जाते हैं। लडकोंकी 'टेसू' प्रथा दिवालीसे पहले होती है। कई दिनोंतक लडके मनुष्याकार दीवट [illegible] दीपक [illegible] कर घर-घर पैसे मांगते हैं। दिवाली पर टेसूका जल प्रवाह [illegible] दिया जाता है। जैनी इस प्रथाको नहीं मानते हैं। का० प्र०

२ *Gerini*, Siamese Festivals and Fasts, pp. 885-890 (ERE, V)

३. पेशव्याची बखर by K V Sohoni, ed. K N Sane, Poona p 149.

४ *Brown*, Miniature Paintings of the Jaina Kalpasutra, p 40-Plate 25

५. Annals of Bhandarkara Oriental Research Instt, Vol. XXVI, p. 253.

२. कन्नौजके सम्राट् श्रीहर्ष (सन् ६०६-६४८) ने 'नागानन्द' नामक एक नाटक रचा था। उसमें शरत्समयमें 'दीपप्रतिपदुत्सव' मनानेका उल्लेख है। उस समय इस उत्सव पर वर-वधूको नववस्त्र भेंट करनेकी प्रथा थी। आजकलभी विवाहके पश्चात् पहली दिवाली पर दामादको दावत और आभूषण भेंट करनेकी प्रथा कहीं-कहीं पर है।[१]

३. 'नीलमतपुराण' की रचना काश्मीरमें सन ५०० से ८०० ई. के मध्य हुईथी। इस पुराणमें दिवाली उत्सवकी प्रमुख बातें इस प्रकार लिखी हैं।— (१) चहु ओर दीपोंका जलाना, (२) कंडील-ध्वजादि लटकाना, (३) ब्राह्मणों और सम्बन्धियों सहित भोजन करना, (४) संगीत और द्यूतरमण, (५) स्त्रियोंकी संगतिमें रात्रि जागरण, (६) मूल्यवान रत्नाभूषण और वस्त्र धारण करना, (७) मित्रों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और नौकरोंको नये वस्त्र भेंट करना। (कार्तिक अमावस्या दीपमाला वर्णनम्)।[२]

४. 'आदित्यपुराण' (१००० ई) में कार्तिक कृष्ण अमावस्या को लक्ष्मी पूजन करना और दिनमें 'सुख सुप्तिका व्रत' मनाने का विधान है। रातको दीपक जलाने, ज्योनार करने और नये वस्त्रोंको भेंट करनाभी लिखा है। किन्तु आजकल 'सुखसुप्तिकाव्रत' दक्षिणमें आश्विन अमावस्याको मनाया जाता है।[३]

५. हिन्दू 'पद्म पुराण' में 'चैत्रप्रतिपत्' की तरह 'कार्तिक प्रतिपत्' पर स्नान, दिव्य-नीराजन, गोमहिष्यादि भूषण एवं ब्राह्मण भोजनका विधान है। ब्रह्माको इसदिन गुड़, दीप व नए वस्त्र चढ़ाकर पूजनाभी आवश्यक है। 'भविष्यपुराण' और वाराहपुराणमेंभी ऐसाही विधान है। 'ब्रह्म-पुराण' और 'भविष्य-पुराणमें' कार्तिक शु. प्रतिपद्के प्रातः दो घडी दिन चढने पर नारी नीराजन और ग्रामको मङ्गल मालिका मनाने का विधान है। 'देवी पुराण'मेंभी यही उल्लेख है। 'ब्रह्मपुराण'में लिखा है कि पार्वतीजीने इस दिन द्यूत क्रीडामें शङ्करजीको जीत लिया था। इसलिये अन्यलोकभी द्यूत क्रीडा, गीतवाद्य, बन्धुभोजन, दीपमालादि करें।[४]

६. 'वामनपुराण' में इसका उल्लेख 'वीर प्रतिपदा' नामसे हुआ है।[५]

७. जैनाचार्य सोमदेवसूरिने मान्यखेट (मलखेड) के राष्ट्रकूट-सम्राट् कृष्ण तृतीयके शासनकाल (सन. ९५९ ई.) में 'यशस्तिलकचम्पू' ग्रंथ रचा था। उसमें दीपोत्सवके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका उल्लेख किया है: (१) घरोंकी लिपाई पुताई कराकर ध्वजादिसे अलङ्कृत

---

१. Ibid. २. Ibid, p. 254.

३. Journal of the Jha Institute, Allahabad, Vol. III, pt. 2, p 210

४ Bhāratiya Vidyā, March 1947, pp 60-61.

हिन्दू पुराणोंके वर्णन बहुधा अध्यात्म रहस्यके रूपकोंमें होते हैं। क्या पार्वतीका शङ्करजीको द्यूत-क्रीडामें जीतनेका अर्थ आसुरी-संहारक-वृत्ति पर अहिंसक-वृत्तिकी विजय (शुचिता) द्योतक है? —सं०

५. Ibid, p [illegible].

करना, (२) स्त्री समाजमें आमोद प्रमोद मनाना, (३) गीतवाद्य, (४) द्यूत, (५) घरोंकी छतोंपर दीप-पंक्तियां प्रज्वलित करना, (सुतद्युतविचित्रवरा दीपोत्सवमिष्ट)[१]

८. श्रीपति ज्योतिषाचार्यने अपनी 'ज्योतिष रत्नमाला' की मराठी टीकामें दिवालीका उल्लेख किया है।

९. अलबेरुनीने अपनी 'तहकीक-इ-हिन्द' नामक पुस्तक (सन् १०३० ई०) में दिवालीका विवरण लिखा है; जिसकी मुख्य बातें यह हैं: (१) नाम 'दीवाली', (२) चम-कीली भड़कीली पोशाक, (३) पान-सुपारी भेंट करना, (४) आमोद प्रमोद मनाना, (५) मंदि-रोंमें जाना और दान देना, (६) रातमें सर्वत्र दीपक जलाना, (७) आजके दिन विष्णु-पत्नी लक्ष्मीको बालीके बन्दीगृहसे मुक्ति मिली थी, (८) सौभाग्य सूचक त्यौहार।

१०. श्री हेमचन्द्राचार्यने 'देशी नाममाला' ग्रंथमें (१०८८-११७२) 'जक्खरती' (यक्षरात्रि) को दिवाली या दीपालिका बताया है।

११. पुरुषोत्तमदेवनेभी 'त्रिकाण्डशेष'में 'यक्षरात्रि'को दीपाली (१-१-१०८) कहा है। यह उल्लेख सन् ११५८ ई. से पहले का है।

१२. मुस्लिम लेखक मुल्तान-वासी अब्दुल रहमान अपने अपभ्रंशभाषाके ग्रंथ 'संदेश-रासक' (सन् ११००-१२०० ई.)में दीपावलीका उल्लेख निम्नप्रकार किया है.—

'दिंतिय मिलि दीवालिय दीवय
णवससिरेहसरिस करि लीवय।
मंडिय भुवण तरुण जोइक्खिहिं
महिलिय दिंति सलाइय अक्खिहिं ॥ १७६ ॥'

भावार्थ—महिलाजन नव-शशि रेखाके सदृश दीप-पंक्तियोंसे अपने ■ रातको प्रदीप्त करती हैं और ■ दीपोंका काजल पारकर वे आंखोंमें लगाती हैं।

(१३) महाराष्ट्रीय सन्त ज्ञानेश्वर (१२९० ई.)ने 'दिवाली' का उल्लेख अपनी ज्ञानेश्वरीमें किया है। दिवालीके प्रकाशकी उपमा उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान-प्रकाशसे की है।

(१४) चक्रधर (१२५०)ने 'लीळाचरित्र' मराठी-महानुभावमें दिवाली वर्णन सम्बन्धी यह विशेषतायें लिखी हैं: (१) उनके शिष्य गोसावियों द्वारा बहुजल एकत्र करके स्नान करना, (२) स्नानके पहले तैल मर्दन करना, (३) चक्रधरकी नारी-शिष्याओं द्वारा गोसावियोंकी आरती (ओवाळणी) उतारना, (४) यमद्वितीयाको मोदक लाडू-सेवादिकी ज्योनार करना। ■ सब लोगोंकी दिवाली थी।

१५. हेमाद्रि (१२६० ई.) अपनी 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' (व्रतखंड)में यमद्वितीयाका

१. Annals ■ the Bhandarkara Or. Res. Instt., XXXVI, p. 254.

उल्लेख करता है कि इसदिन यमकी बहन यमुनाने अपने भाईको भोजन कराया था। तभीसे यह भाई-बहनका त्यौहार हो गया।

१६. मेरुतुङ्ग (१३०५ ई.) ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' में लिखा है कि गुजरातके शासक सिद्धराजके समकालीन कोल्हापूरके राजा ने दिवाली उत्सव मनाया। उसमें यह विशेषतायें थीं: (१) कोल्हापुरकी कुलदेवी महालक्ष्मीकी पूजा राजाकी रानियोंने की, (२) सिद्धराजके एक राजकर्मचारीने महालक्ष्मीके स्वर्णभूषण-रत्न और कपूर दिवालीकी रातको चढाये और (३) एक मंत्रयुक्त घडमी चढाया।[1]

१७. माधवाचार्य कृत 'कालनिर्णय' (१३५०) में त्रयोदशीको कुबेर पूजाका उल्लेख है। ("त्रयोदश्यां धनाध्यक्षः कुबेरः पिबते कलाम्।")

१८. सन् १४२० या १४२१ ई. में इटलीसे निकोलोइ कोन्टि (Nicoloi Conte) नामक यात्री विजयनगर आया था। उसने दिवालीको मंदिरोंके भीतर और बाहर छतोंपर दीपक दिन रात जलते हुए देखे थे।

१९. 'आकाशभैरवकल्प' (सन् १४५०-१६०० ई.) में दिवालीका वर्णन है। राजाके लिये नरकचतुर्दशी और कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् मनानेका विधान उसमें है। नरकचतुर्दशीकी विशेषतायें इसप्रकार लिखी हैं: (१) यह सामान्य दिवस है। अतः इसदिन राजाओंको विजय, सन्तान, सुख-वैभव प्राप्त होते हैं, (२) प्रातःस्नान, (३) पुरोहित व ब्राह्मणोंकी पूजा; (४) स्नानसमय रानी राजाके तैल मर्दन करे और मल गर्म पानीसे मङ्गलस्नान करावें; (५) राजा कुलदेवताकी पूजा करके तीन दीपक जलावे; (६) तब राजा आस्थानकूट (दरबार) को वस्त्र-भूषणसे सुसज्जित होकर जावे और राजसिंहासनपर दरबारियों सहित बैठे। उनका मुजरा ले और उन्हें पुरस्कृत करे। ताम्बूल वितरणके साथ यह उत्सव समाप्त करे; (७) उपरान्त राजा अन्तःपुरमें जावे, तब रानियों व परिजनों सहित भोजन करें; (८) शामको अपने अधीन राजाओं सहित बाणविद्याका कौशल देखकर नाट्य शालामें नाटक देखे, (९) तब अन्तः पुरमें जाकर भोजन करे और रात्रि पट्टमहिषीकी संगतिमें बितावे। दीपावली अर्थात् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदके दिन पूर्ववत् (१) स्नानादि करे, (२) भास्कर (सूर्य) को पूजे; (३) लक्ष्मीनारायणको लक्ष्मीकी स्थिरताके लिये तीन दीपक चढावे, (३) पूर्ववत् राजदरबार लगावे, (४) अन्तःपुरमें साम्राज्य लक्ष्मीकी पूजा करे, (५) मध्यान्ह विश्रामके पश्चात् मल्लयुद्धादि देखे, (६) सारे नगरमें दीपमालिका करावे; (७) राजकर्मचारियोंको ताम्बूल और वस्त्र उनके श्रमके उपलक्ष्में भेंट करे, (८) समग्र दीपनिकल महालक्ष्मीको भेंट करे; (९) विरोचनके पुत्र और प्रल्हादके पौत्र बलीकी पूजा करे, (१०) ब्राह्मणादिको स्वर्णदान।

२०. नृसिंह कृत 'कालनिर्णय दीपिका विवरण' (१४०९) में धनद या यौद अर्थात् यक्षराज या कुबेरका सम्बन्ध प्रतिपदसे बताया है।

---

1. नं. ८ से १६ तकके उल्लेखोंका विशद विवरण "Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute" Vol. XXVI के पृ० २६१-२६२ पर पढना चाहिये।

२१. रीवाके बघेल नरेश वीरभद्रने स्वरचित 'कंदर्पचूडामणिमें' यक्षरात्रिको सुखरात्रि बताया है।

२२. 'आईन-इ-अकबरी' में अबुलफज़ल (१५९० ई.)ने दिवालीके वर्णनमें लिखा है कि दिवाली वैश्योंका सबसे बड़ा त्यौहार है। इसदिन दीपक जला कर खूब रोशनीकी जाती है। तिथि कार्तिक शु. १२ व कृष्ण १५ बतानेमें कुछ मतभेद है। जुवा खेला जाता है।

२३. 'भट्टोजि दीक्षित 'कालनिर्णय संक्षेप' (१५६०-१६२०) में, कमलाकरभट्ट 'निर्णयसिंधु' (१६१२)में और दिवाकर काल 'कालनिर्णय चंद्रिका'में दीपावली विषयक अनेक उल्लेख करते हैं।

२४. दिवालीका उल्लेख अंग्रेज लेखकोंने (१६१३-१८८३) भी किया है, जिसमें निम्न विशेषतायें गिनाई हैं: (१) आमोद प्रमोद सहित ज्योनार, (२) विष्णुके सन्मानका त्यौहार, (३) भेंट सम्बन्धी वस्तोंको देना, (४) बनियोंकी दिवाली, (५) ऋतु विषयक महान् त्यौहार, (६) आतिशबाजी (१८२०), (७) लक्ष्मीकी पूजा, (८) नदियोंमें दीपक प्रवाह; (९) बनारसकी जोरदार दिवाली, (१८८८). (Hobson-Jobson, London, 1903, pp 208-309).

२५. काशीनाथ ने 'धर्मसिन्धु' में लक्ष्मीपूजाके पश्चात् कार्तिक शुक्ल प्रतिपत्को कुबेर पूजा करना लिखा है। (१७६०-१८०६ ई.).[1]

सन् १८००के लगभग कुबेरपूजाकाभी उल्लेख दिवालीपर मिलता है। हमारे विचारसे यह कुबेर पूजा 'पाराहपुराण'गत यक्षार्चाकाही दूसरा रूप है, जो वैष्णवोंकी लक्ष्मीपूजाके कारण गौण होगई है।[2]

दक्षिण भारतमें दीपावलीके प्रातः पत्नी पतिको तैल स्नान कराती है — नवूढा पत्नीके लिये यह अत्यन्तावश्यक है। विवाहके पश्चात् पहली दिवालीपर दामाद अपने परिजन सहित पत्नीगृह इस उद्देश्यसे आता है। उस समय कन्याका पिता उन्हें भोजन कराता और वस्त्रभूषण भेंट करता है। बहूका श्वसुर उसे साड़ी और आभूषण देता है। दीपावलीको प्रात: स्नान करके हरकोई अपने मित्रोंके घर जाकर पूंछते हैं कि उन्होंने गङ्गा स्नान किया या नहीं। आगुन्तकका सत्कार ताम्बूल, मेवा-मिठाईसे किया जाता है।[3]

इलोराकी गुफाओं (नं. १४-१५-१६ एवं २१) में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम

---

१. नं. १७ से २५ तकके उल्लेखोंके लिये "Annals" का उल्लेखित स्थान एवं 'भारतीय विद्या' (मार्च १९४७) पृ० ६६ देखना चाहिये।

२. भारतीय विद्या, मार्च १९४७, पृ. ६२-६४में विशेष देखो.

३. वही, पृ. ६९ देखो.

(सन् ७५७-७७२) की खुदवाये हुये ऐसे शिलाङ्कित चित्र हैं, जिनमें शिव पार्वतीके जुआ खेलनेका दृश्य अङ्कित है। किन्तु उनका सम्बन्ध दिवालीसे स्पष्ट नहीं है।[1]

इस प्रकार अबतकके अध्ययनका सार पाठकोंके सम्मुख है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि जैन 'कल्पसूत्र'में भ. महावीरके निर्वाणोत्सवोपलक्षमें लिच्छवि-मल्लिक आदि राजाओं द्वारा दीपोत्सव मनानेका उल्लेख है; परन्तु जैनेतर साहित्यमें दिवालीका प्राचीन नाम यक्षरात्रि मिलता है। कालक्रमानुसार उसका नाम बदलकर दिवाली हुआ निम्नप्रकार अनुमानित है:—

यक्षरात्रि	सुखरात्रि	सुखसुप्तिका	यक्खरत्ती (यक्षरात्रि)	= दीपाली
सन् १०० से ४०० के मध्य यक्षरात्रि। (कामसूत्र)	कामसूत्रके टीकाकार यशोधरके समयमें सुखरात्रि।	सन् ५९० से ८०० के मध्य सुखसुप्तिका। (नीलमत पुराण आदि) (हर्षने दीप-प्रतिपदुत्सव लिखा है)	सन् १०८८–११७२ 'देशी नाममाला' में हेमचन्द्र	११००–११५९ के मध्यमें 'दीपाली' नाम हुआ। (पुरुषोत्तमदेव)

इतना होते हुयेभी हम अपने मूल प्रश्नोंको खुला छोड़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि अभी अध्ययन करनेके लिये बहुत गुंजाइश है। जैन-दिवालीका अध्ययन जैन ग्रन्थोंमें करना शेष है। समय २ पर दिवालीका रूप जैनोंमें क्या रहा, यह जानना आवश्यक है। पूर्ण अध्ययनके पश्चात्ही किसी निष्कर्षपर पहुंचा जा सकता है अतएव विद्वानोंको इस विषयमें और अध्ययन करना उचित है। इति शम्.

1. जर्नल ऑव दी गंगा इंस्टीट्यूट, आलाहाबाद, भा. ३ खंड २ प. २१४-२१५.

Mahāvīra : His Life and Work*

By Dr. Bool Chand, M. A., Ph. D., Bombay

[श्री० डॉ० बूलचन्दजीने इस लेखमें भ० महावीरकी जीवनझांकीका मार्मिक दिग्दर्शन कराया है। उनका लिखना है कि भ० महावीरका जन्म और लालनपालन एक जनतन्त्रवादी समाजमें हुआ था; जिसमें गहरी मानसिक उथलपुथल मची हुई थी। प्रचलित रूढ़ियोंके प्रति लोगोंको असंतोष था और सैद्धान्तिक मतभेद मस्तिष्कको सशङ्क बनाये हुये था। तोभी उससमयके समाज पर तीर्थंकर पार्श्वकी धर्मपरम्पराका विशेष प्रभाव पड़ा हुआ था। इस प्रकारके वातावरणमें तीस वर्षके युवक महावीरने साधु होना निश्चित किया था। बारह वर्षकी घोर तपस्या और साधनाके पश्चात् महावीर पूर्ण ज्ञानी हुये–उनकी दया लोककल्याणके लिये अविरल धारामें बही–इसलिये वह तीर्थंकर कहलाये। संघ व्यवस्था महावीरकी अपूर्व थी, जिसमें मुनि आर्यिका-श्रावक-श्राविका सम्मिलित थे। गृहस्थोंकोभी उनके संघमें सम्माननीय स्थान प्राप्त था। महावीरके संघका द्वार प्रत्येक प्राणीके लिये खुला हुआ था। गुणोंकी मान्यता थी उसमें। मिथ्या आचारविचारको उसमें स्थान नहीं था। ईश्वरको सृष्टिका कर्ता–हर्ता कोई नहीं मानता था। मानव स्वयं अपने भाग्यका निर्माता और भोक्ता था। पशुबलका स्थान मानवीय वात्सल्यमय पारस्परिकताको अन्त करनेमें परिणत हुआ था। महावीरका जीवन पार्थिवताके ह्रास और आत्माके विकासका प्रतीक था। महावीरने कमजोरके शोषणके लिये शक्तिप्रयोग करनेको प्रोत्साहन नहीं दिया। उन्होंने समाजमें ऊंच-नीचके भेदभावका, आर्थिक संघर्षका और राजनैतिक दासताका अन्त किया था। जैनधर्मके रूपमें उन्होंने लोकको एक आध्यात्मिक जनतंत्रवाद भेंट किया था। उनका संदेश लोकभाषामें था। उसमें किसी मध्यस्थकी आवश्यकता न थी। लोक सीधे उनकी बात सुनता, समझता और मानता था। मुक्तिके द्वार दीनदलित और हीन-मलीन, सबके लिये उन्होंने खोले थे। देवताभी मानवके सामने हीन घोषित किये गये। आत्माका पूर्ण विकास मानवही कर सकता है। चारित्रकी आधारशिला अहिंसा बनी थी। जो जितना अहिंसक था उतनाही अधिक चारित्रवान था वह। जैनधर्मके मूलस्रोतका आभास श्रमण साहित्यमें मिलता है, जिसका विकास वैदिक साहित्यके साथ साथ हुआ। डॉ० विंटरनीजने उसकी विशेषतायें बताई थी कि उसमें जाति व आश्रम व्यवस्थाकी उपेक्षा है, उसके वीर केवल देवता या ऋषि न होकर राजा, वणिक या शूद्रक हुए हैं। काव्याधार ब्राह्मणोंकी कथावार्ता न होकर प्रचलित कथासाहित्य रहा है। संसारके दुख शोकका चित्रण उसमें खूब है और अहिंसा-दयाका प्रतिपादनभी अद्भुतपूर्व है। सांख्ययोगके अनुरूप जैनधर्मही प्राचीन धर्म है, जिसके द्वारा बौद्धिक क्रान्ति हुई, जिसने वैदिक क्रियाके मार्गमें अर्गलाका काम किया। ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओंका यह संघर्ष बराबर चलता रहा है। महावीर और गोशाल दो प्रथक धर्मप्रवर्तक थे। उनमें गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नहीं था। गोशालने आजीविक सम्प्रदाय चलाया था। वह नियतिवादी था। जैनधर्ममें ज्ञान, कर्मसिद्धांत, और संयम-तपका निराला निरूपण हुआ है। शरीरकी दासता

---

* This forms the concluding chapter in a book entitled "Mahāvīra His Life and Teachings" by Dr Bool Chand The book is now in the Press

और मोहके लिये जैनधर्ममें स्थान नहीं है। जैनधर्म जहां एक ओर अकारण दूसरे पर आक्रमण करनेका निषेध करता है वहां दूसरी ओर कायरतासे दूर रहनेकाभी उपदेश देता है। शान्तिपूर्वक आत्मविश्वास करते हुये स्वयं जीओ और दूसरोंको जीवित रहने देनेमें सहायक बनो, यह उसका संदेश है। अहिंसाही परम धर्म है। मारनेकी अपेक्षा सत्यके आधार पर स्वय मर जानेमें बहुत बहादुरी है। महावीरने ससार छोड़ा, साधनाकी और फिर वह संसारके बीच आकर धर्मोपदेशक बने। लोक उनका अनुयायी हुआ। ग्यारह बड़े ब्राह्मण नेतागण उनके पहले शिष्य–गणधरादि हुये। इन्द्रभूति गौतम महावीरजीके प्रधान गणधर थे। अनेक असख्यात प्रश्नोत्तर उनके हुए थे। उन्होंने इन्द्रभूतिसे कहा, "तुम तो महासमुद्रके पार पहुंचे से हुये हो। अब किनारे पर क्यों मडरा रहे हो? जल्दीसे उस पार पहुंचो। हे गौतम! एक क्षणके लियेभी प्रमादी न बनो।" इस प्रकार महावीर केवल आदर्शवादी नहीं थे। वह सत्यके हामी कर्मवादी थे। रागद्वेषको जीत कर आत्म-स्वातंत्र्य पानेके लिये उन्होंने हरकिसीको उत्साहित किया। —का० प्र०]

Born and brought up in a Society informed with democratic ethos and in an age of great intellectual stir, social dissatisfaction, philosophical doubt and religious confusion, and deeply influenced by the ethical tradition of Pārśva, Mahāvīra chose, when he was thirty, the life of an ascetic seeking after truth and enlightenment. After twelve years of penance and suffering and rigorous practice of spiritual detachment, he attained such knowledge as was perfect and absolute, and developed such compassion for the afflicted world and strove so much for its redemption that he came to be regarded Tīrthankara. Mahāvīra showed wonderful ability in the organisation of his Sangha which consisted of the ascetic as well as the layman, men as well as women. He did not consider the layman as incapable of spiritual uplift, and, therefore, accorded an honourable place to him in the Sangha. The layman is as important a limb of the Sangha as the ascetic, and it is incumbent upon both to cooperate and push the Sangha forward towards spiritual uplift Mahāvīra's Sangha was open to all irrespective of caste, colour and sex. Merit and not birth was the determinant of status in society. Ability and not sex was regarded as the criterion of admission into the higher order Superstitions, ritualism, and belief in the capacity of gods to help man were discarded The existence of God as the Creater of the world was denied, and man was held responsible for his own fortune as well as misfortune, freedom as well as bondage. Sacrifice of the animal was replaced by the sacrifice of the brute self. Mahāvīra's life is a symbol of the mortification of the flesh for the development of the Spirit. It is spiritual joy, and not heavenly pleasure, that is worth pursuit. Mahāvīra did not encourage acquisition of supernormal powers for the victimization of the weak. He prohibited the use of such powers even for self-protection. He disparaged social inequity, economic rivalry and political enslavement. Mahāvīra took it upon himself to work out and propagate a veritable spiritual democracy in the form of Jainism. He delivered his message in the tongue of the people. He did not like the aristocratic

aloofness and mystifying secrecy of the Brahmanical thinkers in matters religious and philosophical. There was no need of interpreters of the tongue of gods. There can be no mediator between man and God. Mahāvīra popularized philosophy and religion and threw open the portals of heaven to the down-trodden and the weak, the humble and the lowly. To him spirituality was not the property of the privileged few, but a valued possession of each and all It is only in the form of human being that the spirit can realise itself. Gods are inferior to the man of conduct. They symbolise only a stage in the development of the spirit. The final development, however, is possible only in the human form. The idea of an over-free omnipotent Creator God and His incarnation is exploded as a myth, and the responsibility of creation is put on the shoulders of those who inhabit and enjoy it. Conduct is judged by the spiritual law of ahimsa, perfect and absolute. The means are not justified by the end. It is perhaps with reference to these revolutionary ideals that a modern critic informed with the faith in merciful God, has characterized Jainism as 'a religion in which the chief points insisted upon, are that one should deny God, worship man and nourish vermin'. Philosophy, with Mahāvīra, is not an intellectual system based on data supplied by psychological analysis, or a metaphysical speculation based on scientific investigation, but an all comprehensive view based on spiritual realization, wherein all other views find proper justification These are, in brief the general features of the message of Lord Mahāvīra.

The roots of Jainism can be traced out in that floating mass of Śramana literature which developed side by side with the ancient Vedic, and had, according to Dr Maurice Winternitz, the following characteristic features: It disregards the system of castes and ashramas; its heroes are, as a rule, not gods and Rishis, but kings or merchants or even Shudras The subjects of poetry taken up by it are not Brahmanic myths and legends, but popular tales, fairy stories, fables and parables. It likes to insist on the misery and suffering of Samsāra, and it teaches a morality of compassion and Ahimsā, quite distinct from the ethics of Brahmanism with its ideals of the great sacrificer and generous supporter of the priests and its strict adherence to the caste system'. 'Jainism together with Sānkhya-Yoga', accordig to the Dr. Hermann Jacobi, 'is the earliest representative of that mental revolution which brought about the close of the Vedic and inaugurated the new period of Indian culture which has lasted through the middle ages almost down to the present time'. We can clearly discern in the formative period, nay, throughout the development, of our culture, two distinct forces, perpetually struggling for supermacy and evolving a more and more rational culture Of these two forces, one attracts us to the spiritual life by insisting on misery and suffering, while the other strives to keep us attached to the duties and responsibilities of social life. The advent of Mahāvīra and the Buddha represents a period of suprēmacy of the former over the latter. This period was, of course, preceded by a long period of

philosophical ferment and religious unrest. There was strenuous search for the ideal. Two distinct ways of thought, Brahmanic and Śramanic, were struggling for supremacy and were influencing each other. It was impossible that one should supersede the other. But they evolved a system which had a strong note of asceticism and was predominantly Śramanic. This was embodied in the 'Caturyāma dharma of Pārśva, and finally developed by Mahāvira into what is called Jainism. Buddhism too is a similar, though decidely a later, growth with a wonderfully rational outlook. The investigations about the antiquity of Jainism are by no means complete. We look to an intenser research for more enlightenment.

We have shown elsewhere the untenability of the fanciful opinion of some scholars that Mahāvira was a disciple of Gośāl's for some time. Our conclusion is that Mahāvira and Gośāla did not have a teacher and disciple relationship at all. Mahāvira and Gośāla were just two associated in a common concern, two Sādhakas who lived together for six years in asceticism Later on there sprang up accute differences of opinion between the two. They separated from each other and became irreconcilable opponents, fighting out their differences generally through their followers. After six months from the separation with Mahāvira, it is said, Gośāla acquired supernormal powers, proclaimed himself a Jina, and founded the order of the Ājivikas. It is also probable that the order of the Ājivikas was already there and Gośāla only assumed its leadership proclaiming himself the last Jina. The implication of the doctrine of 'seven reanimations' advocated by Gośāla is not very clear; possibly Gośāla referred to the six past leaders of the order, and considered himself to be the seventh and the last.' The problem is to be studied afresh, and there is every possibility of fruitful result. There is, however, no ambiguity about the central doctrine of Gośāla. He was an uncompromising fatalist For him there was no such thing as freedom of will, all things being caused by destiny which was unalterably fixed. This contrasts strongly with Mahāvira's ideal of *nirvāṇa* as something to be achieved by toil and labour, and not something to be presented by destiny in due course There is neither scope nor necessity for voluntary efforts in the system of Gośāla We do not know whether the Ājivika order survived him for long in its original shape, although a reference to the Ājivika order is found in an inscription of as late as the thirteenth century A. D.

The Jaina doctrine of knowledge is assuredly a valuable contribution to the epistemological thought. Knowledge is inherent in soul and depends for its expression upon the disentanglement of the soul from the forces that vitiate its intrinsic capacities. The Kaṣāyas of attachment and aversion are held responsible for the obstruction of the capacity to know, and it is by the total destruction of these Kaṣāyas that the soul achieves 'the blaze of omniscience.' Absolute annihilation of knowledge is impossible, and the knowledge is at its minimum in the one-sensed organism. Perfection is achieved

not by adding one knowledge to another, but by removing the cause of imperfection, which consists in the Kaṣāyas. Ignorance is only an incidental effect of a more fundamental cause, namely, the Karma that blurs the right intuition.

The Karma-doctrine is another glorious achievement of the Jain thinkers. Karma is a substantive force, a sort of infra-atomic particles which have the peculiar property of developing the effects of merit and demerit. 'As heat can unite with iron and water with milk, so Karma unites with the soul'. Life is a struggle between spirit and matter. The material body is to be subdued by the spiritual self. Samsāra consists in spirit subdued by matter. Evolution means evolution of the spirit followed, as a matter of necessity, by the evolution of the body. The body is the instrument of expression, and so the perfection of the spirit is synchronized with the perfection of the body. What controls the universe is the law of Karma. The world is made, not by gods and angels, but by the Karma of the spirits. The history of man is determined by his own voluntary choice. Man enters the world of his own creation and fashions it according to his own designs. He can transcend the inherited limitations by his will and action, and become the architect of his own future The theory of fourteen states in the ascent to the state of final liberation is the logical consummation of the doctrine of Karma.

Indian religions lay stress on asceticism and life of negation, and Jainism does so in a special measure. Jainism prescribes even the abandonment of the body in case it fails to fulfil the demand of the spirit. This exposes Jainism to the charge that its ethics is negative and passive. The Jaina ethics will not plead guilty to this charge The motive behind ethical practices is that of purging the soul of selfish impulses so that it may realize itself. Spiritual strenuousness, meditation, the freeing of the mind from hatred, anger and lust are emphasized. What appears to be passivity is intense concentration of consciousness where the soul lays hold immediately upon itself. Life affirmation is fraught with more dangers and pitfalls than those of life negation. If affirmation leads to progress, negation certainly leads to peace. World has suffered more at the hands of the progress-loving peoples than at the hands of the peace-loving nations. Jainism discourages aggressiveness, but never supports cowardice. Peaceful courting of death without hatred for the murderers is more praiseworthy than violent defence. The law of non-violence is regarded as the supreme law. Justice itself is judged by this law Consistent application of this universal law of non-violence in practical life exposed Jainism to the ridicule of those who were satisfied merely with the theoretical extolling of the law. Its appeal to the rational minds, however, was great and gradually it gripped a considerable portion of the populace.

Mahāvīra left the world, realised the truth, and came back to the world to preach it. There was immediate response from the people and he got disciples and followers. Eleven learned Brahmins were the first to accept his discipleship and became ascetics. They were the heads of ganas of ascetics, and as such were called ganadharas. They remained faithful to their teacher throughout their lives. Indrabhūti Gautama was the eldest disciple of Mahāvīra. He was very fond of his Master, and had numerous intersting dialogues with him. Mahāvīra was never tired of answering questions and problems of various types, scientific, ethical, metaphysical, and religious. He had broad outlook and scientific accuracy. His answers were never vague or mystifying. He had firm conviction and resolute will. His tolerance was infinite. He would never surrender a single point in argument about spiritual conviction and ethical conduct Right conduct is conduct according to right conviction Right conviction is conviction based on spiritual realisation. A man of right conviction and right conduct has fear from none and tolerance for all. Mahāvīra always surrendered his body, but never his spirit. Retention of the spirit demands surrender of the body. Suffering and penance are the conditions of freedom. Mahāvīra was a cold realist. He had not faith in warm idealism He had immense faith in human nature, but he always insisted on vigilance against indolence, physical, moral and spiritual He is reported to have once exhorted his favourite disciple Indrabhuti Gautama to always retain strenuousness in the following words ; 'You have well nigh crossed the great ocean Why do you loiter on the shore ? Make haste to pass on the other side. Do not be indolent, O Gautama, for a single moment' Inward strenuousness and affirmation of spirit is sometimes associated with outward passivity and negation of life. This is not ununderstandable. Life is an evil so long as it is rooted in desires. Negation of life rooted in desires is not an unsocial act It is but reinstatement of the society in harmony with the laws of the spirit. It is self-contradiction on the surface for the sake of self-realisation in the depth. In this sense, individualism is not incompatible with social progress. Mahāvīra was never indifferent to the well-being of his Sangha. He worked strenuously for it and took interest in the minutest details of the organisation. One is amazed to find in him this rare combination of absolute negation of desires and immense interest in action Mahāvīra was neither a 'delicate mystic' nor an 'energetic prophet'. He was a thoroughgoing rationalist who would base his action on his conviction, unmindful of the context of established custom or inherited tradition. This is the keynote of the personality of Lord Mahāvīra.

The Last Teacher.

By Śri W. George Trott, Boi[illegible] (England)

[श्री० जार्ज ट्रॉट सा० अंग्रेज भव्य विचारक हैं। उन्होंने विवेकसे प्रेरित होकर जैनधर्म धारण किया है। इस लेखमें उन्होंने अपनी दृष्टिसे अन्तिम तीर्थंकरका चित्रण किया है। वह लिखते हैं कि परमात्मा महावीरने शरीर-बन्धनसे मुक्ति पाई था। मुक्तिमार्ग सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है। सुन्दरतम कला है यह और उससे सबकी आशायें और आकांक्षायें पूरी होती हैं। किन्तु लोक दुःखमें फँसा है और मिथ्या विचारधारामें बह रहा है। मुक्तिमार्गकी [illegible] नहीं है। जबतक लोककी यह मिथ्या स्थिति रहेगी, सुखशान्ति [illegible] नहीं हो सकेगी। अतएव इस स्थितिको बदलना आवश्यक है। राजनैतिक चालोंसे इसको बदलनेके प्रयत्न विफल होंगे। अतएव राजनीतिज्ञों और विशेषतः स्वतंत्र भारतके नवयुवकोंका कर्तव्य है कि वह भ० महावीरप्रणीत अहिंसासे अपनी राजनीतिको अनुप्राणित करें। तबही लोकमें संयम, समता, सहनशीलता, दया आदि भावनायें जागृत होंगी, और उनसे लोक सुखी होगा। भ० महावीरके महान् आत्मबलने लोकको सत्य, शान्ति, प्रेम और दयाका परिज्ञान कराया था। भ० पार्श्वनाथके उपरान्त [illegible] फैल गये थे। फलतः दारिद्र्य, दुःख, भय, शोक, अज्ञान, ईर्ष्या, वासना-प्रभृति दुर्भावोंका राज्य हुआ था। महावीरकी महान् आत्माके दिव्य सन्देशोंका प्रभाव लोकमें कार्यकारी था। तीर्थंकर भगवान्का साक्षात् बता देता है: 'सुख कहां है?' उनके उपदेशने मुक्तिमार्ग बताया है। मानवहितकी यह सबसे बड़ी देन है। अल्पकालमें हम सब एक दिन ऐहिक लीला समाप्त करेंगे और दूसरा जन्म पायेंगे। यह जन्म-मरणका चक्र चलता रहता है। इसका अन्त उस क्षणसे प्रारंभ होता है जिसमें व्यक्ति मुक्तिमार्गमें श्रद्धा लाता, उसका ज्ञान पाता और आचरण करता है। यह मानव जन्म पुण्य योगसे मिला है-सौभाग्यसे सत्यके दर्शन हुए हैं। इस अवसरको चूके तो लाखों वर्षोंतक भटकना है। इसे कलपर टालना ठीक नहीं। भ० महावीरका जन्म सन् ५९९ ई० पू० हुआ। तीस वर्षके जब हुए तब उन्होंने घर छोड़ा-साधु हुवे। बारह वर्षोंतक तप तपा और केवली हुये। लोकपूज्य होकर महावीरने ३० वर्षोंतक धर्मोपदेश दिया। उन्होंने कहा: अहिंसा परम धर्म है। जीवोंकी रक्षा करना मानवका कर्तव्य है। मानवको बढ़ना है तो वासनासे उठे और कषायोंको जीते। का० प्र०]

Liberation of the soul from the shackles of the body was accomplished by the supreme Lord Mahāvīra, the last of the twenty-four world teachers of Jainism. The way of liberation is the greatest of all sciences, the finest of all arts, the attainment of every hope, and the fulfilment of all ambitions. Because the world is evil and the hearts of men are shrouded by wrong thinking and wrong ideals, there is no place for the science of Liberation. Until that place is found and acknowledged, mankind will be unhappy and continue to live in misery, surrounded on all sides by suspicion and fear.

This unhappy state of affairs need not continue. Everywhere men are striving—through political action—to change the face of the world. I say this to all men of politics, particularly to the young men of free India, that your political theory—no matter how perfect or logical it may appear—is empty and

without merit unless it has behind it the teaching of ahimsā laid down by the omniscient Lord Mahāvira.

The aim of politics, as indeed with all right human aims, is the well-being and happiness of every member of the community. People cannot be contented, either in themselves or with each other, unless they possess the habit of mind which exercises forbearance, trust, mercy, tolerance and the like. Where do we find these qualities? Only in the soul which is fortified by religion and the true spirit of ahimsā.

The Lord Mahāvira, by his great power and soul-force, inspired the souls of entire provinces to heights of pure love, peace, understanding and joy unknown in this world since the days of the preceding Tirthankara, Lord Pārshvanātha. Poverty, fear, mis-understandings, envy, lust were all swept away by the awesome vibrations of his magnetic soul. The sight of the Tirthankara is a sufficient answer to the question-where is happiness? His teachings constitute the way of Liberation, and are the greatest of all contributions to human welfare. His footprints-for all to follow-lead to Nirvāna, where the soul lives eternally in perfection of joy, perception, knowledge and power.

In a comparatively few years time, the writer of these words and all who read them, will be gone from this world, to be born again somewhere, and again to die And so it will go on, life after life, endless unless, we make up our minds to believe in the way of Liberation, to learn and acquire knowledge of it, and then to take action to carry out the eternal principles. This opportunity may not come our way again for thousands of lives, may be for millions of years, because remember the soul is eternal Only in a rare human incaranation does one come across the truth, and even then, many are the difficulties which beset our faith and practice. Even tomorrow may be too late.

Lord Mahāvira was born in 599 B.C. At the age of thirty years he abandoned the life of the world and became an ascetic. Twelve years later the flood of omniscience swept away for ever the bonds of karma, and his soul perceived all things in space and time.

During the thirty years following, when Mahāvira was a world-teacher, he proclaimed the truth that man is the master of his own destiny-the Jina or conqueror. To refrain from killing and injuring is the only true religion. The foes to be conquered are the four passions of anger, pride, deceit and greed, which are present in the soul. The greatest gift that man can make to his fellow-men and the lower creatures is the gift of protection and safety, that they shall come and go without harm or interference.

To cease causing injury or death to living creatures-this is ahimsā, the highest religion. Ahimsā is the way of liberation.

Socialism And Śrī Vīra

By Syt. Harisatya Bhattacharya M. A.; B. L.. Ph. D., Howrah

[आजकल सामाजिक विषमता ठौर ठौर पर दिख रही है। डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्यजीने उस विषमताका कारण आर्थिक असमीकरण बताया है, जो मानवकी असंतोष वृत्तिसे उत्पन्न हुआ है। आजका संघर्ष धनिकवर्ग और दरिद्र-नारायणके मध्यका है। विनाशसे बचनेके लिये मानवको आर्थिक असमीकरणका अन्त करना होगा। एक ऐसे मानव समाजका निर्माण आवश्यक है, जिसमें गरीबसे गरीबकोभी जीवननिर्वाहकी वस्तुयें सुगमतासे मिल सकें। डॉ० सा० उस मनोवृत्तिका विरोध करते हैं जिसमें बलात् धनिकोंकी सम्पत्ति छीननेका विधान है। यह तो खांसी लूट हुई। इससे स्थाई शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। इस मनोवृत्तिका सुव्यक्त रूप साम्यवाद है, जिसके अनुसार सम्पत्तिका राष्ट्रीयकरण होना उचित है। सब सम्पत्ति सरकारकी होगी और सरकार उसका समतुल्य वितरण कर देगी। यूरपके कतिपय देशोंमें ऐसा हुआ है। परंतु इससेभी समस्या हल नहीं हुई है। उन देशोंके मानवोंका असंतोष मिटा नहीं है। व्यक्तिगत आकांक्षाओंका होना मानवके लिये स्वाभाविक है। उसकी इच्छा और आवश्यकताको व्यक्ति स्वयंही ठीकसे समझ पाता है। अतः मानवप्रकृति अपनी इस स्वेच्छावृत्तिमें बाहरका हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकती। इसी लिये आर्थिक राष्ट्रीयकरणसेभी मानवका असंतोष नहीं मिटा है। डॉ० सा० पूछते हैं कि आखिर इस असंतोषको मेटनेका उपाय क्या है? और स्वयंही उत्तर देते हैं कि तीर्थंकर महावीरकी जीवनघटनाओंमें यह उत्तर अन्तर्हित है। वीर जन्मसेही संतोषी थे-दूसरेकी चीज हड़पनेसे वह दूर थे। गृहत्यागी होनेके एक वर्ष पहलेसे उन्होंने स्वेच्छासे अपनी धनसम्पत्ति बांटना शुरू की थी और दीक्षा समय अपने तनके कपड़ेभी दूसरोंको दे डाले। केवलज्ञानी होने पर तो वीरको वस्त्र और आहार दोनोंही अनावश्यक हो गये। वह पूर्ण संतोषी भी बने थे। अतः वीरके आदर्शका अनुकरण करनेसे मानव संतोषी हो सकता है। उसका हृदय परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक मानव अपनी आकांक्षाओंको जीते और जो उसके जीवननिर्वाहके लिये आवश्यक हो, वहही वह अपने पास रक्खे-अधिक संग्रह न करे। उसके संतोषसे समिष्टि संतुष्ट होगी और तब मानव सुखी होगा। अतः महावीरका अपरिग्रहवादही लोकको सुखी बना सकता है। —का० प्र०]

The problem of problems today is how to stop the struggle between the rich and the needy. This problem is troubling and tormenting the leaders of society in every country. On the one hand, we have the wealthy section; people of this section have plenty of food, clothing and lodging; enough of provision for the future and bank balances to meet any eventualities Yet are they hardly contented; they are struggling hard to augment and increase what they have had,-struggling restlessly, never caring to think where they would stop On the other hand, there is the sweating mass, toiling and moiling for scanty meals, hardly sufficient for keeping their bodies and souls together. In winter they have no warm clothes, in summer, they have got to submit the oppressive heat; and in the rainy season, showers and thunder play ruthlessly

on their bare heads. There is, .again, a third class of men, the so-called middle class people, whose lives are a continuous tale of woe and discontent; in society, they have got to put up the appearance of the wealthy section of the community, whereas, in reality, they are as poor, if not poorer than the labour class. The condition of a middle class man,—a 'Bhādra-lok' as he is ordinarily called,—is really a miserable one, in so much as in addition to all the difficulties of a work-man, he has to struggle hard ceaselessly, for passing for what he is not.

Really it is a strange time, we are living in!

Is then the world leading towards a ruin? The answer is assuredly 'Yes',—if a solution of the *inequalities* is not to be found and worked out as soon as possible. There can be no difference of opinion about this that the solution lies in the establishment of a social order in which articles of livelihood will not be beyond the reach of any of the meanest in any way. In other words, the state of the society should be made such that the poor in it would not be deprived of their meals and other necessaries of life.

The extreme revolutionary view in this connection has been that the needy and the hungry,—the exploted mass,—should openly rise up and snatch away the riches of the rich, by force. This may be one way of doing away with the inequality of the wealth-distribution, but this would be temporary solution after all and can only establish a reign of terror.

A more reasoned-out and circumspect suggestion has been to vest all wealth in the state. It is said that if this measure be fully worked out, it would take away the excess wealth from the hands of the rich and distribute it among all the people equally and in accordance with their needs, irrespective of their ranks, status and tradition. This is not the place to make a critical examination of this view. This suggestion is said to have been acutally worked out in some of the present day European countries, though the considered opinion of many is that even in those countries, the carrying out of the measure has not yet reached compeletion, but is still in the stage of experimentation.

One thing that is often urged against the above measure is the apprehension that it would blow out all feelings of individual freedom In a country in which the state determines what one is to do or not to do or how much one is to get, the individual has not liberty of action. And a man deprived of his freedom of choice and action is in no way better than a conscious automaton.

The question thus recurs,—How to let the poor live and yet, not to *interfere* with any one's liberty?

One of the founders of the present day socialism suggested that every man at a certain stage of his life should say it to himself,—"Here I will stop; that which I have already earned is enough and I shall not try to get more."

This suggestion is certainly good If followed, it will stop wealth from going into the hands of those who have already got much of it and afford opportunities for earning it to those who have real needs of it. In a word, this suggestion leads to a solution of the acute economic problem which faces the human societies of to-day The difficulty, however, in the way of this undoubtedly salutary suggestion is that an ordinary man will not halt from his money-making pursuits, if State interference or any pressure of the sort from outside be not brought to bear upon him.

What, then, is the way?

We think that the life of the great Jaina Teacher, Śrī Vīra will show us the way, where the heretofore suggested ways have seemed to be either no ways or but incomplete ways And here my Jaina friends will kindly pardon me, if I refrain from looking upon the events of the Arhant's life from the usual religious standpoint but view them in a firmly social and economic perspective.

The remarkable points in Śrī *Vīra's* life are (i) that he from his very childhood was of an extremely unaggressive and non-acquiring disposition; (ii) that for one full year before his renunciation of the world, he was giving away all his wealth and that at the time of his taking to an ascetic life, he distributed the very clothes and ornaments which he had on his body; and (iii) that when he attained the final self-realisation he went on without any food or clothing whatsoever (as the Digambaras say) or atleast reduced the claims of flesh to their minimum point (as the Śwetāmbaras say). The first of the above points in Śrī Vīra's life is the sought-for clue to the possibility of a sensible man's refraining from further acquisition of wealth at a certain stage of his life. If a socialist-minded man is to stop from money-making pursuits and if the state-interference or out-side pressure in this matter is undesirable,-then the urge must come from within. For the socialistic self-control, the background of non-avaricious disposition is psychologically necessary. This spirit of renunciation was a marked trait in young Śrī Vīra's character and made it possible for Him not only not to hanker after worldly possessions but to give away even what he had,-as noted above in the second remarkable act in His life That first point in Śrī Vīra's life, viz, a non-aggressive disposition from his childhood not only prepared the way for his later liberal acts but saved his freedom and this is the most important thing here to note. He gave away all that he did not want, not because he was compelled to do so by any out-side authorities but because of his own free will and choice. The life of Shri Vira thus teaches us a lesson which the modern Socialism would profit by always remembering,-that in order that a human being may voluntarily consent to and work for an equal distribution of wealth, his character and not merely the external atmosphere and the outside circumstances surrounding him,-should be built up in an appropriate manner.

The second and the third points in Śrī Vīra's life which we have described above illustrate the socialist ideal and attitude as brought into actual practice. Indeed, they do, so in a far more thorough and positive way than the conduct of a confirmed socialist of today. The latter would be satisfied with an equal distribution of the necessaries of life among the members of his society and he has always a lurking desire in his mind for getting more, provided the social distribution made it possible But Śrī Vīra's act, conduct and practice went much farther than that. He actually gave away all that he had, keeping nothing for himself; he reduced his necessaries to their barest minimum, - in the words of Thomas Carlyle, made his, "claim, of wages a Zero" literally. And he banished from his mind all traces of the desire to earn or get possessed of more. Thus it may be said that if the motto of the socialist is to 'live and let live' to Śrī Vīra the idea of preserving his own life was perfectly foreign and the question of letting all beings ("the whole sentiment creation"—I. P. Mill) was the sole and the all important one

This practice of absolute renunciation, as we find in Śrī Vīra's life, should not be thought of, as of no practical utility. To us it appears that this spirit of renunciation is the indispensable pre-condition of the realisation of the socialist ideal. It is true that the people of this materealistic age would not be able to practice renunciation to the extent and in the manner, done by Śrī Vīra. But unquestionably, He is the transcendant ideal, to be followed as much faithfully and as much closely as possible. It is undeniable that some amount of renunciation or 'Aparigraha', as it is called in the Jain Ethics, should be the fundamental principle of all socialist philosophy and 'Bhogopabhoga Parimāna' or the progressive minimisation of one's needs as well as 'Digvrata' or systematic limiting of one's spirit of activities are the basis of the socialistic course of conduct Śrī Vīra's life shows the fundamental principle upon which socialism is to be founded and the way in which its aim and ideal can be progressively worked out

Lord Mahāvīra.

By L. A. Phaltane, Esqr. B. A., LL. B., Pleader, Islampur (Satara).

[प्रस्तुत लेखमें श्री फल्टणेजीने भ० महावीरके जीवनकी विवेचना अपने दृष्टिकोणसे की है। महापुरुषकी सार्थकता लोकपर उसके प्रभावसेही आकी जाती है। जगतीमें हिंसा और अहिंसाका संघर्ष बराबर चलता रहता है। जब हिंसाके राज्यमें दुखशोक बढ जाते हैं, तब महापुरुष लोकमें चमकते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवने पहले पहले अयोध्यामें अहिंसा धर्मका प्रचार किया था। उपरान्त अन्य तीर्थंकरोंनेभी उसका प्रचार किया और वह दूर देशोंमें फैला। क्रमशः जैन धर्मका केन्द्र पूर्वभारत — बिहार और बंगाल हुआ। तीर्थंकर पार्श्वके पहलेसे वह इस प्रदेशमेंभी हतप्रभ हुआ। हिंसाकी भान्यता लोगोंमें बढी। बनारसमेंभी हिंसामत फैला पार्श्वको नगर बाहर कमठ हिंसक नागयज्ञ करता हुआ मिला — पार्श्वने उन दोनो नागोंको बचा दिया था। साधारणतः ये नाग पशु पर्यायके सर्प माने जाते हैं। हमारे विचारसे वे नागलोकके मानव थे — तभी तो वे पार्श्व उपसर्गको मेंटनेके लिये आये थे। यह हिंसामत बौद्ध और जैन शास्त्रोंमें " मार " नामसे अभिहित हुआ है। भ. पार्श्वने इस हिंसाके मतपर विजय पाई थी, इसलिये ही वह " मारजित् " कहलाये थे। पार्श्वतीर्थंकरके पश्चात् कुछ काल बीतनेपर यह हिंसामत फिर जोर पकड गया। बुद्ध एवं अन्य मत प्रवर्तक उससे मोर्चा लेनेको आगे आये — किन्तु वे आपसमेंही तर्क-वितर्क करनेमें जुटे रहे। लोकमें अज्ञान और असंतोष बढता रहा। इस दयनीय लोकस्थितिमें भ. महावीरका जन्म हुआ। मानवसमाजका आमूलचूल सुधार करनेके लिये वह मुनि हुये और बारह वर्षोंकी साधनामें उन्होंने घोर तपस्या की। वह सर्वज्ञ हुये। कैसी थी वह तपस्या? कुछ ज्ञात नहीं। भ. महावीरको उनके निकटतम शिष्य गणधरभी पूरी तरह समझ नहीं पाये थे। अतः बाह्य वातावरणसे इस प्रश्नका उत्तर पानेका प्रयास उपेक्षणीय नहीं। क्या महावीरका संदेश आत्मस्वातन्त्र्य या आध्यात्मिक मुक्ति तक सीमित था अथवा जीवनकी अन्य अपेक्षाओंके लियेभी वह उपयोगी था? क्या महावीरने तत्कालीन समाजका लौकिक और पारलौकिक समन्वय किया था? यदि किया था तो किस रूपमें? इन प्रश्नोंका उत्तर अभी तक कहींसे नहीं मिला है। महापुरुषोंको समझना सुगम नहीं। उनके एक गुणपर मोहित होकर मानव अन्य गुणोंको नहीं देखता। अतः उनका सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। महावीरके उपरान्तकालमें अनेक मंदिर, विहार, स्तूप, मूर्तियां अद्भुत कलाके बने जिनको देखतेही बनता है। और विविध विषयोंपर उच्चकोटिका साहित्यभी रचागया। देशमें बडे २ राजा महाराजा और सेठसाहूकार हुये जिन्होंने भारतका नाम विदेशोंमें चमकाया। लोक भारतवर्षको आदर्श देश मानकर यहांकी यात्रा करनेको लालायित हुये। देश खूब समृद्धिशाली हुआ। पूर्व-महावीरका भारत ऐसा नहीं था। पहलेकी कोई धार्मिक साहित्यरचना और मोहन कला नहीं दिखती। यह सब महावीरके संदेशकी विशालता और उपयोगिताको सिद्ध करती है। जो मत तब चले उनमें जैन और बौद्धही शेष है। दोनोंमें साम्यभी है। सातवीं शतीसे इनमेंभी संघर्ष चला था। अतः महावीरने जीवनके किसी पहलूको अछूता नहीं छोडा था — वह मानवसमाजका सर्वतोमुद्र हित साधनेके लिये अवतरे थे। खेद है कि उनके ऋषिशिष्योंने आध्यात्मिक शिक्षाके अतिरिक्त उनकी अन्य शिक्षाओंको सुरक्षित नहीं रक्खा—अन्य शिक्षायें लुप्त हो गईं। इलोरा आदिस्थानोंमें गुफाओंकी दीवारोंपर मानव जीवनकी जो लीलायें उत्कीर्णकी हुई मिलती हैं उनसे स्पष्ट है कि मानवकी

सामाजिक, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति और विकासका रूप भ. महावीरकी शिक्षानुसार क्या हो सकता है? उनमें मानव पूर्ण विकसित हुआ है। महावीरकी शिक्षा निस्सन्देह मानवजीवनकी प्रत्येक दशाका सत्य चित्रण करके उसे विकासोन्मुखी बनाती थी। महावीरने स्याद्वादसिद्धान्तसे जीवनका सर्वांगी विकास करनेका उपाय बताया था। वह अहिंसाके महान् उपदेशक थे। उन्होंने मानव मानव, मानव तिर्यञ्च और मानव-अजीवके सम्पर्क-सम्बन्धका विज्ञान निर्धारित किया था। भ० ऋषभदेवकी तरह उन्होंने अपने चहुं ओरके क्षेत्रका अध्ययन किया था। फोनेसिया, मेसोपोटेमिया, चीन आदि देशोंके ज्ञान-विज्ञानको जाना था और [illegible] विशाल अध्ययनके पश्चात् उन्होंने मानवको महान् ज्ञान दिया और रत्नत्रय धर्म भेंट किया: सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र मुक्तिका मार्ग है। उससे लौकिक सिद्धि और आत्मशुद्धि मानवको मिलती है। महावीरका यह विशालरूप है। वह एक धर्मनेता ही नहीं बल्कि लोकके महान् नेता थे, जिन्होंने अपने विज्ञानसे सबको उन्नत बनाया। —का. प्र.]

Harbingers of peace and happiness, restorer of harmony and goodwill in a place filled with insecurity, strife and violence and ameliorators of the disordered condition of the world may be the discription of the great men like Lord Mahāvīra and Bhagwān Buddha who were the greatest personages in India about twenty five hundred years ago. In this article I propose [illegible] write as to what I think about the teachings and works of Lord Mahāvīra, the propounder of the Jaina religion.

The nature and extent of greatness or otherwise of a personage is to be measured from the influence he exercises and the print he creates upon the people of his times and leaves behind him upon the succeeding generations. A great man is he who is able to transform the whole face of the society and mould the same in the direction of the principles of his teaching. When the spirit of social life ebbs and the sands of sorrow and unhappiness begin to scorch the masses toiling in the sun and when the life of the society gets corroded by false and misleading ideas, then arises an occasion for the rise of a great man by whose advice, order and harmony are restored in the society.

The experience shows that the forces of violence and those of non-violence are in constant struggle with one another. The ascendency of the principle of non-violence ensures peace, prosperity and goodwill [illegible] the society, while the principle of violence, securing an upper hand brings bloodshed, poverty and insecurity of life. The principle of Ahinsā (non-violence) was first preached on the Indian soil in the city and province of Āyodhyā by Lord Rishabhadeva, the first Tīrthankara of the Jainas. Many Tīrthankaras who followed Him carried the message of love to countries far and wide. But the centre of Jaina religious activities gradually drifted towards eastern India (Pūrva Bharata) Bihar and Bengal. In this eastern part of India also the flame of Jainism had begun to burn with dim light for [illegible] very long period previous to Lord Pārshva. During that period the religion of violence had gained so firm [illegible] ground on that part of the country, that that religion had

actually reached the city of Benares (Kāśī) where Lord Pārshvanātha was born. The story goes that while Prince Pārshvanāth was taking a stroll outside the town of Benares an ascetic named Kamatha was observed by Him ready with preparation to perform a Nāga sacrifice The ascetic was called upon to open the bundle of wooden logs which he had brought for the sacrifice, where-upon it was found that the bundle contained two young Nāgas who were released by the Prince. The Jaina tradition asks us to believe that the two young Nāgas were two young serpents but it appears most probable that those two Nāgas must have been two children of Nāga tribe for later on when Lord Pārshvanāth entered upon a life of penance, these very Nāgas are said to have come to His rescue when He was being troubled by the ascetic named above. This cult of violence was called a religion of Māra in Jaina and Buddhistic scriptures and as Lord Pārshva secured a victory over the religion of violence He was called 'Mārajit' conqueror of Māra (मारजित् लोकजित्जिनः Mārajillokajjit Jinah = 'Jina is a conqueror of Māra and a conqueror of the people.) Some years after Lord Pārshvanāth this religion of Māra again raised its head and began to gain ground on the Indian soil. A re-action against this violence cult had already set in and about the time of Lord Mahāvīra there had arisen several teachers, who were doing their level best to combat the evil. The Buddhistic records give us to understand that cowherds and shepherds were compelled to give their animals in hundreds to be slaughtered by the kings and chieftains in their sacrifices in the name of religion. The country was full of small petty states which were always on quarrelling terms with one another. Life had grown most unsecure and fraught with great difficulties and sense of despair was prevailing all over the country. At this chaotic juncture of time Lord Mahāvīra was born He made a survey of His times; renounced his worldly life with a resolute purpose of modelling the whole society, went through a long period of twelve years penance, during which He performs great austerities which resulted in making Him a possessor of complete knowledge, power and bliss and then set out preaching His Gospel to the world So great were his austerities that he had conquered His passions and moved about without any garment on his person What was the nature of His austerities and what were the particulars of His meditation or thinking, no religious book is able to say anything. Though His tenderness and compassion embraced all forms of life He was so grim and unapproachable that His word was taken as final, nobody questioning its correctness. It appears that even His closest disciples the Ganadharas—who were considered the next in greatness to Him have not understood Him in all the details of His being. Many times circumstances speak more eloquently than the books themselves. We have, therefore, to study the circumstances of His times and of the times after Him and form an idea for ourselves as to what must have been the full and true significance of His entire teaching.

Was His preaching confined solely to the question of the emancipation of the soul? or was it all-wide embracing all modes of life and forms of being? Was He able ■ effect harmonies adjustment between temporal and spiritual upkeep of the society of His times? and if so what was or must have been the form and method of His preaching? Nobody has, upto now to my knowledge, tried to approach this subject in this way.

Greatmen, it is well said, are generally not understood. The various phases of their activities are so bright, dazzling, comprehensive and far-reaching that the ordinary man ■ unable to perceive, understand and digest all of them at once Man's vision is dazzled even by one phase and the result is that all other aspects pass away unnoticed Under such circumstances historical perview of their activities and their consequences become more effective and important.

Indian history stands divided in two big periods—one that passed before Lord Mahvāira and the other that followed Him. Best carvings in hills and dales which baffle the understanding, skill and workmanship of the present day, stupas and monuments and images that mount into the air, and best literature on varied subjects, appeared in the latter period. Great emperors, warriors, merchants and religious men flourished in the latter period and raised the name of our country in the eyes of the foreigners making them look to Bhāratvarsha ■ an ideal land fit to be visited for both temporal and religious education. The country rolled in opulance owing to great commercial activities carried on in this country and abroad. Compared with the above what was there in India in pre-Mahāvaīra times A long period preceding Mahāvira time was a great void having no literature, no specimen of workmanship, no merchantile activities and no individual who could show his greatness or valour to the foreigner. Be it remembered that the sons of Magadha and Kalinga in post Mahāvīra time rose to greatness and ruled over India and outside countries securing permanent colonies for the Indians in countries outside the limits of Āryāvarta. Before Lord Mahāvīra began ■ preach his gospel several teachers had opened their schools and were trying to explain to their small clusters of students, their views as to how to solve the knotty problems of their times. But they proved at best debating societies providing an intellectual recreation ■ the participants The names of all of them have fallen into back grounds and only two personages Bhagawā Buddha and Lord Mahāvīra came into prefront. It has to be remembered that Buddhism and Jainism are not far removed from each other. Groundwork upon which they stand is the same. Really speaking Buddhism and Jainism worked hand-in-hand like sister religions practically upto the seventh century A. D. when animosity between them began to appear. The word Jina (जिन) is applied to both Buddha and Mahāvīra. Both of them are described as Mārajit (मारजित्). There are some minor differences between the preachings of two and those differences might ■

attributed to imperfect understanding or sectarian bigotry of their disciples. All the above aspects have to be considered before forming an idea about the mission of Lord Mahāvīra. This shows that His teachings embraced all the activities of the life of the country temporal and spiritual. He infused into the society a new driving force, the result of which was that the whole country rose up, awakened as one man, possessed with all qualities necessary for making himself and others happy in all walks of life and beyond Lord Mahāvira and Buddha were the bearers of light which dispelled the darkness in India and elsewhere. It is a most unfortunate matter that His close disciples did not think it wise to reduce His teachings verbatim in His life time as Boswel had done in the case of Doctor Johnson. The idea of reducing the teaching of the Lord to writing arose some generations after the final beatitude of the Lord, and those who set upon the writing of the teaching were ascetics whose goal was to secure emancipation of the soul. The other aspects of His teaching were lost sight of Hence the tragedy

Cave-carvings of Ellora and other places have appeared in post-Mahāvīra time as a result of His teaching What should be the social, physical, mental and spiritual-development of man and in what way man should look upon himself and other creation, appear clear from the figures carved out in those carvings There the man appears as the best developed model figure becoming with strength, humility, grandeur and serenity, having all about him abundance of material property. This, the carvings say, was the teaching of Lord Mahāvira This may be described as an all embracing blissfulness, vigour and plenty. The author of Suprabhāt-Stotra (सुप्रभात स्तोत्र) describes Lord Mahāvira as Syādvādasūktumanidarpana Vardhamāna (स्याद्वादसूक्तिमणि दर्पणवर्धमान) He was like a polished mirror explaining Syādvāda or the theory of allsidedness. And unless the theory of Syādwāda of Lord Mahāvira is understood in the above light it cannot be properly understood at all. 'Renunciation in plenty' or 'renunciation and fellowfeeling with an ability to create an atmosphere of plenty' was the essence of the teaching of the Lord. He directed the society which was rolling in hatred, violence and in self-killing activities towards non-violence, agricultural commercial pursuits, sculptural and literary arts and foreign religious and temporal activities with which the spiritual emancipation was beautifully combined.

It is said by many that Lord Mahāvira was the greatest spokesman of the doctrine of Ahinsā. This is true no doubt but what He primarly taught was how man was related to man, the sub-human, and the non-living world and how he should behave in order to entricate himself from the bondage of the non-soul, without causing any harm to the worldly things about him. There were several other thinkers in those days, who were trying to mould the society with varying success. But none of them appeared to have possessed any formula which would solve all problems of life and matter, maintaining complete consistency all over.

The most important principle taught by the Lord is contained in the following sūtra. जीवाजीवास्रवबंध संवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।—तत्त्वार्थसूत्र. प्रथमोऽध्याय सूत्र ४

Jivājivāsrava bandha samvara nirjarā mokshāh tatvam.—Chapter I Sutra 4 Tatwārtha sūtra.

Meaning :—The truth lies in understanding how the non-living element enters into the living element, remains there, how the entrance is to be checked, how the non-living matter is to be purged and how the soul (living element) is to be made completely free.

This sūtra, if explained and understood in all its perspectives is capable of affording all solutions which would explain the relation between man and man, man and universe and the living and the non-living. To understand and to believe in the inter-dependance and nature of the living and non-living, as explained by the Syādvāda method of Lord Mahāvira is called 'right faith' (Samyak-darshana सम्यग्दर्शन) according to Jainism, and to acquire correct knowledge based on right faith, and action or conduct according to that knowledge are respectively called 'right knowledge and right conduct' (सम्यग्ज्ञान and सम्यक्चारित्र Samyakajñyāna and Samyaka chāritrya). These three together lead one to liberation and save one from the sorrow of this sansāra. But the disciples, who were in close contact with the Lord, being the students for soul-emancipation only, these principles were construed in the light of renunciation only and were not used for the interpretation of the various knotty problems of actual life. Hence the present Jaina sages appear to be altogether aloof and hostile to social interests. In this way the best and the most enthusiastic brains of the society have fallen out of the society and have become of very little use for its guidance and for amelioration of its conditions.

The principles of Lord Mahāvira as gathered from the effects of this teaching show that man was made the pivot round which the whole of His teaching was moving. The idea, which is governing the minds of other religionist that there is an unknown force or entity by whose favour or displeasure the whole universe is ruled, was unknown in His teaching. In addition to the school of ascetism there must have been started other schools which were intended to ensure the social upkeep solidarity and harmony but as no attempts were made to reduce the teachings with regard to these other schools we do not know anything about them in book-form.

On attaining proper or right knowledge (सम्यग्ज्ञान) (Samyakjñyāna) after completely mastering right faith and on right translation of the same into conduct concerning self and the society, the mind becomes full and endowed with qualities creating perfection in it and then the mind refrains or weans away from the tendency of causing injury to another and this is called the

vow of Ahimsā or non-violence, which is the first of the five vows according to Jainism The remaining four vows namely the vow of truth, the vow of non-stealing, the vow of celibacy and the vow of non-attachment to material things similarly arise and carry great weight in Jaina thought. Mere refraining from causing harm to another does not by itself, bestow any merit on the individual and this is made evident by the Shāstras which say Pramādāt-prānavyaparopanam himsā (प्रमादात्प्राणव्यपरोपणंहिंसा.) Violence is that which is caused by pramāda i e. under the influence of passion or negligence.

This would indicate what was originally conceived by the term Ahimsā or non-violence.

By application of the new method shown above we have been able to form some idea of the activities set in motion by the Lord for the readjustment and development of the society of His time: We have now to see what might have been the sources from which He might have collected the information necessary for the purpose of His activities, We think that the conditions of the province of Ayodhyā at the time when Lord Rishabhadeva inaugurated His reforms in that province were similar to the conditions obtaining just before Lord Mahāvira started His mission. Achārya Jinasena says in his Mahāpurāna as to what was thought by Lord Rishabhadeva at that time :—

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता ।
साद्य प्रवर्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः ॥

Purvāpara Videheshu yā sthitih samavasthitā
Sādya pravartnīyātra tato jivantyamūh prajāh

Meaning :—' The condition or civilization which was existing in East and West Videh countries must be brought into existence in this country. Then alone will these people live. Having thus Lord Rishabhadeva introduced into the country of Ayodhyā all the cultural reforms which were existing in Videha-kshetra. Similar inference can be drawn as regards Lord Mahāvirā also.

It is wellknown that long before the time of Lord Mahāvira the Phoenicians of the west were great experts in merchantile activities and were carrying on a big caravan traffic from Egypt to the Indian border, where too they had a seat of their culture in Mahenjo-Daro and Harappa. The Egyptians and Mesapotemians were famous for their sculptural arts from very ancient times. The science of astrology had attained a very high stage of perfection in Mesapotemian provinces Circumstances were happening in Persia and in the neighbouring countries to her west which culminated in esablishment of empires there . China had secured fame as a great industrial country. These circumstances must have been sufficient for the quick

understanding of Lord Mahāvīra. It appears that Lord Mahāvīra took advantage of all those happenings outside the borders of Āryāvarta and introduced them in this country adding to them His principles of Non-violence (Ahimsā), non-attachment (Aparigrapha) and Syādvāda and thus raised Āryāvarta far above the level of the adjoining countries. Unless this is so construed how can the long period of twelve years of His penance and austerities be explained? His disciples, being altogether ignorant of His previous preparation and what was going on outside this country looked upon Him with astonishment and wonder when they noticed the numerous activities emanating, as if, by magic from Him and in the midst of which He remained altogether unattached and took Him to be omniscient He appeared to have discouraged the ancient and time-honoured system of yakshas and encouagred the orders of Shramanas and Yatis The Shramanas were required to approach every layman who was to be actually taught by them by taking pains (shrama = to take pains) and Yatis were saddled with the duty of raising the standard of the householders (yat = to strive).

His emblem was lion. This was perhaps the indication that the non-violence which He preached was the non-violence of the brave and not of the coward.

It has already been remarked above that before Lord Mahāvīra and Gautama Buddha began their preaching, there had arisen several teachers who had their own schools. Each of those teachers had his theories about soul, God, matter, predestination etc. many of which looked most inconsistent and apparently mutually destructive. Gautama Buddha appeared to have got tired of the intricacies adn delicacies of those theories and exhorted his disciples not to worry about those theories and asked them to focus their attention on Man and on the question as to how Man can be made happier His was a religion of a kind of nescience Lord Mahāvīra, on the other hand, approached those theories from the Syādwāda point of view and without destroying or ignoring any of them He collected together the best of them all and built his edifice of all-sided religion. He gave Syādwāda mode of reasoning to the world.

Full and complete knowledge based on right faith and translated into right conduct coupled, at the same time, with complete non-attachment to non-soul matters was considered by Lord Mahāvīra as a condition precedent for the final release of the soul from the bondage of worldly life: while notions regarding soul, matter, universe &c. appearing in the Buddhistic canons being dubious and uncertain, the Buddhist school does not appear to have considered that complete non-attachment to worldly matters was essential for the attainment of Nirwāna or final beatitude.

The Significance of the Name Mahāvīra.

By Śrī Kāmtā Prasāda Jain, M. R. A. S., Aliganj.

[प्रस्तुत लेखमें हमने यह निर्देश किया है कि यद्यपि अन्तिम तीर्थंकरका नाम वर्द्धमान था, परंतु उनकी प्रसिद्धि महावीरके नामसे हुई है। अतएव इसमें मुख्य कारण उनकी वीरवृत्ति ही थी। इन्द्रने उनके दर्शन करतेही 'वीर' कहा। चारण मुनियोंने 'सन्मति' कहकर पुकारा। संगमदेवने परीक्षा करके उनका नाम 'महावीर' रक्खा। रुद्रने उनको अतिवीर महावीर कहा। संगमदेव सर्परूपमें उनके समक्ष आया। दुनियाके लोग सर्पको कालस्वरूप मानते और उसे मारनेको दौड़ते हैं। संगमने सर्पका भयंकर रूप धारण करके युवकवीरके हृदय और शरीर दोनोंको टटोला–दोनोंको उसने अनुपम पाया। उनके हृदयमें सर्पको मारनेकी अनार्य भावना जाग्रत नहीं हुई; प्रत्युत उस पशुके अन्तरतमसे पाशविकताका अन्त करनेके लिये उन्होंने उसे वशमें किया था। इसलिये [illegible] वर्धमान वीर थे और महावीर नामसे ठीक प्रसिद्ध हुए। तत्कालीन पशुताका उन्होंने अन्त किया। वह [illegible] क्षमाशूर, तपशूर, दानशूर और युद्धशूर थे। कषायोंको जीतकर सफल जीवन बिताना और पंडितमरणका वीरत्व उनके आदर्शसे प्रगट हुआ। —का. प्र.]

The last Tīrthankara of the Jainas is generally known by the name Mahāvīra. Few would suspect that Mahāvīra is not His name of birth. His parents, Kṣatriya Siddhārtha and Kṣatriyāṇī Triśalā Priyakāriṇī fixed His name as Vardhamāna, because with his birth the wealth and prosperity, fame and merit of the Jñātra clan and of Kuṇḍagrāma increased.[1] He is called as Śramaṇa Vardhamāna in canonical Jaina books.[2] Yet He earned the name Mahāvīra and came to be known as Tīrthankara Mahāvīra. Tradition however, makes it clear that his other names besides Vardhamāna, were Vīra, Mahāvīra and Ativīra-Mahāvīra. The Chāraṇa ascetics gave Him the name of Sanmati, because they foresaw a great intelligence and Teacher of mankind in him, Whose mere look dispelled their doubt and ignorance.[3] Indra, the celestial lord, was pleased to see the child Vardhamāna, in Whom he saw a true Hero and he called Him by the name of VĪRA.[4] Once Indra was praising the great courage of Vīra Vardhamāna, a celestial being namely Sangama, took fancy to test it. Prince Vardhamāna was playing with His companions in the royal grove. Sangama Deva appeared there with its superhuman powers in the form of a huge cobra. Companions of Vardhamāna took to their heels seeing it, but Vardhamāna was calm and quiet. He show-

1. *Asaga-kavi*, Mahāvīra-caritra, Sarga XVII, Sl. 91 & Kalpasūtra, 32-80
2. Kalpasūtra, 32-108 ; Uttara purāṇa, 74.276
3. तत्संदेहगते ताभ्यां चारणाभ्यां स्वभक्तितः। अस्त्वेष सन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः॥ ७४ ॥ २८२ ॥ —उत्तरपुराण.
4. Ibid, 74.276.

ed no tinge of fear. Cobra used its all ferocious strength to subdue the hero Vardhamāna, but it happened otherwise Having been subdued by the great strength and courage of the Jñātra Prince, Sangama the celestial being appeared in its true form before Vardhamāna and paying homage to the Conqueror, called Him by the name of Mahāvīra (the Great Hero).[5]

In fact Prince Vardhamāna possessed an unique supreme personality.[6] A great scion of Jñātra Ksatriya clan, born among the free people of the great Vajjian republic, He was brave and virtuous, pious and chaste and cherished a very great tender regard for causing good and no harm to every living being. He saw around Him great wrongs in each and every walk of life and could not sit idle at home, enjoying sensual gratification A youth of thirty as He was, He showed great courage in renouncing world[7] and He underwent all sorts of hardships and sufferings for full twelve years. Once He was standing silent merged in deep and pure meditation in the cemetry ground of Ujjain, the Rudra couple happened to pass by Him. Stark naked as He was, the couple took ill and caused all sorts of sufferings to Him, which He bore with unflinching courage, peace of mind and immense love His forbearance and love appealed to the heart of Rudra, the ferocious, who fell in His feet and begged pardon for his misdeed[8] Nudity is garb of Nature. Passions make people sinful and they abhor nudity, hiding sins and shame in the deluding garbs of etiquette. Rudra's heart was not pure, but he took no time to make out his mistake and he paid homage to the great hero Vardhamāna Out of gratitude and in order to declare in the world, the greatness of the hero, he called Vardhamāna by name Ativīra Mahāvīra (the Greatest Hero among the Great Heroes)[9] Such is the traditional account about the different names of the last Tīrthankara which is sufficient to satisfy a true believer But the fact that the Lord came to be known singularly by the name of Mahāvīra must have a great significance hidden in it. So Let us try to have a glimpse of it.

We are told that Hero (VĪRA) He was, because He made one and all

---

5. " विजृम्भमाणहर्षांभोनिधिः नामसंगमः । स्तुत्वा भगवान् महावीर इत्यास चकार सः ॥ २०५ ॥
७४ ॥ उत्तरपुराण

6 A reference of Varddhamāna's great personality is made in the famous inscription of Hāthigumphā cave

7. Kalpasūtra, JS (SBE), Pt I, pp. 260-262 & Uttarapurāna, Sarga 74.

8 " स्थय स्खलयितु चेतः समावेशसमर्थकः ।
स महति महावीराख्यां कृत्वा विविधाः स्तुतीः ॥ ३३६ ॥ ७४ ॥ उत्तरपुराण.
See also *Asaga-Kaos*, loc. cited : XVII, 126

9 ' णिस्संसयकरो वीरो, महावीरो जिणुत्तमो । राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥ १६ ॥ ' — जयधवला, पृ. ७३

free of fear and danger [9] One cannot be the follower of Mahāvīra unless he becomes Niśśanka (fearless) and Nikkānchhī (conqueror of desires) to the best of one's ability [10] But Varddhamāna was not only a hero, rather He was great hero among the heroes Well, now let us see here, who should be styled a hero in the true sense? Generally courage, boldness and bravery for the right cause is passed for heroism Every nation have heroes,—heroes of war, science, patriotism and religious fervor. But the condition for being a true hero is to subdue and conquer one's own Self. In Indian Sanskrit literature four kinds of heroes are described, namely Heroes (1) of religion Dharmavīra, (2) heroes of compassion Dayāvīra, (3) heroes of genrosity Dānavīra and (4) heroes of battlefield : Yuddhavīra.[11] The Jainas also name four kinds of heroes, i. e. those of compassion, penance, generosity and battlefield [12] This classification is based on merit and the amount of bravery and selfdenial required in the performance of the right deed for the good of all. True heroism begins with Dharma or compassion, for heroism has been regarded as the generosity of the highest order. Prince Vardhamāna possessed a noble heart He was courageous enough from very boyhood to speak truth, to stand by the side of just and to resist every temptation. Māra (cupid) aimed at Him his full-fledged arrows, but they were of no avail near Him He became Mārajit, victorious over cupid and a great hero of Religion "Thus as hero at the head of a battle, He bore all hardships and remaining undisturbed, proceeded on the road to Deliverance Understanding the truth and restraining the impulses for the purification of the Soul, He finally liberated " [13] Hence a great Ksamāśūra and Tapaśūra He was.

Undoubtedly Mahāvīra Vardhamāna figured as a supremely gifted Ksatriya Teacher and Leader of Thought, Who gathered unto Him many men and women and was honoured and worshipped by many hundreds and thousands of Śrāvakas or lay disciples [14] He was acknowledged as 'a great guardian,' 'a great guide,' 'a great preacher,' 'a great pilot,' and 'a great ascetic' [15] While He was on a touring visit to Rājagraha, Śrenika Bimbisāra, the renowned king of Magadha, paid a glowing tribute to Him, saying, that "You have made the best use of human birth, You have become a true Jina (Spiritual Conqueror) You are a Protector (of mankind at large), and of your relations, for, you have entered the path of the best Jinas." Forthwith the king together with his wives, servants and relations became a staunch

10 *Samantabhadra*, Ratnakarandaka

11. 'स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।' — साहित्यदर्पण ३.

12 'चत्तारि सूरा प. त खंतिसूरे, तवसूरे, दाणसूरे, जुद्धसूरे।' — ठाणांग सुत्त.

13. Acārānga. I, 8, 9 (JS I, 87)

14. *B. C. Law*, Mahāvīra: His Life & Teachings, (London), pp. 18-19.

15. Uvāsaga-dasāo, Lecture *VII*

believer in the Law, with a pure mind.[16] Many other Rulers of India followed in his steps and became disciples of Mahāvīra.[17]

Mahāvīra Varddhamāna gave freedom of thought, speech and work to all, in a period when it was deemed impossible to even raise one's voice against the existing religious dogmas and rituals, howsoever absurd and intolerable were they. Mahāvīra set an example of spiritual heroism, which changed the very mode of life of mankind. Ahimsā replaced Himsā in every walk of life. So freedom taught by Mahāvīra was not confined to spiritual realm alone. As an omniscient profound teacher, Mahāvīra delivered discourses on every branch of knowledge and science. People of India particularly and the mankind in general, was greatly benefitted by His teachings and the Jaina canonical literature was so immense and varied that it satisfied people of every pursussion. But pity is that most of it has been lost and with it the knowledge of secular sciences as taught by the Lord, have also gone into oblivion. However the mere list of their contents and the remaining portions of it are enough to prove that Tirthankara Varddhamāna was a true and great hero of generosity, Dānasūra.

As a Tirthankara, He was naturally destined to bestow security and refuge to one and all, who were fortunate to reach near Him. His mere contact wiped away every tinge of fear from the heart, which anticipates and heightens future evils. Thus the contact and company of Mahāvīra was a safeguard against evil and sin for men.

Fear is itself more than its pain and coward becomes a source of evils to others. Varddhamāna knew it well and He made it incumbent for His followers to become fearless, for they knew the true nature of Soul and other substances of the world. Soul is eternal, all-knowing, and blissful in essence. Then why man should be afraid of anything? Amālikridā incident of Varddhamāna's life, as narrated above earned Him the name of Mahāvīra. He was not afraid of the great cobra but never entertained a barbarian idea of killing it. Death personified, a cobra is regarded in general and tendency of average people is so full of cowardice and fear that they freely harbour the non-Aryan idea of killing it. But what right have they to snatch away the body and living vitality of snake-soul, which are as much dear to its self as they are dear to aggressive mind of man. The significance of this incident of conquering cobra is manifest itself, since it establishes obviously that Varddhamāna, even in His boyhood imbibed the spirit of and followed the Aryan Truth of Ahimsā (non-Injury), which imparts security and succour even to an alien foe in its highest aspect. Due to this unique significance of the Amālikridā incident, it has

---

16. *Shah*, Jainism in North India, p. 117.
17. See "Some Historical Jaina Kings & Heroes" by K. P. JAIN. (Delhi)

been given a prominent place in the Jaina literature and a stone plane depicting the scene of this incident belonging to Indo-Scythian period was unearthed from Kankālī Tīlā at Mathurā[18] Thus Varddhamāna being an abode of all security and safety to one and all—man and animal alike, was rightly distinguished and named "Geratest Hero" Mahāvīra. To adore Him is to persevere to become a hero like Him Let every human being be security for his own soul and that of others also. This Aryan idea will pave the way of Liberation and World-peace.

Jainism also possesses heroes of battlefield, *Yuddha-vīras*, but its heroes of battlefield are of another kind There had been kings and warriors of Jaina pursuasion, who gallantly fighting fell in battle. But they never fought aggressive battles and always tried to follow the principle of Forget and Forgive, which imparts spirit of Ahimsā. Thus 'the aim of the Jaina warrior was not the glory of battlefield, rather if they survived they went home, after accomplishing their duty but as leaders of the army and of their people and practised the life of a devotee.'[19] They knew well the teaching of Mahāvīra .—

"Though a man should conquer thousands and thousands of valiant foes, greater will be his victory, if he conquers nobody but himself."[20]

This is the right conquest and true victory. In this sense Varddhamāna has been glorified as a true hero and a leader in the battle.[21] He has been rightly compared with a warrior, when it is said that "Like a hero, a leader in the battle, or, in front-line, thus became thereby this Great Hero.[22]- Varddhamāna fought a great battle which only very few are fortunate to fight out He fought successfully with passions and karmas. "Making Faith His fortress, Penance and Selfcontrol the bolt of its gate, Patience its strong wall, so that guarded in three ways, it is impregnable; making zeal His bow, its string carefulness in walking and its top (where the string is fastened) content, He bent this bow with Truth, piercing with the arrow, Penance, (the foe's) mail Karman, He the sage, became victor in battle and got rid of Samsāra."[23]It was the highest victory and it bestowed immense joy and wealth imperishable on the conqueror.

---

18. No 1115 of the Curzon Museum Mathurā.
19. *Otto Stein*, Vira, Vol *XI*, p. 14.
20 Uttarādhyayana-sūtra, 34. 9.
21 संगामसीस, — आचारांग । १ । ६ । ४ । ३ ।.
22. ' सूरो संगामसिरे स । संवुडे तत्थसे महावीरे ' १ । ६ । ३ । १३ आचारांग.
23. Uttarādhyayana sūtra, (SBE) 20-22 9

Thus Varddhamāna becoming a great hero of bloodless alter of self-denial and sacrifice, never thought it proper to allow bloodshed, because non-harming, Ahimsā, is the very first principle of higher life and Aryan culture. Hero of battlefield though a hero is he, but of lowest order. His bravery is commendable in world only when it is not agressive. Chandragupta, Asoka, Khārvela, Ravivarmā, Amoghavarsa, Kumārapāla and many other renowned kings of India were followers of Mahāvira and they fought battles.[24] Yet they lived only like the Lord, to glorify the principle of Ahimsā. Great general Chamunda Rāya[25] fought no less than 84 battles for his king and country, yet he was ever vigilant of Ahimsā vow He was so concentrated and serene in his thought that he always observed Jain vows even on battlefield and composed "Trisasti-Śalākā-Purusa-Caritra", which narrates the pious deeds of Tirthankaras and other great personages, during the disturbed moments of warfare. Perhaps for a modern mind this kind of heroism may not be comprehensible, but it is essential for freedom and prosperity of mankind, because it guarrantees security, peace and fearlessness to every living being. It requires no code, but mere change of heart. M. Gandhi was a living model of it.

Mahāvira Varddhamāna set an example of highest and noblest type of heroism and so people remembered Him by the name Mahāvira. His example exhorts us to love and serve all and to live a noble life of Aryan Ahimsā and help others in living to it. Likewise man should not fear to face the death and conquer its pain and agony. Death is only a passport to change the sojourn of a place to another region and it marks a stage in the progress of soul. For the development of soul-realisation the aspirant have to remain awake to real nature of substances while struggling with the agony of Death. Hence he should perform Sallekhanā, which is called Pandita-marana (wise death). As such nobody should be afraid of death. Sallekhanā vow of Mahāvira teaches us to die in a befitting manner for the right cause through the right way.[26] Thousands of votaries have observed it and Virgals (epitaphs of heroes) are set in their sacred memory. Varddhamāna conquered Death and attained to Nirvāna, never to return in worldly life of bondage. Great Conqueror He was, so rightly He was named Mahāvira. His great name inspires the devotee and he recites it with faith and joy every moment in the prescribed formula with the assurance of success:

"Om namo Bhagavao arahao I sijjhau me bhagavai Mahāvijjā I Vire, Mahāvire, Senavire Vaddhamāna Vire, jayante aparājie, Svāhā!"

---

24. *K. P. JAIN*, Some Historical Jaina Kings and Heroes, pp 11-17.
25. Ibid, p 96-100
26. *C. R. Jain*, Sannyāsa-Dharma, pp. 118-132

Lord Mahāvīra—Varddhamāna

(FROM ASTROLOGICAL POINT OF VIEW)

By L. A. Phaltane, Esqr. B. A., LL. B., Pleader, Islampur, Tal. Walwa

[श्री फलटणेजीने ज्योतिषविद्याके अभिज्ञानानुसार भ. महावीरका परिचय प्रस्तुत लेखमें कराया है। भगवान्‌की जन्मकुण्डलीको उपस्थित करके उन्होंने भगवान्‌के व्यक्तित्वपर प्रकाश डाला है। किसी अवतारी पुरुषके होनेके लिये जो शुभ योग ज्योतिर्ज्ञानसे अभीष्ट हैं, वह भगवान्‌की जन्मकुंडलीमें मिलते हैं। अतएव वह अवतारी महापुरुष थे। यद्यपि प्रसिद्धि म. बुद्धकीभी अत्यधिक है। इसपर जैन शास्त्र बताते हैं कि म. महावीरके कालमें मिथ्या मत प्रचलित रहे, परन्तु वस्तुतः तीर्थंकर तो भ. महावीरही थे। भ० महावीरके विषयमें श्वेताम्बर जैनोंका मत है कि उनका विवाह हुआ था, किंतु भगवानकी जन्मपत्रिकामें ग्रहयोगोंकी जो स्थिति है उससे उनकी पत्नीका अभाव सिद्ध है। उसमें सातवें गृहमें राहु दो पापग्रहोंसहित है। अतः भगवानके पत्नी हो नहीं सकती, जैसे कि दिगम्बर जैनोंकी मान्यता है। भ. महावीरने बारह वर्षके तपश्चरणकालमें दूर दूर देशोंमें विहार किया था, यह बातभी उनकी जन्मपत्रिकामें ग्रहयोगोंकी स्थितिसे सिद्ध है। सातवें गृहमें कन्याराशिका अस्तित्व दर्शन शास्त्रकी परिपूर्णता, लेखन शैलीकी विशिष्टता और ज्ञानार्जनके लिए विशद यात्रायें करनेका द्योतक है। नवें गृहमें चन्द्रकी स्थिति मानवके राजयोग और सुखको प्रकट करती है, मानो यह अंधकार नाशक ज्योत्स्ना हो। अन्य गृहस्थिति उनकी लोककल्याण भावना, सर्वज्ञता, और आप्तपनेको सिद्ध करती है। वह मधुसूदन थे और चन्द्रसूर्य योगके धारी थे अर्थात् श्रेष्ठ अभयदानी थे। —का. प्र.]

It is my humble opinion that Lord Mahāvīra has not been properly understood even by the Jainas who profess themselves to be His devoted followers. Bhagawāna Buddha was His contemporary and is said to have greater following than Mahāvīra. This fact has induced many to think that the prime force that was at the root of the great upheaval that took place at that time must have been Bhagawān Buddha and not Lord Mahāvīra. Fortunately we have secured the horoscope of Lord Mahāvīra though not that of Bhagawān Buddha from which we can have some idea as to what the real things might have been. It is acknowledged by all that there can be only one Tīrthankara or Avatāra at one time and in one locality though there may arise several personages calling themselves teachers of authority and wielding great influence over the masses. It behoves us therefore to study the horoscope of Lord Mahāvīra and to find out His real place in His times. His horoscope is as follows :—

The following rule may be noted :—

त्रिकोणेसित वा देवेड्यः स्वोच्चकेंद्रगतः कर्जः ।
चर लग्ने यदा जन्म योगोऽयमवतारजः ॥

Trikone Sita vā devedyah swochchakendragatah Karjah.
Chara lagne Yadā Janma Yogoyamavatārajah.

Meaning :—

When Venus or Jupiter appears in the 5th or 9th house, when the full-fledged Saturn occupies one of the kendra places (1st, 4th, 7th or 10th) and when the birth occurs on Charalagna then arises the possibility of an Avatāra. All these circumstances are present in the horoscope of Lord Mahāvīra. This means that Lord Mahāvīra was an Avatāra or a Tīrthankara and if we keep in mind the rule that there cannot be more than one Tīrthankara or Aavatāra at one and the same time and in one locality, we must hold that no other person can claim to rise to the stature of a Tīrthankara at that time. The presence of large following is immaterial and such following with a contemporary of His does not detract any importance from Lord Mahāvīra. It is said by one of the Ācharya —

— सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थंकरोदये ।
दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥

— Sanmatim muktvā Sheshatīrthankarodaye
Durnayānāmanudbhūtikhyāpanam Lakshyatām sphutam

Meaning :—

It should be noted that erring faiths did not arise in the time of the remaining Tīrthankara excepting Lord Mahāvīra.

In the case of Lord Mahāvīra there has arisen a point of great contest between different schools of Jainism. The Śvetāmbara Jains hold that Lord Mahāvīra was married and had a daughter from that marriage, while the Digambara school asserts with definiteness that Lord Mahāvīra was a bachelor and that there was a talk going on about His marriage, but actual marriage had not taken place It is a serious question as to why there should be such a great difference between the two schools We think it wise to approach

to the rules of astrology and apply them for the interpretation of the horoscope of the Lord. There are two rules one of which runs as under :—

पत्नीभावे यदा राहुः पापयुग्मेन वीक्षितः ।
पत्नीयोगस्तदा न स्यात्...... ......

Patnībhāve Yadā Rāhuh pāpayugmenavīkshitah
Patnīyogastadā na syāt.. ...

Meaning — When the Rāhu appears in the seventh house and is aspected by two evil planets there is no possibility of a wife to the individual.

In the horoscope in question Rāhu stands in the seventh house and is seen by two evil planets Saturn and Mars. It appears therefore that there cannot be any wife to Lord Mahāvīra.

In other places the rule appears in the following way :—

पत्नीभावे यदा राहुः पापयुग्मेन वीक्षित ।
पत्नी योगस्थिता तस्य भूताऽपि म्रियतेऽचिरात् ॥

Patnībhāve Yadā Rāhu pāpayugmena Vīkshitah
Patnī Yogasthitā tasya bhūtāpi mriyate chirāt

Meaning — "when Rāhu stands in the seventh house and is aspected by two evil planets the wife of the individual remains in expectation and while in expectation she soon dies." This interpretation leads us to the belief that the version given by the Digambar school of Jainism is correct.

It has been propounded by me in another article that Lord Mahāvīra must have undertaken long travels during the long period of twelve years in which He observed great silence. Astrology tells us that Kanyā rāśi in the 9th house means perfection in philosophy, acquisition of great skill in writing and long travels with an object of learning and study. The horoscope of the Lord contains Kanyā rāśi in the 9th house. This horoscope possesses moon in the 9th house. The rule in this respect runs thus —

लाभे त्रिकोणेयदि शीतरश्मिः
करोत्यवश्यं क्षितिपालतुल्यम् ॥
कुलद्वयानंदकर नरेंद्रं
ज्योत्स्ना हि दीपस्तमनाशकारी ॥ २३ ॥ मानसागरी

Lābhe trikone yadi shītarashmih
Karotyavashyam Kshitipāla-tulyam
Kuladwayānandakaram narendram
Jyotsna hi deepastamanāshakārī

Meaning :—

The moon in the 11th and 5th and 9th houses makes a man like a king giving joy to both the families. He becomes like moonlight which dispels darkness.

The above two rules considered together show that the Lord Mahāvīra must have undertaken long travels for the sake of acquisition of knowledge, study of philosophy and understanding of cultural and ennobling activities. He moved about like a monarch giving joy to all and dispelling ignorance with the light of knowledge.

The Mars in the Makara rāśi which stands in the 1st house (lagna) of His horoscope shows service to the world with complete negation of self interest and the existence of Ketu near Mars heightens that quality to the greatest extent.

Venus and moon standing 120 degrees apart in His horoscope show development of omniscience in Him; make Him God in-carnate, a Karmayogi and a possessor of Siddhis.

Possession of great vairāgya in Him is indicated by Saturn and Jupiter standing in His horoscope at a distance of 90 degrees from each other.

Generally people are indicated by the Moon which stands in the bhāgyasthān i. e the 9th house of the horoscope under question. The moon is the owner of the 7th house and from moon the Venus is the 9th house i. e. the 5th house of the horoscope. The 5th house is indicative of sons and occult learning. The Venus of Vrishabha rāśi shows sculptural arts and cultural activities which bring about harmonious development of the society. This circumstance accounts well for my proposition that the arts of sculpture and science and the cultural activities with which the country became flooded in post—Mahāvīra times, arose as a consequence of the activities inaugurated by Lord Mahāvīra.

What must have been the facial appearance of the Lord? The astrology says :—

प्रफुल्लवदनः श्रीमान् केंद्रे मुखपतौयदा

Prafullavadanah Shrīmān Kendre mukhapatauyadā

Meaning :—

When the Lord of the second house stands in one of the Kendra places, the individual possesses a full blown lustrous and benevolent face. This would show what was the facial appearance of Lord Mahāvīra.

We shall finish this article by giving one more rule of astrology which will throw great light on the nature of Lord Mahāvīra.

चंद्रचूडो भवेद्योगो धर्मपो यदि केंद्रगः
योगेऽस्मिन्दानशीलश्च गुणपूर्णो भवेन्नरः ॥
Chandrachūdo bhavedyogo dharmapo yadi kendragah
Yogesmin dānashīlascha gunapūrno bhaventarah

Meaning :—
When the Lord of the 9th house occupies one of the kendra places that Yoga is called 'Chandrachūda' Yoga. In this Yoga a man becomes charitable and endowed with all qualities

This rule is applicable to the horoscope in question and explains the general qualities of the Lord.

विश्व विभूति भगवान महावीरकी जयन्ती !

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी जैन, 'प्रचंडिया' साहित्यभूषण, कुरावली)

एक युगकी है बात—
देखती यही
जल थल वायु अग्नि
और थी यही मही।
किन्तु समय और था,
वातावरण भिन्न था।
शासन देव 'पादरी' का
प्रचारित सद्धर्म पंथ
हो चला आवरोधित था
कुरीति कंटकोंमें अति!
मनुज हो रही थी विषम गति!!
धर्मकी महान क्षति!!!
धर्म मर्म था था—
शुद्ध भिन्न दिन-दिन
निरत विकट स्वार्थ प्रति
भोले मीन आज सूख
प्रसार युगमें
निर्दय यज्ञोंमें, वध कर देते थे
मानवकी मनमानी—
दानव-सी स्वार्थी
प्रवृत्ति धार कर
हिंसाको प्यार कर
उस कालकी भारतकी दुर्गत दृश्य!
आँखोंके सामने छोड़ होमके स्थानपर!!
कर्मोंको निर्मम!!!
शुद्ध [illegible] हिंसाकी यह थी अवस्था'

छिपी हुयी जिसमें अदृष्ट क्षुद्र वासना!!
अपना प्रकर्ष प्रदर्शन करते थे जन—
दिखलाके पौरुषबल और निज प्रभा
एक भोले जीवित पशुको
बनाते यज्ञका भाज्य!
भोला निरीह पशु इस विधि
करता प्राण त्याग!!
शीघ्र उसे डालते थे
कुंडमें मेधके
भक्षण सिरोहीसे अंग अंग वेधके।
यह था अश्वमेध!
यह था धर्म कर्म
यह था धर्म मर्म
और तो और अरे
अपने सुत रत्नको
होमते इतने पतित थे
उस कालके मानव गण!
कृत्य, दुष्कृत्य करते थे प्रत्येक क्षण!
अपने मनमानकी
मनमानी दीन हीन मानवको
महाकाल तृप्ति हित
धधका झोंक देते थे
यज्ञकी हुताशनमें!
था या उपाय एक
यह भी अटल टेक—
होगा नरमेध!

(पृ० १३८ पर देखो)

Date of the Nirvāna of Lord Mahāvīra

By M. Govind Pai

[श्री. म. गोविन्द पैने प्रस्तुत लेखमें भ. महावीरके निर्वाण कालतिथिपर उल्लेखनीय प्रकाश डाला है। बौद्धोंके पिटक ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे उन्होंने सिद्ध किया है कि भ. महावीर म. बुद्धसे आयुमें अधिक थे और म. बुद्धके जीवनकालमें भ. महावीरका निर्वाणकल्याणक घटित हुआ था। 'दीघनिकाय'के पासादिक सुत्तन्तसे यह बात प्रमाणित है। वर्माके बौद्धोंकी गणनानुसार म. बुद्धका जन्म १० मार्च (शुक्रवार) ५८१ ई. पूर्वको, उनका गृहत्याग १८ जून (सोमवार) ५५२ ई० पूर्वको, उनका बोधिज्ञान ३ अप्रेल (बुधवार) ५४६ ई. पूर्वको एवं परिनिर्वाण ता. १५ अप्रेल (मंगलवार) ५०१ ई. पूर्वको हुआ था। वर्मावाले अपनी गणनानुसार बुद्धसंवत् २७ फरवरी ५४७ ई. पूर्वसे प्रारंभ करते हैं। अतः भ. महावीरका निर्वाण म. बुद्धके बोधिज्ञान और परिनिर्वाणके मध्यवर्ती काल अर्थात् ५४६ से ५०६ ई. पूर्वके मध्य घटित हुआ था। जैन ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि भ. महावीरके निर्वाणसे ४२७ वर्ष पश्चात् विक्रम हुये थे। अतः भ. महावीरका निर्वाणकाल ५२७ ई० पूर्व मानना ठीक है। उसकी ठीक तिथि सोमवार ता. १३ सितम्बर ५२७ ई० पूर्व की रात्रि अथवा मंगलवार ता. १४ सितम्बर ५२७ ई. पूर्वका उषाकाल प्रमाणित होता है। भ. महावीरके जन्मकी ठीक तिथि फरवरी (सोमवार) ५९८ ई० पूर्व पैमहोदय सिद्ध करते हैं। उनका यह लेख विद्वज्जनोंके लिये विचारणीय है। —का. प्र.]

1

In the Pāli Buddhistic literature, where the name of Lord Mahāvīra is often[1] met with, he is mentioned as *Nigantha Nātaputta*,[2] inasmuch he is the 24th Tirthankara of the Jainas, who in those early days of Jainism, were called *Nirgranthas* (Pāli *Nigantha*), and a scion as well of the Jñāta or Jñātri (Pāli : *Nāta*) clan of the Kshatriyas. For instance, in the *Sabhiya Sutta* of the *Sutta Nipāta*—

एक समय भगवा राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे। तेन खो पन समयेन सभियस्स परिब्बाजकस्स पुराणसालोहिताय देवताय पञ्हा उद्दिट्ठा होन्ति—यो ते सभिय समणो वा ब्राह्मणो वा इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरोति, तस्स सन्तिके ब्रह्मचरियं चरेय्यासीति। अथ खो सभियो परिब्बाजको तस्सा देवताय सन्तिके ते पञ्हे उग्गहेत्वा, ये ते समण-ब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो

---

1. e. g. *Sabhiya Sutta*, *Sāmaññaphala Sutta*, *Upāli Sutta*, *Sāmagāma Sutta* *Mahāparinibbāna Sutta*, *Pāsādika Suttanta*, *Samgīti Suttanta* &c.

2 Mahāvīra is spoken of as *Jñāta-putra* in several Jaina works as well. It is in fact one of his well-known names, e. g. Hēmacandra's *Abhidhānacintāmani*:

महावीरो वर्धमानो देवार्यो ज्ञातनन्दनः ॥ ३० ॥

तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकंबली, पकुधो कच्चायनो, संजयो बेलट्ठिपुत्तो, निगण्ठो नातपुत्तो, ते उपसंकमित्वा ते पञ्हे पुच्छति । ते सभियेन परिब्बाजकेन पञ्हे पुट्ठा न संपायन्ति....... । अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतद-होसि — अयंऽपि समणो गोतमो संघी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स; यन्नूनाहं समणं गोतमं उपसंकमित्वा इमे पञ्हे पुच्छेय्यंऽति । अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—येऽपि खो ते भोन्तो समणब्राह्मणा जिण्णा वुद्धा महल्लका अद्धगता वयो अनुप्पत्ता थेरा रत्तञ्ञू चिरपब्बजिता संघिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं पूरण कस्सपो. . पे .. निगण्ठो नातपुत्तो, तेऽपि मया पञ्हे पुट्ठो न संपायन्ति,......किं पन मे समणो गोतमो इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरिस्सति । समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जायाति ।

i e At one time *Bhagavā* i. e. Buddha was dwelling at Rājagṛha in Vēnuvana, in Kalandaka-nivāpa. At that time some questions were recited to Sabhiya, a wandering mendicant, by a deity who had in a former birth been a relation of his "He who, O Sabhiya, be it a Śramana or a Brāhmana, explains these questions to you when asked, near him you should live a religious life'. Then Sabhiya went to whatever Śramaṇas and Brāhmaṇas there were, who had an assembly of Bhiksus, and a crowd of followers, and were well-known teachers, famous leaders and were considered excellent by the multitude, such as (1) Pūrana Kassapa, (2) Makkhali Gōsāla, (3) Ajita Kēśakambali, (4) Pakuddha Kacchāyana, (5) Sañjaya Belatthiputta and (6) Niganṭha Nātaputta, i e. *Mahāvira* and asked these questions. They, however, did not succeed in answering them...... Then it struck Sabhiya: This Śramana Gāutama, i. e *Buddha*, too has an assembly of Bhikṣus and a crowd of followers, and is a well-known teacher, a famous leader, and is considered excellent by the multitude; surely I think I shall go to him and ask him these questions. Then again it struck Sabhiya: Whatever Śramaṇas and Brāhmans there are, are *decayed, old, aged, advanced in years having reached old age*, experienced elders, long ordained, having assemblies of Bhiksus, crowds of followers, being teachers well-known, famous leaders, considered excellent by the multitude, such as (1) Pūraṇa Kassapa .... and (6) Niganṭha Nātaputta i e. *Mahāvira*, and they, being asked questions by me, did not succeed in answering them ... ...I should like to know whether Śramaṇa Gautama i. e. *Buddha*, will be able to explain them to me, for Śramaṇa Gautama is both *young by birth* and *new in ascetic life*

Thus it appears that Buddha and Mahāvīra were contemporaries for some or several years. And besides, since in that period of their contemporaneity Mahāvīra is said to have been old, aged and advanced in years, while at the same time Buddha is known to have been young by birth and new in ascetic life, Buddha would necessarily be much younger than Mahāvira, younger in age as well as in asceticism, and therefore quite a junior contem-

porary of Mahāvīra. And further since Buddha is not only said to have been an ascetic, but has also been described in exactly the same terms as Mahāvīra, as having an assembly of Bhikṣus and a crowd of followers, having been a well-known teacher, a famous leader, and having been considered excellent by the multitude, nay he has been clearly designated *Bhagavā* = Blessed one, which designation came to be invariably applied to him only after he had attained *Bōdhi* or perfect knowledge, it goes without saying that at that time Buddha had already attained enlightenment.

Again in the *Sāmagāma Sutta* of the Majjhima Nikāya as well as in the *Pāsādika Suttanta* of the Dīgha Nikāya, it is said —

एकं समय भगवा सक्केसु विहरति...तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावाय अधुना कालकतो होति ।

i. e. when once Buddha was staying with the Śākyas..., Nigantha Nātaputta i e. *Mahāvīra* had just departed his life in Pāva. From this statement it is manifest that Mahāvīra attained *Nirvāṇa* during the lifetime of Buddha, of course after the latter had attained enlightenment

2

In Bigandet's[2] *Life of Gaudama* the chief events in Buddha's life have been chronicled in the era, said to have been founded by Eetzana, which is Burmese for Añjana, the Śākya king of Dēwaha, which is Burmese for Dēvadaha Country, and the maternal grandfather as well of Buddha, and the *tithis* i. e. the lunar days, the week-days as well as the constellations with which the moon was in combination on those days, have been recorded with reference to the different years of that era, which would seem to have been current at that ancient time In a paper which I have contributed elsewhere in Kannaḍa,[3] I have formed out the exact equivalent English dates corresponding to each of those events The chronological data as given in Bigandet's work as well as the corresponding English dates as I have found out,[4] are as follows —

(1) Friday the fullmoon day of the month Katson, which is Burmese for the Indian lunar month Vaśākha, combined with the constellation Withaka, which is Burmese for the 16th lunar mansion Viśākhā, in the 68th year of the Eetzana era, on which Buddha was born[5] = Friday the 30th of March 581 B. C.

(2) Monday the fullmoon day in the month of July i. e. Āṣādha,

3 *Prabuddha Karnāṭāka*, a Kannada Qarterly published by the Mysore University, Vol. XXVII (1945-46), no. 1 pp 92-93

4. My English article on the date of the *Pari-nirvāṇa* of Buddha is yet to be published.

5. *Bigandet* II, pp. 71-72,

combined with the constellation Ootharathan, which is Burmese for the 21st lunar mansion Uttarāsāḍhā, in the 96th year of that era, on which day Buddha departed from home and went into the solitude[6] = Monday the 18th of June 553 B. C.

(3) Wednesday the fullmoon day of Katson = Vaiśākha, combined with the constellation Withaka = Viśākhā, in the 103rd year of that era, when Buddha attained enlightenment[7] = Wednesday the 3rd of April 546 B. C

(4) Tuesday the fullmoon day of Katson = Vaiśākha combined with the constellation Withaka = Viśākhā, in its 148th year, when Buddha attained *Pari-nirvāṇa*[8] = Tuesday the 15th of April 501 B. C

(5) and accordingly Sunday which was the 1st lunar day of the waxing moon of the month Tagoo i e Burmese for the Indian month Caitra, on which the Eetzana era began[9] = Sunday the 17th of Feburary 648 B. C.

It is thus manifest that Mahāvīra departed his life within the 45 years that elapsed between the year 546 B C when Buddha attained enlightenment, and the year 501 B C. when Buddha passed away.

3

In the following among perhaps several Jaina works we are told that the exact number of years that elasped between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the establishment of the Vikrama are of 57 B C. is 470 era—

(1) In the *Vicāra—Śreṇi* of Mērutuṅga Ācārya—

विक्कम रज्जारम्भा पुरओ सिरि वीर निव्वुई भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो॥

i. e. the Nirvāṇa of Śrī Mahāvīra occurred *śūnya* = 0, *Muni* = and 7 *Veda* = 4, i. e. 470 years[10] before the commencement of the Vikrama era.

(2) In the *Paṭṭāvali* of the *Tapā gaccha*—

श्री वीरात् ८४५ विक्रमात् ३७५ वल्लभीनगरी भग्नः।

---

6. *Ibid.* I, pp 62-63, II, p. 72 Clearly the month here has been said to be July inasmuch as in later times Āsāḍha (in which month Buddha is positively known to have left home) usually synchronises with July.

7. *Ibid* I, p 97, II, pp 72-73.

8 *Ibid* II, p. 69.

9. *Ibid* I, p 13.

10. In order to arrive at the correct figure, the digits indicated by the natural objects, mentioned in the verse, will have to be reversed according to the rule अंकानां वामतो गतिः।

i. e. the city of Valabhī was destroyed in 845 years after (the *Nirvāṇa* of) Śrī Mahāvīra and 375 years after (the commencement of the era established by) Vikrama; Or in other words the Vikrama era commenced 470 years after the *Nirvāṇa* of Śrī Mahāvīra.

(3) In the *Pattavali* of the *Nandi saṅgha*, as well as in the *Vikrama-prabandha*—

सत्तरि चदुसद जुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।

i. e. Vikrama will be born, or in other words the Vikrama era will be established, 470 years after the *Nirvāṇa* of Mahāvīra

These quotations suffice to prove that the Vikrama era of 57 B [illegible] commenced 470 years after the *Nirvaṇa* of Mahāvīra, wherefore the latter event would readily seem to have occurred in 527 B. C.

In several Jaina works on the other hand the *Nirvāṇa* of Mahāvīra has been refered to the Śālivāhana Śaka i. e the Śālivāhana era, of [illegible] A. C., which is popularly, though of course wrongly, known [illegible] the Śaka era, and which is widely in vogue in southern India in much the same way [illegible] the Vikrama era is current in northern India. Some of the quotations from them are as follows —

(1) In the *Vicāra-Śreṇi* of Mērutunga Ācārya —

श्री वीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः ।

शाक संवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥

i. e. 605 years after the *Nirvāṇa* of Śrī Mahāvīra, the Saka era became current in India.

(2) In *Titthōgāli Paiṇṇaya* —

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वास सया ।

परिणिव्वुअस्सऽरिहवो तो उप्पन्नो सगो राया ॥ ६२३ ॥

i. e. When 605 years and 5 month had elapsed, from the *Nirvāṇa* of Mahāvīra, the Śaka king arose i. e. the Saka era was established.

(3) In *Tilōya Paṇṇatti* —

णिव्वाणे वीर जिणे छव्वास सदेसु पंच वरिसेसु ।

पण मासेसु गदेसु संजादो सग णिओ अहवा ॥ १४९९ ॥

i. e. When 605 years and 5 months had elapsed from the Nirvāṇa of Mahāvīra, the Śaka King however appeared i e. the Śaka era came to be established

(4) In the commentary *Dhavala Siddhānta* of Vīrasēna Ācārya —

पञ्चमासाहिय पञ्चुत्तर छस्सद वासाणि (६०५-६) हवंति एसो वीर जिणिंद णिव्वाणगद दिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदिय कालो ।

i. e. the Saka era commenced 605 years and 5 months after the *Nirvāṇa* of Lord Mahāvīra

(5) In the *Harivaṁśa Purāṇa* (canto [illegible]) of Jinasēna Ācārya—

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिंगते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥ ५४९॥

i. [illegible] the Śaka king came to be, or in other words the Saka era was established, 605 years and 5 months after Mahāvīra had attained final emancipation

(6) In the *Trilōka-sāra*[11] of Nēmicandra Ācārya—

पण छस्सय वस्स पण मास जुद गमिय वीर णिव्वुइदो।
सगराजो ....॥ ८५० ॥

i. e. the Śaka king was, or the Saka era was founded, when 605 years and 5 months had elapsed after the *Nirvāṇa* of Mahāvīra.

From these quotations it appears that the *Nirvāṇa* of Mahāvīra occurred 605 years and 5 months before the Śaka era began Now the Śaka era is known to have begun on the 1st lunar day of the bright fortnight of the month Caitra in the year 78 A C. i e on Tuesday the 3rd of March 78 A. C., so that the *Nirvāṇa* of Mahāvīra would seem to have occurred in September or October 527 B C

4

In Bhadrabāhu's *Kalpa-Sūtra* (§ 123 and § 147) the time of Mahāvīra's *Nirvāṇa* is detailed [illegible] follows—

---

11 In his commentary to this verse Mādhavacandra Traividya, [illegible] disciple of Nēmicandra, says (*Māṇikacand Digambara Jaina grantha-mālā*. no [illegible] p. 341) श्री वीर निर्वृतेः सकाशात् पंचोत्तर षट्छत वर्षाणि६०५ पंचमास युतानि ५ गत्वा पश्चात् विक्रमांक शकराजा जायते = in 605 years and 5 months after the *Nirvāṇa* of Śrī Mahāvīra there will be the Śaka king Vikramānka. If this Vikramānka is the same [illegible] the Vikramāditya, the founder of the Vikrama era, as he appears to be, then Mādhavacandra cannot be right in that his identification is in utter disregard of the fact that king Vikramāditya [illegible] nowhere spoken of as a Śaka king, but is invariably known as *Śakāri*=the enemy of the Śakas, e g साहसांकः शकारिः स्याद्विक्रमादित्य इत्यपि (जटाधर), 'यो...शकेश्वरं जित्वा गृहीतोज्जयिनी महाहवे .श्री विक्रमार्कः' (ज्योतिर्विदाभरण). And besides from all the so many other quotations given above, it [illegible] once for all obvious that the difference of 605 years and 5 months is definitely between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the starting point of the Saka era, while between the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and the beginning of the Vikrama era the difference is 470 years, wherefore also the word सगराजो in this verse can not mean otherwise than the founder of the Saka era. Consequently this curious explanation of Mādhavacandra will have to be duly rejected as erroneous.

तस्सण अंतरावासस्स जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पखे कत्तिअ बहुले तस्सणं कत्तिय बहुलस्स पन्नरसी पक्खेण जा सा चरमा रयणी त रयणिं चण समणे भगव महावीरे पावाद...साइणा नक्खत्तेण...पच्चूसकाल समयंसि...कालगद...परिनिव्वुडे ।

i e. Lord Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in the city of Pāvā, when the moon was in combination with the constellation Svāti, the 15th lunar mansion, in the early hours of the morning of the night, which was the night of the 15th day of the dark fortnight, and the last night of that fortnight of the (*pūrṇamānta*) month Kārtika i e the night of the newmoon day of *pūrṇamānta* Kārtika (i e. of the *amānta* month Āśvayuja), which was the 7th fortnight of the rainy season,[12] which was in its 4th month.

Similarly in the *Nirvāṇa-bhakti* of Pūjyapāda Ācārya—

पद्मवन दीर्घिकाकुल विविध द्रुमखंड मण्डिते रम्ये ।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ॥ १६ ॥

कार्तिक कृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ।
अवशेष संप्रापद् व्यजरामरमक्षय सौख्यम् ॥ १७ ॥

i e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in a garden in the city of Pāvā at the end of the dark fortnight i e on the new moon day, of the pūrṇimānta month Kārtika (= the newmoon day of the *amānta* month Āśvayuja), when the moon was in conjunction with the constellation Svāti

In the *Vardhamāna caritra* of Ācārya Sakalakīrti—

कार्तिकाख्ये शुभे मासे ह्यमावास्याभिधे तिथौ ।
स्वाति नामनि नक्षत्रे प्रभातसमये वरे ॥ ३३ ॥

i. e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* on the newmoon day of *pūrṇimānta* Kārtika (= *amānta* Aśvayuja) when the moon was in conjunction with the asterism Svāti, at sunrise.

In the Kalyāṇa-mālā of Āśādhara—दर्शेऽवीर = Mahāvīra attained *Nirvāṇa* on a newmoon day.

From these works, then Mahāvīra would seem to have passed away on the newmoon day of the *pūrṇimānta* month Kārtika (= the *amānta* month

12. In ancient times the year was divided into 3 seasons of 4 months each: summer, rains and winter Of these the rainy season lasted from the 1st day of dark fortnight of the *pūrṇimānta* month Śrāvana (i e. of the *amānta* month Āṣāḍha) to the fullmoon day of the month Kārtika, and its 7th fortnight lasted from the 1st day of the dark fortnight of *pūrṇimānta* Kārtika (i e the 1st day of the dark fortnight of *amānta* Āśvayuja) to the new moon day of *pūrṇimānta* Kārtika (i. e. the new moon day of *amānta* Āśvayuja).

Āśvayuja), and the exact time of his final emancipation as specified particularly in the *Kalpasūtra*, would further seem to be the end of the last watch of the night of that day towards the early hours of the morning (पच्चूसकाल समयंसि) of the next day, which was the first day of the bright fortnight of (both *pūrnimānta* and *amānta*) Kārtika

From the following other Jaina works on the other hand, he would appear to have attained *Nirvāna* at the end of the night of the 14th day of the dark fortnight of *pūrnimānta* Kārtika (= *amānta* Āśvayuja) i. e. exactly one day prior to the newmoon day particularized for that event in the afore-cited works. Thus (1) In the *Dhavala Siddhānta*—

> पच्छा पावाणयरे कत्तिय मासे किण्ह चोद्दसिए।
> सादीए रत्तीए सेस रय छेत्तु णिव्वाओ ॥

i. e. Mahāvīra attained *Nirvāṇa* in the city of Pāvā in the night of the 14th day of the dark half of *pūrnimāntā* Kārtika (= of *amānta* Āśvayujā) when the moon was in conjunction with the asterism Svāti.

(2) In the *Uttara Purāna* (*canto* 74) of Gunabhadra—

> कृष्ण कार्तिक पक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥ ५१० ॥
> स्वातियोगे तृतीयेद्ध शुक्लध्यान परायणः ॥ ५११ ॥
> गतः..............निर्वाणं सर्ववाञ्छितम् ॥ ५१२ ॥

i e Mahāvīra attained *Nirvāna* at the end of the night of the 14th day of the dark fortnight of *pūrnimānta* Kārtika (= of *amānta* Āśvayuja) when the moon was in conjunction with the constellation Svāti

(3) In the *Vardhamāna Caritra* (canto 18) of Asaga—

> स्थित्वेन्द्रावपि कार्तिकासित चतुर्दश्यां निशान्ते स्थिते ।
> स्वातौ सन्मतिरासदाद् भगवान् सिद्धिं प्रसिद्धाभिधाम् ॥ १८ ॥

i e Lord Mahāvīra attained *Nirvāṇa* at the end of the night of the 14th day of the dark half of *pūrnimānta* Kārtika (i e of *amānta* Āśvayuja), when the moon was in combination with the asterism Svāti.

(4) In the Prākrit *Harivaṁśa Purāṇa* of Ācārya Śrutakīrti—

> कत्तिय मासहु किण्ह चउद्दसि साइ पच्चसु याम तुरियइ णिसि ॥

i. e. Mahāvīra passed away in the 4th watch of the night of the 14th day of the dark half of the *pūrṇimānta* Kārtika (= of the *amānta* Āśvayuja), when the moon was in conjunction with the constellation Svāti.

There is thus an apparent discrepancy as to whether Mahāvīra attained *Nirvāna* in the night of the 14th day of the dark fortnight of the *pūrṇimānta* Kārtika (= of the *amānta* Āśvayuja) or in the night of the very next day i.e.

of the new moon day of the same lunar month. But the *Kalpa-sūtra*, which ■ need hardly be said, is the oldest of all the aforecited authorities, and therefore might well be looked upon as more authentic ■ well as more authoritative than the others, is explicit in its statement that the event occurred at most the end of the night of that new moon day, which ■ further emphasized ■ the last night of that fortnight, as it exactly was, towards the dawn of the next day. That newmoon day corresponds to Monday the 13th of September 527 B. C., and Mahāvīra passed away at the end of the night ■f that day, or to be quite faithful to the text, at the day break of the next day which was Tuesday the 14th of September 527 B. C Further from our calculations it appears that on that newmoon day the moon was in conjunction with the asterism Svāti from a little after the sunset, and that phenomenon was current when Mahāvīra attained *Nirvāṇa* and continued for several hours thereafter, whereas throughout the night of the previous day i. e the 14th day of that dark fortnight = Sunday the 12th of September 527 B. C, the moon was in conjuntion not with Svāti but with its anterior constellation Citrā. Accordingly his *Nirvāṇa* may well be assigned to the last watch of the night of Monday the 13th of September 527 B. C., or to the daybreak of Tuesday the 14th of September 527 B. C

The time of the birth of Mahāvīra is thus recounted in the *Kalpa-sūtra*—

तेणं कालेण तेणं समयणं महावीरे जे से गिहाण पढमे मासे दुच्चे पक्खे चित्त सुद्धे तस्सण चित्त सुद्धस्स तेरसी दिवसेण,......पुव्वरत्तावर काल समयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेण.........अरुग्ग दारय पयाया ।

i. e. In the 2nd fortnight of the 1st month of summer,[13] on the 13th day of the bright fortnight of the month Caitra, in the middle of the night, while the moon was in conjunction with the asterism called Hastōttarā i. e. the constellation Uttara-Phālgunī, the 12th lunar mansion, (the mother of Mahāvīra) gave birth to a healthy boy child i. e. Mahāvīra.

The date details of the same event are mentioned ■ follows in the *Nirvāṇa-bhakti*—

चैत्र सित पक्ष फाल्गुनि शशांक योगे दिने त्रयोदश्याम् ।
जज्ञे स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥ ६ ॥

i. e. on the 13th day of the bright fort-night of the month Caitra, while the moon was in conjunction with the constellation (Uttara—) Phālgunī, Mahāvīrā was born; ■ well as in the *Uttara Purāṇa* (canto 74)—

13. Of the (3 seasons into which the year was divided (fn 12), the summer lasted from the 1st day of the dark fortnight the pūrṇimānta month Caitra (= of the amānta month Phālguna to the fullmoon day of Āṣāḍha; and the 2nd fortnight of its 1st month lasted from the 1st day of both the pūrṇimānta and the amānta Caitra ■ its fullmoon day.

नवमे मासि सम्पूर्णे चैत्रे मासि त्रयोदशी।
दिने शुक्ले शुभे योगे सत्यर्यमणि[14] नामनि ॥ २६२ ॥

.....................महावीरोन जातवान् ॥ २६३ ॥

i. e. on the 13th day of the bright half of the month Caitra, Mahāvīra was born under the constellation, the presiding deity of which is Aryaman = the Sun, i e. the constellation Uttara Phālgunī.[14]

Now in the *Kalpa-sūtra* (§147) Mahāvīra is said to have lived 72 years on the whole—

बावत्तरि वासाइ सव्वाउयं पालइत्ता।

i.e. that he had completed 71 years but had not yet completed the 72nd year when he died. And the same is said about the duration of his life in also the *Uttara Purāṇa* (canto 74)—

द्वासप्तति समाः किंचिदूनास्तस्यायुषः स्थितिः ॥ २८० ॥

i. e. his lifetime was a little less than 72 years.

Accordingly he would seem to have been born in the middle of the night (as said in the *Kalpa-sūtra*) of Sunday the 26th February 598 B C., when the moon was in conjunction with the constellation Uttara Phālgunī

But in Asaga's *Vardhamāna Caritra* (canto 17) Mahāvīra is said to have been born on a monday at the end of the night of the 13th day of the bright half of Caitra, while the moon was in conjunction with the constellation Uttara Phālgunī.

चैत्रे सिते सित तृतीयजया[15] निशान्ते

सोमाह्नि चन्द्रमसि चोत्तरफाल्गुनिस्थे ॥ ५८ ॥

If this statement is well-founded, he would seem to have been born at almost about the day-break of Monday the 27th of February 598 B. C, when the moon was in conjunction with the constellation of Uttara Phālgunī.

---

14 Hemacandra's *Abhidhāna-cintāmaṇi*-
फाल्गुनी.. ॥ या उत्तरार्यमदेवा...... ॥ १११-११२)

15 तृतीय-जया is the 3rd *Jayā-tithi* of the lunar month i. e. *trayodaśī* or the 13th lunar day of the month.

क़्५८

धर्म और सिद्धान्त !
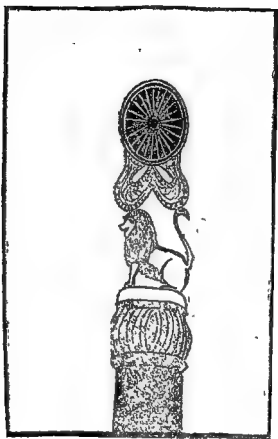
" जैनं जयतु शासनं ! "

JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

'चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृपः सर्वं नरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥'

अर्थात् — 'जिस महाराजने शत्रुओंको भयदाई चक्रके प्रतापसे सर्वराजाओंके समूहको जीतकर, चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था; पश्चात् साधुपदमें आत्मध्यानरूपी चक्रसे जिसका जीतना कठिन है ऐसे मोहके चक्रको जीत करके महानता प्राप्त की।'

'यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्रांजलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् ॥

अर्थात् — 'जिस भगवान्‌के आगे राज्यावस्थामें राजाओंका समूह हाथोंको जोड़े हुए सामने खड़ा रहता था; साधु अवस्थामें दयामई किरणोंका धारी रत्नत्रयमई धर्मरूपचक्र प्रगट हो गया। पूज्यनीय अर्हंत पदमें देवोंका समूह बार बार हाथ जोड़े हुए उपस्थित रहा तथा चौथे शुक्ल ध्यानको ध्याते हुए चार अघातिया कर्मोंका समूह नाश होकर मोक्षरमा आपके सामने खड़ी हो गई।"

जैन धर्मकी विशिष्टता !

(ले० श्री० प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य, काशी)

किसीभी धर्मकी विशिष्टता जाननेके लिये उसके आचारमार्गका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। आचार मार्गके प्रतिपादनमेंही तो धर्मका धर्मत्व निविष्ट रहता है। आचारही प्रथम धर्म है — आचारः प्रथमो धर्मः। भारतवर्षकी पवित्र भूमिपर धर्मका दर्शनके साथ सामञ्जस्य सदासे पूर्णरूपसे स्थापित किया गया है। दर्शनका मूल्य है सैद्धान्तिक, धर्मका महत्व है व्यावहारिक। धर्म वही है जिससे लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याणकी सिद्धि हो। भारतके विद्वान् धर्मकी महत्ता केवल ऐहिक जीवनके लिए ही नहीं मानते, प्रत्युत पारलौकिक कल्याणसे उसका सम्बन्ध है। महर्षि कणादके शब्दोंमें धर्मका लक्षण है — यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। पाश्चात्य देशोंमें धर्म और दर्शनमें पारस्परिक उग्र विरोध रहा है, वहाँ धर्म दर्शनका बाधक रहा है, साधक नहीं, विरोधी रहा है, सहायक नहीं। परन्तु भारतवर्षमें धर्म और दर्शनमें गहरी मैत्री रही है। दोनोंका आविर्भाव इसी लिए हुआ है कि वे तीनों तापसे सन्तप्त जनताकी शान्तिके लिए, क्लेशबहुल संसारसे निवृत्ति पानेके लिए, आनन्दमय मोक्षकी सिद्धिके लिये, सुन्दर तथा निश्चित मार्गका उपदेश देते हैं। दर्शन 'सिद्धान्त' का साधक है, तो धर्म व्यवहारका प्रतिपादक है। धर्म और दर्शनमें खूब घनिष्ट सामञ्जस्य है — समन्वय है। बिना धार्मिक आचार द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शनकी स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचारके द्वारा परिपुष्ट किये धर्मकी सत्ता अप्रतिष्ठित है। धर्मके प्रासाद खड़ा करनेके लिए दर्शन नींव रखता है। धर्मके सहयोगसे भारतीय-दर्शनकी व्यापक व्यावहारिक दृष्टि है और दर्शनकी आधारशिला पर प्रतिष्ठित होनेके कारण भारतीय धर्म आध्यात्मिकतासे अनुप्राणित है तथा वह अपनेको तर्कहीन विचारों तथा विश्वासोंसे बचानेमें समर्थ हुआ है। दुःखकी निवृत्तिकी खोजसे धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिका एकमात्र उपाय यही दर्शन है। धर्म और दर्शनके इस मञ्जुल समन्वयकी भव्य झाँकी हमें जैनधर्ममें विशेषरूपसे दीख पड़ती है।

जैन धर्मकी महती विशिष्टता है — आचारपर विशेष आग्रह। धर्मके व्याख्याता तीर्थंकरके सामने सबसे महत्वपूर्ण समस्या है जगत्के दुःखका निवारण। जिधरभी दृष्टि डालिए उधरही दुःखोंका समुदाय दुमल तरंगोंके समान थपेड़ा मारकर हमारे जीवनसिन्धुको क्षुब्ध बनाये रहता है। इन दुःखक्षोभसे आत्माको बचानाही हमारे जीवनका लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणीकी आत्मा अनन्तशक्ति, अनन्त ज्ञान, आदि महनीय गुणोंसे विशिष्ट है। महावीर मनुष्यके स्वातन्त्र्यके उपासक हैं। जिसमें अनन्तवीर्य भरा हुआ है, भला वह किसीका दास बन सकता है? परन्तु मनुष्य जगती तलपर सर्वत्र-ही दास बना हुआ है, कहीं वह बाह्य प्रभुकी दासतामें आबद्ध है तो कहीं अपनी वासनाओंकी आन्त-

रिक दासतामें जकड़ा हुआ है। इस दासतासे आत्माको उन्मुक्त करनाही जैन शास्त्रोंका उद्देश्य है। कर्मके कारणही जीवको बन्धन प्राप्त होता है। कर्मही दासताका कारण है। जैन धर्ममें कर्मका विवेचन बड़ाही साङ्गोपाङ्ग है। समग्र कर्मोंका क्षय हो जानाही मोक्ष कहलाता है—कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः (तत्वार्थसूत्र १०।३) मोक्ष उत्पन्न होनेसे पहिले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैन शास्त्रमें अनिवार्य मानी गई है। कैवल्यके प्रतिबन्धक चार प्रकारके कर्म होते हैं — मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय। इन सबमें मोह सबसे अधिक बलवान है। अतः उसके नाशके बादही अन्य कर्मोंका नाश शक्य होता है। मोहके प्रभुत्वकी महिमा सब धर्मोंमें स्वीकार की गई है। योगदर्शनमें पञ्चविध क्लेशोंमें अविद्याही अन्य क्लेशोंमें आदिम है, अविद्यास्मिता राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः (योगसूत्र २।३) अविद्याका अर्थ है — अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्ममें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्मबुद्धि रखना। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्गको नित्य मानना, परमबीभत्स अपवित्र शरीरको पवित्र मानना, दुःखदायी जगत्के पदार्थोंमें सुख मानना तथा शरीर, इन्द्रिय और मनको आत्मा मानना — अविद्याके प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पाद अविद्या क्लेशसन्तानका बीज है तथा विपाकके साथ कर्माशयकी उत्पादिका है। पतञ्जलिका स्पष्ट कथन है— अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् (योगसूत्र २।४) बौद्धधर्ममेंभी अविद्याको द्वादश निदानोंमें आदिम निदान माना गया है। बौद्ध मतका मुख्य सिद्धान्त है — प्रतीत्यसमुत्पाद जिसके अनुसार अविद्याही संस्कार, विज्ञान, नामरूप आदिके उदय द्वारा जरामरणकी उत्पादिका है। ठीक इसीभाँति मोहनीय कर्मोंका सर्वातिशायी प्रभुत्व होता है। बिना इनके नाश हुए न अन्य कर्मोंका नाश होता है और न तदुपरान्त केवलज्ञानका उदयही होता है। अतः समग्र कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होनेसेही मुक्ति होती है। आत्यन्तिकका अर्थ है — पूर्वबद्ध कर्मोंका तथा नवीन कर्मके बाँधनेकी योग्यताका अभाव। प्राचीन कर्मोंके नाशके साथ साथ नवीन कर्मोंमें बन्धनकी शक्ति न होने परही मोक्ष माना जा सकता है। आत्यन्तिक क्षयका यही अर्थ है।

आत्माको परमात्माके रूपमें परिणत कर देनाही जैन धर्मका लक्ष्य है। परमात्मप्रकाशके रचयिता जोगीन्दुके अनुसार आत्माके तीन रूप होते हैं — (१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा। साधारण लोगोंकी दृष्टिमें यह शरीरही आत्मा है—यही हुआ बहिरात्मा; शरीर, मन तथा इन्द्रियसे भिन्न, परन्तु मोहनीय आदि कर्मोंके वशीभूत होनेवाला जीवही अन्तरात्माके नामसे पुकारा जाता है। वही अन्तरात्मा साधन विशेषोंके द्वारा वशीभूत होकर परमात्मा बन जाता है। परमात्मा कौन है? [illegible] आत्माके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं। परमात्माका रूप देखिए —

> जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ।
> जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ॥
>
> (परमात्मप्रकाश १।१२)

जो अपने भाव — अनन्त ज्ञान आदि नहीं छोड़ता, और जो दूसरेके भावको ग्रहण नहीं करता, जो नियमसे जगत्त्रयमें तीनों कालमें विद्यमान रहनेवाले समस्त पदार्थोंको जानता है वही शान्त स्वरूप

शिव होता है। जोईन्दुका कथन है कि जैसे आकाशमें एकही उदित नक्षत्र जगत्को प्रकाशित करता है, वैसेही जिसके केवलज्ञानमें जगत् प्रतिबिम्बित होता है वही अनादि परमात्मा होता है —

गयणि अणंति वि एक उडु जेहउ भुवणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिम्बियउ सो परमप्पु अणाइ।

परमात्मप्रकाश १।३८

जैनियोंके अनुसार परमात्मा जगत्के कर्तृत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट आत्मासे पृथक् नहीं होता (जैसा न्याय वैशेषिक मानता है) प्रत्युत अन्तरात्मा ही कतिपय विशिष्ट साधनोंके द्वारा स्वय परमात्मा बन जाता है।

इन्हीं साधनोंके प्रतिपादनमें म० महावीरकी शिक्षाका महत्त्व है। संसारमें दुःखकी सत्ता इतनी बलवती है तथा पद पदपर हमे आक्रान्त कर रही है कि उसकी छुटकारेके लिए उद्योग करना प्रत्येक विवेकशील प्राणीका कर्तव्य हो जाता है। जैन धर्मके अनुसार इसका केवलमात्र उपाय है रत्नत्रयका सम्पादन— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक् चारित्र। जैन धर्मके अनुसार दर्शन तथा ज्ञानका अन्तर खूब स्पष्ट रूपसे दिखलाया गया है। दर्शन है सच्ची श्रद्धा। जीवोंके आध्यात्मिक विकासमें श्रद्धाकी भूयसी प्रतिष्ठा है। गीताका महत्वपूर्ण वचन है—यो यच्छ्रद्धः स एव सः। जो मनुष्य जिस वस्तुकी श्रद्धा रखता है वह वही बन जाता है। श्रद्धाके आधार परही ज्ञान प्रतिष्ठित होता है और इस ज्ञानका उपयोग है—चारित्रमें। सदाचारके द्वारा साधक भविष्यमें होनेवाले नवीन कर्मोंको रोक लेता है और इसीके अगभूत तपस्याके बल पर वह करोड़ों जन्मोंके पापोको क्षीण कर देता है। तपके द्वारा पूर्व सञ्चित कर्मोंका होता है शोषण और चारित्रके द्वारा नवीन कर्मोंका होता है प्रतिरोध। इस प्रकार जीव कर्मप्रपञ्चसे बच कर आत्मकल्याणकी ऊँची चोटीपर पहुँचनेमें समर्थ होता है। भगवान् महावीरका स्वय उपदेश है—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगण्हइ, तवेण परिसुज्झइ॥

समन्वय बुद्धि जैन धर्ममें विशेष रूपसे दृष्टिगोचर होती है। वह किसीभी धर्मसे न तो विरोध रखता है और न किसी दार्शनिक दृष्टिका अपलाप करता है। वह 'स्याद्वाद'के महनीय सिद्धान्तके द्वारा समग्र सिद्धान्तोंमें सामञ्जस्यका पक्षपाती है। जैनमतानुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होता है — अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्। कोईभी वस्तु अनन्त धर्मोंका समुच्चय होती है। मानव बुद्धि केवल एकदो धर्मोंको जान कर उसीकी सत्ता पर आग्रह दिखलाती है, परन्तु वस्तुस्थितिपर विचार करनेसे प्रत्येक ज्ञानका सापेक्ष होनाही न्याय सगत प्रतीत हो रहा है। साधारणतया ज्ञान तीन प्रकारके होते हैं — (१) दुर्णय, (२) नय, (३) प्रमाण। यदि विद्यमान होनेवाली किसी वस्तुको हम विद्यमानही (सदैव) बतलावें, तो उसके अन्य प्रकारोंके निषेध करनेके कारण यह ज्ञान दुर्णय (दुष्ट नय)के नामसे पुकारा

जाता है। अन्य प्रकारोंका बिना निषेध किये वस्तुको सद् (विद्यमान) बतलाना आंशिक ज्ञानसे सवलित 'नय' कहलावेगा। विद्यमान वस्तुके विषयमें 'सम्भवतः यह है' (स्यात् सत्)[1]— यही ज्ञान वस्तुतः सच्चा है, क्योंकि इसमें वस्तुके ज्ञात और अज्ञात समस्त धर्मोंका एकत्र सकलन हो जाता है — यही है प्रमाण। 'स्याद्वाद' ही सच्चा प्रमाण है। स्याद्वादके माननेके कारण जैन धर्मकी दृष्टि अतिशय व्यापक तथा समन्वयी प्रतीत होती है। उदाहरणके लिये उसकी आत्माविषयक कल्पनाको हम ले सकते हैं। आत्माको कुछ दार्शनिक 'सर्वगत' मानते हैं, कुछ 'जड़' मानते हैं; बौद्ध लोग शून्य मानते हैं और जैन लोग उसे देहप्रमाण मानते हैं। यह भिन्न भिन्न दृष्टियाँ–व्यवहार-नय–का फल है, परन्तु यदि 'निश्चयनय' से विचार किया जाय, तो आत्मा यह चारो रूप है। इस विषयमें जोगीन्दुका कथन भ० महावीरके 'स्याद्वाद' दृष्टिकाही प्रतीक है —

> अप्पा जोइय सव्वगउ अप्पा जडु वि वियाणि।
> अप्पा देह पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि॥

परमात्मप्रकाश १.५१.

आगेके अनेक दोहोंके द्वारा लेखकने इस दोहाके समन्वयवादका प्रमाणपुरःसर वर्णन किया है। यह समन्वय अन्यत्र मिलना नितान्त दुष्कर है।

भ० महावीरके उपदेशकी महत्ता इस कारण विशेष है कि वे उनके स्वानुभवपर अवलम्बित हैं। विद्वान् तथा यतिके उपदेशका अन्तर तो यही कारण होता है। विद्वानका ज्ञान पुस्तकके आधार पर ही अवलम्बित रहता है। वह उसकी सत्यताकी परीक्षा स्वानुभूतिकी कसौटी पर कभी नहीं करता। 'यथाश्रुत तथा निवेदितम्'–यह उसका वही महामन्त्र होता है, परन्तु यति या साधुसन्तका उपदेश अपने निज अनुभवके ऊपरही अवलम्बित रहता है। इसीलिए उसमें प्रभावोत्पादनकी महती शक्ति है। परमार्थका मुख्य प्रमाण है–स्वानुभूति–स्वानुभूत्येक मानाय नमः शान्तात्मतेजसे। अपनी अनुभूतिही परमार्थकी सत्ताके लिए मुख्य प्रमाण है। महावीरकी शिक्षायें स्वानुभूतिकी आधारशिलापर प्रतिष्ठित हैं इसीलिए उनमें इतना जोर दिखाई पड़ता है–इतनी प्रभावशालिता दीख पड़ती है। एकाध उदाहरण देखिये—

> कुसग्गे जह ओस बिंदुए
> थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
> एवं मणुयाण जीवियं
> समयं गोयम! मा पमायए॥

आशय है कि हे गौतम, जैसे घासके अग्रभागपर तरल ओसकीबूँद थोड़ेही समय तक टिक

---

[1] 'दृष्टि विशेषकी अपेक्षा से'—स्यात् शब्दका अर्थ लेना उचित है। स्याद्वाद सिद्धांत किसी वस्तु-विवेचनाको 'यदही है' कह कर एकान्त पक्षमें जिज्ञासुको नहीं डालता; बल्कि [illegible] स्पष्ट रूपसे–'संभवत.' नहीं, वस्तुविवेचनाके रूप-विशेषको 'यहभी है' निर्दिष्ट करके पूर्ण सत्यके दर्शन कराता है। —का. प्र.

सकती है, वैसेही शरीरधारियोंका जीवन है। अतः थोडेसे समयके लियेभी प्रमाद मत करो। इस गाथाकी उपमा इतनी सुन्दर, सटीक तथा सरस है कि वह उपदेश चित्तपर गहरा प्रभाव जमाता है। स्मरण रखना चाहिए कि जीवनकी असारताकी शिक्षा हृदय पर इतनी चोट करती है कि कहा नही जा सकता। इस असारताको हृदयगम बनानेके लिए कुशके सिरेपर लटकनेवाले ओसबिन्दुकी उपमा बडीही सुन्दर है। इसके भीतर स्वानुभूतिका पर्याप्त पुट है।

म० महावीरने त्यागके महनीय गुणोंकी ओर साधकोंकी दृष्टि फेकी है। आर्यसस्कृतिके मूलमें यही सर्वातिशायी पदार्थ है–त्याग। वैदिक ऋषि कहते हैं—

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

त्यागसे धनको भोगो। किसीके धनको खसोटनेका लालच न करो। अन्य धर्मवालोंकी दृष्टि स्वधनको अपने कार्यमें लगानेके प्रति है। और आजकल मानव समाज दूसरेके धनको लूटपाट कर अपने स्वार्थमें लगानेकाही पक्षपाती है। आधुनिक ससारकी मनोवृत्तिका क्या यह सच्चा वर्णन नहीं है? परन्तु भारतीय सस्कृतिका आधार यह नहीं है। मैंने अन्यत्र दिखलाया है कि भारतीय सस्कृति जिन तीन तकारों–त्याग, तप और तपोवन–पर आश्रित रहती है, उनमें 'त्याग' ही मुख्य तथा सर्वातिशायी है। महावीरस्वामी त्यागीकी बडी ही सुन्दर परिभाषा बतलाते हैं—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

गृहस्थाश्रममें रहते हुएभी जो मनुष्य सुन्दर तथा प्रिय भोगोंको प्राप्त करकेभी उनकी ओर पीठ करता है अर्थात् उन भोगोंमें अलिप्त रहता है; इतनाही नहीं, अपने अधीन होनेवाले भोगोंकोभी वह छोडता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है। अप्राप्त तथा अप्राप्य भोगोंका परित्याग करने वाले कहाँ नहीं हैं। न मिलनेवाले अंगूरको खट्टा बतलानेवाली लोमडी किस समाजमें नहीं होती? परन्तु वह व्यक्ति त्यागी नहीं है। त्यागके लिये आवश्यक होता है–ज्ञानपूर्वक वस्तुग्रहण यह पूर्ण ममताके परित्याग तथा पूर्ण वैराग्यके होने परही सभव होता है। इसी प्रसगमें महावीरने इन्द्रिया-सक्तिका सुन्दर दृष्टान्तोंके द्वारा वर्णन किया है वह नितान्त हृदयावर्जक है। एक एक इन्द्रियके वशमें पडा हुआ जीव अपना विनाश प्राप्त करता है। उस मनुष्यको क्या कहा जाय? जो पाँच इन्द्रियोंके पाशमें जकडा हुआ अपना इहजीवन व्यतीत करता है।

महावीरकी शिक्षामें अहिंसाका स्थान बडाही ऊंचा है। आजकल ससार हिंसाका क्रीडा निकेतन बना हुआ है। जिधर देखिए उधरही हिंसा देवीका प्रचण्ड ताण्डव लोगोंके हृदयमें उन्माद उत्पन्न कर रहा है। ससारको इस कठोर विनाशसे बचानेका एकही मार्ग है और वह है अहिंसा व्रतका पालन। 'अहिंसा' का प्रयोग हम व्यापक अर्थमें कर रहे हैं। प्राणियोंके प्राणनाशकोही हम हिंसा नहीं मानते, प्रत्युत हिंसाका क्षेत्र बहुतही व्यापक है। मनसा वाचा कर्मणा तीनोंके द्वारा हिंसा निवृत्तिही महावीर स्वामीको मान्य है। महावीरके वचन हैं—

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥

इस प्रकार महावीरने त्याग तथा तपस्याके आचरण पर तथा अहिंसा व्रतके पालन पर विशेष महत्व दिया है। येही भारतीय संस्कृतिके मूल आधार हैं। इन्हींके ऊपर हमारी प्राचीन अय व मृत्युञ्जय सभ्यता आजभी टिकी हुई है। भारतीय धार्मिक परम्पराकाही निर्वाह हमें महावीरकी शिक्षामें मिलता है। उपनिषदोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको ग्रहणकर उन्होंने अपने मतका परिष्कार किया। महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर हैं। उनसे प्राचीन तेईस तीर्थंकरोंने भिन्न भिन्न समयोंमें इस धर्म का भव्य उपदेश प्राणियोंके हितार्थ किया। आजकलके इतिहासज्ञ व्यक्ति इन समस्त तीर्थंकरोंकी ऐतिहासिकतामें विश्वास नहीं करते, परन्तु प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति माननाही पड़ेगा। प्रसिद्ध भागवतके ५ स्कन्द (अ० ४-६) में ये मनुवंशी राजा नाभि तथा महारानी मरुदेवीके पुत्र बतलाये गये हैं। इनके सिद्धान्तका जो वर्णन यहां उपलब्ध होता है वह जैनधर्मके सिद्धान्तोंसे मेल रखता है। ऋषभकेही ज्येष्ठ पुत्र भरत (या जड भरत) के नामसे यह देश 'भारतवर्ष' के नामसे विख्यात है। अतः ऋषभनाथको ऐतिहासिक व्यक्ति मानना नितान्त उचित है। इन्हींकी परम्परा महावीरके सिद्धान्तोंमें अभिव्यक्त होती है। हम महावीरके मतको उपनिषन्मूलक धर्मोंसे पृथक् नहीं मानते। जिस प्रकार हिमालयमें स्थित मानसरोवरसे निकल कर विभिन्न जलधारायें इस भारत भूमिको आप्यायित तथा उर्वर बनाती हैं उसी प्रकार उपनिषदोंसे विभिन्न विचार धारायें निकल कर इस देशके मस्तिष्कको पुष्ट तथा तृप्त करती हैं। भारतवर्षमें पनपनेवाले समग्र धर्म-वृक्षोंके मूलमें विराजनेवाली है वही उपनिषत्-ब्रह्मविद्या*। और इसी ब्रह्मविद्याके आधारपर उगनेवाले जैन धर्मका यह कल्पद्रुम है जिसकी शीतल छायामें जाकर मानवमात्र अपना कल्याण साधन कर सकता है। महावीरका यह उपदेश कभी न भूलना चाहिए —

जर जाव न पीडेइ, वाही जावन वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥

जबतक बुढापा नहीं सताता, जबतक व्याधियां नहीं बढतीं जबतक इन्द्रियां हीन-अशक्त नहीं बनतीं, तब तक धर्मका आचरण कर लेना चाहिए। उसके बाद होताही क्या है? बहुतही ठीक है यह कथन, परन्तु इसका उपयोग तब हो सकता है, जब इसको व्यवहारमें लाकर इसके अनुसार अपना जीवन बनाया जाय। बिना क्रियाके ज्ञान बोझही है 'ज्ञान भारः क्रिया विना'। महावीरके उपदेशका संकेत इसी ओर है।

---

* श्रमणपरम्परा प्राचीन भारतीय विचारधाराकी एक स्वाधीन विशेषता है, जो ऋषभादि तीर्थंकरो द्वारा उपनिषदोंके रचना कालसेभी पहलेसे प्रतिपादित होती आई है। —का० प्र०

भगवान्‌का धर्म।

(ले. श्री. प्रो. दलसुख मालवणिया, काशी)

भगवान् महावीरने धर्मको सीधे और सरल रूपमें उपस्थित किया था। जहाँ वेदादिमें भौतिक संपत्तिकी साधना वर्णित थी वहां भ० महावीरने आत्मिक संपत्तिकी साधना पर जोर दिया। धार्मिक अनुष्ठानोंमें विघ्नरूप बननेवाले पण्डों और पुरोहितों का कोई स्थान नहीं रक्खा। वेदका ऋषि यदि अपनी प्रार्थना सीधी प्राकृतिक देवोंको सुना सकता था तो भगवान् महावीरके मार्गका पथिकभी अपनी प्रार्थना आप ही कर सकता था। वस्तुतः उसे किसी औरको तो सुनाना है नहीं, वह तो अपने आत्माको ही अन्तर्मुख होकर समझाता है कि रे! आत्मन् उन्नति चाहते हो तो सर्व प्रथम बाह्य वस्तुका मोह छोडना होगा। इस प्रार्थनाको अपनी आत्मा जितनी मात्रामें सुन सकेगा और उसके अनुसार आचरण करेगा तो उतनी मात्रामें अपना उद्धार आपही होता जायेगा। यहीं भगवान्‌के धर्मकी विशेषता है। उसमें स्वयं भगवान् महावीर भी दूसरेका भला तब तक नहीं कर सकते जब तक भलाई चाहनेवाला जीव अपना मार्ग आप नहीं चुन लेता। भगवान् तो मार्ग देशक हैं मार्गपर चलने वाले तो हम हैं। इस प्रकार भगवान् महावीरने जीव की उन्नति या अवनतिका कर्ता धर्ता जीवको ही करार दिया। बाहरी ताकत या सहायको महत्त्व नहीं दिया। जीवके भाग्यको बाहरी देवता या ईश्वरके हाथसे लेकर स्वयं जीवको ही सौंप दिया। अब चाहे तो मुक्त हो सकता है, देव हो सकता है या फिर मौजूदा स्थितिसे हीन भी हो सकता है।

जिन इन्द्रादि देवोंका मनुष्य पुजारी था वे इन्द्रादि देव तो मनुष्यकेभी पूजक हो गये। इतनी उच्च अवस्था पर ले जाकर मनुष्यको भगवान् महावीरने स्थापित किया। यह चमत्कार घटित कैसे हुआ? जिस चीजको मनुष्यने अभी तक धर्मरूपसे पहचानाही न था उसे उन्होंने बताया। और वह ऐसीही दूसरी चीजको धर्म मान कर चलता था जो धर्म होही नहीं सकती थी, उससे मनुष्यका पिण्ड छुडाया, ऐसा करनेसेही मनुष्य स्वयं देव बन गया और इन्द्रादि देव उसके सेवक बन गये। उन्होंने कहा है—

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति,
जस्स धम्मे सया मणो॥"

'धर्मही उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा संयम और तप यह धर्म है। जिसका मन सदा ऐसे धर्ममें रत रहता है उसे देवताभी नमस्कार करते हैं।'

स्पष्ट है कि यज्ञ यागादिमें हिंसा करके, अपनी इच्छाओंको बेलगाम करके या जो कुछ मिला

उसे ग्रहण करके जीव धर्मोपार्जन नहीं कर सकता; इसके विपरीतही चल कर वह धार्मिक हो सकता है। विषयभुत या विश्रमैत्रीको अपना कर यानि अपनी इच्छाओंका संयम करके, इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करकेही, तपस्याको अपना करही वह सच्चा धार्मिक बन सकता है।

जिस संपत्तिके लिये वेद और ब्राह्मणोंमें नाना धार्मिक अनुष्ठानोंकी सृष्टि हुई थी उसी संपत्तिकोही सर्व अनर्थका मूल भगवानने बताया और इस प्रकार वैदिक धार्मिक अनुष्ठानोंकी जडही काट दी। और धर्मके नाम पर होनेवाली हिंसाकाही निरोध कर दिया। उन्होंने कहा है—

" सव्वं विलवियं गीय सव्वं नट्टं विडंवणा।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहा वहा॥ "

अर्थात् बाह्य रागरागकी निःसारताको बताते हुए उन्होंने कहा है कि जिसे [illegible] गीत समझते हैं वह विलाप है। नाट्य तो विडम्बना मात्र है। सभी आभरण भाररूप हैं और इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले ये विषय दुःखावह हैं।

मनुष्यको इस संसारमें भौतिक सम्पत्ति ज्यों ज्यों मिलती जायगी त्यों त्यों वह तृप्त होनेके बजाय अधिक मात्रामें लालची होता है इस अनुभवजन्य तत्वको भगवानने इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

'सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥'

कसिणं पि जो इमं लोगं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया॥
जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।

इसी प्रकार [illegible] आकाशके समान अनन्त है। सारा संसार भी हमारे अधीन हो जाय तब [illegible] हो सकता क्यों कि लोभका यह स्वभाव है कि ज्यों ज्यों लाभ होता जायगा [illegible]। [illegible] उन्होंने बताया है कि—"लोभं संतोसओ जिणे" अर्थात् [illegible] पर विजय करना चाहिए।

[illegible] हमेशा [illegible] कि इसे [illegible] है जिससे हम [illegible] नाश करें और [illegible] एक [illegible] सारे लोगोंको बताया है। [illegible] और [illegible] उन्हीं पर विजय पानेको [illegible]

"[illegible] [illegible] धम्मे परमो जओ॥

क्योंकि बाह्य संग्राम करके उनपर विजय पाना वह कोई विजय नहीं किन्तु अपनी आत्मा पर विजय पाना ही सच्चा विजय है। बाहरी शत्रुके ऊपर विजय पाना आसान है किन्तु अपने आत्मा पर विजय पाना ही तो कठिन है। किन्तु यदि आत्माविजय हुवा तो विश्वविजय भी सहज है। उस विजय की विशेषता यह है कि उससे शत्रु भी मित्र बन जाते हैं इसके विपरीत बाहरी शत्रुपर विजय पाने पर शत्रुता उत्तरोत्तर बढती है। वैर और प्रतिवैर की परंपरा बढती चली जाती है। विजय भी हो और शत्रुता बढे भी नहीं, वैर प्रतिवैरकी परंपराकी बेल भी फूलेफले नहीं ऐसी विजय तो भगवान् के मतमें ही मिल सकती है और वह है आत्म विजय द्वारा, इसीलिये तो भगवान्ने कहा है कि—

"अप्पाणमेवजुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं जइत्ता सुहमेहए॥

अरे तू बाहरी शत्रुसे क्यों लडता है, युद्धही करना है तो अपनी आत्माके साथही कर। अपनी आत्माके ऊपर विजय ■ करही सच्चा सुख प्राप्त कर सकोगे।

इसी प्रकार यज्ञ, स्नान इत्यादि धार्मिक समझे जानेवाले अनुष्ठानोंकीभी शुद्धि की। उन अनुष्ठानोंको आध्यात्मिक दृष्टिसे नया रूप दिया। उन्होंने कहा है कि यज्ञमें बाहरी अग्निका प्रयोजन नहीं है। तपस्यारूप अग्निमें अपने पापकर्म रूप इंधनोंको डाल कर जलादो यही सच्चा यज्ञ है। ब्रह्मचर्य ही सच्चा तीर्थ है। उसीमें स्नान करके यदि पवित्रता प्राप्त होती है तो इधर-उधर भटकनेकी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार प्रत्येक अनुष्ठानोंमें आध्यात्मिकता लानेका उनका प्रयत्न था।

उन्होंने अपना उपदेश जनभाषा प्राकृतमेंही दिया। और इस प्रकार शुद्ध संस्कृतके आग्रह रखनेवाले ब्राह्मणोंमेंही अपने उपदेशको सीमित न रख कर उसे सर्वसाधारणके समझने योग्य बनाया। फल यह हुआ कि सभी पढेलिखे या अनपढ उससे पूरा लाभ उठा कर अपनी उन्नतिके लिये ब्राह्मणमुखप्रेक्षी न बन कर स्वय प्रयत्नशील बन गये।

अपने धर्ममें उन्होंने नारीकोभी महत्त्वका स्थान दिया। नारीभी चाहे तो पुरुषकीही तरह अपनी उन्नति आप कर सकती है ऐसा उपदेश भगवान्ने दिया। वहभी चाहे तो सर्वस्वका त्याग कर, ब्रह्मचारिणी हो कर मुक्तिपथगामिनी हो सकती है ऐसा उपदेश उन्होंने दिया।

शूद्र जो कि समाजमें दीन हीन समझा जाता था उसेभी धार्मिक क्रियाकाण्डोंका स्वातन्त्र्य दिया। वहभी चाहे तो अपने त्याग और तपस्याके द्वारा ब्राह्मणकाभी गुरु हो सकता है ऐसा उदार उपदेश भगवान्का है। शास्त्रोंमें ऐसे कई उदाहरणभी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उनका यह उपदेश समाजमें प्रविष्ट हो चुका था। हरिकेशी जैसे चाण्डालभी जैन साधु हुए हैं जिन्होंने अपना और दूसरोंका उद्धार किया है।

वस्तुत. भगवानने तो जातिवादकाही प्रबल विरोध किया था। उनके मतमें किसीकी जाति ऊंच या नीच नहीं है। मनुष्य अपने शुभ कर्मोंके द्वारा उच्च होता है और अशुभ कर्मोंके द्वारा नीच होता है। नीच जातिमें जन्म लेकर भी यदि कोई त्याग और तपस्याका मार्ग अपनाता है तो वह उच्च है, पूज्य है और यदि कोई उच्च जातिमें पैदा होकरभी नीच कृत्य करता है — पापकर्ममें रत रहता है तब वही वस्तुतः नीच है, शूद्र है ऐसा भगवानका स्पष्ट मत है।

जैनधर्म : विश्वधर्म !

(ले. श्री. प्रो. हैल्मुथ फॉन ग्लास्नाप्प, पीएच. डी., बर्लीन (जर्मनी))

जैनधर्म विश्वव्यापी है। अपने मतानुसार वह विश्वधर्म है। अधिकसे अधिक जीवोंके हितका दावा वह करता है। मनुष्यही नहीं, तिर्यञ्च, देव और नारकीभी जैन सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं। उच्च वर्गके देव इस धर्मको स्वीकार सकते हैं। ग्रैवेयकादिके देव तो जैनधर्मानुयायीही हैं। नरकवासी जीवभी सम्यक्त्वी हो सकते हैं। पहलेंसे चौथी इन्द्रियवाले पर्याप्त विकसित तिर्यञ्च मिथ्यात्वी होते हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवभी मिथ्यात्वमें पले रहते हैं। हां, पञ्चेन्द्रिय सज्ञी तिर्यञ्च सत्प्राय या सर्वांशमें सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। कथाग्रंथोंमें ऐसे सम्यक्त्वी तिर्यञ्चोंके उदाहरण मिलते हैं। एक मेंढकने सम्यक्त्व प्राप्त किया था — यह महावीरके समयकी बात है। महावीर राजगृहीके उद्यानमें धर्मोपदेश दे रहे थे, उस समय उस मेंढकको पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण हो आया। वह भक्तिसे प्रेरित हो जिनेन्द्र महावीरकी वन्दनाके लिये चल पड़ा। किन्तु उसकी इच्छा पूरीभी न हुई कि वह हाथीके पैर तले दबकर मर गया। शुभ भावोंसे वह मरा और देव हुआ।[1] इस प्रकार तिर्यञ्चोंतकके लिये जैनधर्मका द्वार खुला हुआ है।

अतः यह स्पष्ट है कि जैनधर्मको प्रत्येक मनुष्य धारण कर सकता है। यह प्रसिद्ध है कि भ. महावीर आर्य-अनार्यका भेद किये बिना सबको उपदेश देते थे। इसपर बुल्हर सा. ने लिखा है[2] कि 'आजतक जैनधर्ममें माली, रंगरेज, आदि लोगोंको दीक्षित करनेकी बात असाधारण नहीं है।' जैन उपदेशक केवल हिन्दु संस्कार पाये हुये लोगोंमें जाते हों, यहही नहीं, बल्कि वे असत्कृत लोगोंमेंभी जाकर उपदेश देते और उन्हें शिष्य बनाते थे — यह बात जैनधर्मके शास्त्रों एवं उसके इतिहाससे स्पष्ट है। हेमचन्द्रजीने लिखा है कि राजा सम्प्रतिने वनवासी लोगोंमें जैनधर्मका प्रचार करनेके लिये, साधुओंको असत्कृत प्रदेशोंमें विहार करनेकी सुविधा उपस्थित की थी। साधुजीवनोपयोगी आहार आदिवस्तुयें लोगोंसे सुलभ हों, इसके लिये राजा अपने धर्म-रक्षक उन देशोंमें साधु विहारके पहले भेज देता था। वे लोगोंको राजाज्ञा सुनाते और आहार विहारकी सुविधा करते थे।[3]

जैन अपने धर्मका प्रचार भारतमें आकर बसे हुये शकादि म्लेच्छोंमेंभी करते थे, यह बात 'कालकाचार्यकी कथा'से स्पष्ट है। कहा तो यहभी जाता है कि सम्राट अकबरभी जैनी हो गया था। आजभी जैन संघमें मुसलमानोंको स्थान दिया जाता है। इस प्रसंगमें बुल्हर सा. ने लिखा था

---

१. समन्तभद्राचार्य, "रत्नकरण्ड-श्रावकाचार" १२०.

२. George Bülher, "Uber die Indische Sekte der Jaina," p. 36.

३. हेमचन्द्रः "परिशिष्ट पर्व" ६९-१०२.

कि अहमदाबादमें जैनोंने मुसलमानको जैनी बनानेकी प्रसंग वार्ता उनसे कही थी-जैनी उसे अपने धर्मकी विजय मानते थे ।[४]

भारतकी सीमाके बाहरके प्रदेशोंमेंभी जैन उपदेशकोंने धर्मप्रचारके प्रयत्न किये थे । चीनयात्री ह्यूयेन सॉंग (६२८-६४५ ई०) को दिगम्बर जैन साधु कियापिया (कपिश) में मिले थे-उनका उल्लेख उसके यात्राविवरणमें है ।[५] हरिभद्राचार्य (८ वीं श०) के शिष्य हंस-परमहंसके विषयमें ज्ञात है कि वे धर्मप्रचारके लिये तिब्बत (भोट) में गये और वहा बौद्धोंके हाथोंसे मारे गये थे ।[६] ग्रुइनवेडल (Gruinwedel) सा० ने कुछ विषयकी हकीकतका जो अनुवाद किया है, उससे वहा जैनधर्म प्रचारकी पुष्टि होती है ।[७] महावीरके धर्मानुयायी उपदेशकोंमें इतनी प्रचार आतुरता थी कि वे समुद्र पारभी जा पहुंचे थे । ऐसी बहुत-सी कथायें मिलतीं हैं जिनसे विदित होता है कि जैन धर्मोपदेशकोंने दूर-दूरके द्वीपोंके अधिवासियोंको जैनधर्ममें दीक्षित किया था। दिगम्बरोंकी मान्यता थी कि जयपुरसे १५०० कोस दूर, रामेश्वरके परली पार समुद्रमें जैनबद्री नामका द्वीप है जो जैन विद्याका केंद्र था[८] । मुहम्मद सा० से पहले जैन उपदेशक अरबस्तानमें भी गये थे, इस प्रकारकीभी कथा है । प्राचीन कालमें जैन व्यापारीगण अपने धर्मको समुद्र पार ले गये थे, यह बात सभव है । अरब दार्शनिक तत्ववेत्ता अबु-ल-अला (Abu-l-Ala,) [७९३-१०६८ ई०] के सिद्धांतोंपर स्पष्टतः जैन प्रभाव दिखता है । वह केवल शाकाहार करता था-दूधतक नहीं लेता था । दूधको गायके

---

४. Buhler, *loc. cit* p. 36 जैकोबीको पता था कि एक ईसाई पादरीने जैनधर्म धारण किया था।

[सं. नोट—भारतके इण्डो-ग्रीक शासकोंमेंभी जैनधर्मका प्रचार हुआ था। 'मिलिन्दपण्ह' ग्रंथसे (१०८) स्पष्ट है कि यवनराज मिलिन्द (Menander) पाच सौ यूनानियोंके साथ जैन मुनियोंके पास धर्मचर्चा करने गया था; जिनमेंसे अधिकांश जैनी हो गये थे। (Historical Gleanings, p. 78) कुशन कालमें शक और पारथीय यवन (Parthians) भी जैन धर्मरत हुये थे, यह बात मथुराके जैन-मूर्ति-लेखोंसे प्रमाणित है। (Luders, D. R. Bhandarkara Volume (Calcutta) pp. 280-289) छत्रप राजाओंमें नहपान और रुद्रसिंहकी भक्ति जैन धर्मके प्रति थी। (जैन सिद्धांत भास्कर, भा० ११ पृ० ४) हूण नरेश तोरमाणके गुरु देवगुप्त जैनाचार्य थे। (शाह, जैनीज्म इन नोर्थ इंडिया, पृ० २१०—२११) अकबरके लिये जीसूट पादरियोंका कहना था कि वह व्रती (जैनी) हो गया है। (सूरीश्वर और सम्राट् पृ. ३९९-४००) सवत् १९७०में दिल्लीके अब्दुर्रहमान फूलनाउँने स्थानकवासी जैन धर्मकी दीक्षा ली थी। जिनयक्षजी दिगम्बर श्रावक हुये थे। मेलसामें श्री अब्दुलरज्जाक (जिनेश्वरदास) जैनी हुये हैं। जोधपुरमें स्थानकवासी जैन साधुओंने चमारों और हारिजनोंको हालमें जैनी बनाया है। जैन मंदिरोंमें हारिजन प्रवेशकोभी स्वीकारनेका आन्दोलन चल रहा है। —का० प्र०]

५ Samuel Beal. "Si-yu ki, Buddhist Records of the Western World" I, p. 55.

६. Pulle GSAI. I, pp 55.

७. A Grunwedel: "Alt-Kutscha" (Berlin, 1920) I. 10, 12.

८. G. Buhler, INDIAN ANTIQUARY, VII (1878) p. 28.

स्पनसे खींच निकालना वह अदत्ता-पाप समझता था। यथाशक्ति वह निराहार रहता था। मधु (शहद) कामी उसने त्याग किया था, क्योंकि मधुमक्खियों को नष्ट करके मधु इकट्ठा करनेको वह अन्याय मानता था। इसी कारण वह अंडे भी नहीं खाता था। आहार और वस्त्रधारण में [illegible] संन्यासी जैसा था। पैर में लकड़ीकी पपरखी पहनता था; क्योंकि पशुचर्मके व्यवहारकोभी वह पाप मानता था। इसीलिये चर्म के जूते नहीं पहनता था। एक स्थल पर उसने नग्न रहनेकी प्रशंसा की है और कहा है कि "ग्रीष्म ही तेरे लिये पूरा वस्त्र है।" उसकी मान्यताथी कि "भिखारी को दिरम देनेकी अपेक्षा, मक्खी की जीवन रक्षा करना श्रेष्ठ है।" उसके इस व्यवहार और कथनसे स्पष्ट है कि वह अहिंसाधर्मको कितने गंभीर भावसे मानता था। उसपर दि० जैनोंकी मान्यताओंका प्रभाव था।[१]

---

१. Kremer : "Über die Philosophischen Gedichte des Abul-alā maorry." Sitzung berichte der Wiener Akādemie CXVII, 6 (1886)

[सं. नोट—जैन मुनिगण धर्मप्रचारके लिये सदैव तत्पर रहते हैं–अज्ञानतिमिरको मेटना उनका पहला कर्तव्य है। जैन पुराणोंमें विभिन्न विदेशोंमें धर्मप्रचार करनेके विवरण मिलते हैं। भारतके पहले ऐतिहासिक सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार जैन थे और उन्होंने महावीर धर्मको प्रचारित किया था। (स्मिथ, ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ७५) श्रेणिकके [illegible] राजकुमार अभयके प्रयत्नसे ईरान (पारस्य देश) के राजकुमार आर्द्रक जैनधर्मानुयायी हुये थे। (डिस्कवरी ऑव जैन बिब्लोग्रेफी, पृ० ९२) यैक्ट्रियाके जिमोसुफिस्ट (जैन श्रमणो) का उल्लेख मेगास्थनीजने किया है। (ऐन्सियेन्ट इंडिया, पृ० १०४) मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तभी जैन थे। अशोकके सप्तम स्तम्भ लेखसे स्पष्ट है कि उन्होंने धर्मप्रचारका उद्योग किया था। अन्तमें वह स्वयं दिगम्बर जैन मुनि हो गये थे। (नरसिंहाचार्य "श्रवणबेलगोल" और स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १५४) अशोकने जिस धर्मका प्रचार किया, वह निरा बौद्ध धर्म नहीं था। अशोक पर जैन सिद्धांतोंका अधिक प्रभाव था और उसका प्रचार उन्होंने किया था। ('सम्राट् अशोक और जैन धर्म' नामक पुस्तक देखो) अशोकने मिश्र, मैसेडोनिया, कोरेन्थ और साइरेने नामक देशोंमें अपने धर्मरज्जुक भेजे थे, किन्तु इन देशोंमें बौद्ध धर्मके चिन्ह नहीं मिलते, बल्कि जैन धर्मका अस्तित्व इन देशोंमें रहा प्रतिभाषित होता है। मिश्रमें जो धर्मचिन्ह मिले हैं उनका साम्य जैन चिन्होंसे है। (ओरियंटल, अखबार १८९२, पृ० २३–२४) बर्मा हालमें वहां भारतीय शैलीकी मूर्तियांभी मिली हैं। (मॉडर्न रिव्यू, मार्च १९४८, पृ० २२९) मिश्रवासी जैनोंके समानही ईश्वरको जगतका कर्ता नहीं मानते थे, बल्कि बहु-परमात्मवादके पोषक थे। परमात्मा उस व्यक्तिको मानते थे जो अनन्तरूपेण पूर्ण और सुखी हो। वे शाश्वत आत्माका अस्तित्व पशुयोनिकमें मानते थे। अहिंसा धर्मका पालन यहांतक करते थे कि मछली और मूली, प्याज जैसे शाकभी नहीं खाते थे। वृक्षवल्कलके जूते पहनते थे। अपने देवता होरस (= अर्हः ?) की वे नग्न मूर्तियां बनाते थे। (कान्ट्रब्यूशन्स ऑव ऑपोजिट्स पृ० २ व स्टोरी ऑव मैन, पृ० १८७–१९१) इन बातोंसे मिश्रमें एक समय जैन धर्मका प्रचार हुआ स्पष्ट है। मिश्रके पास इथ्योपिया (Ethiopia) में एक समय जैन श्रमण रहते थे। (ऐशियाटिक-रिसर्चेज, ३-६) मैसीडोनिया या ग्रीक मिश्रवासियोंके अनुयायी थे। यूनानी तत्त्ववेत्ता पिथागोरस (= पिहिताश्रव ?) और पिर्रहो (Pyrrho) ने जिमोसुफिस्ट (जैन श्रमणों) से शिक्षा ली थी। वे जैनोंके अनुरूपही आत्माको अजर अमर और संसारभ्रमण (= आवागमन) सिद्धांतको मानते थे।

वर्तमान कालमें भी कई जैनों ने यूरुपमें अपने धर्मका प्रचार करनेका प्रयास किया है और उनके प्रयास से अमेरिका और इंग्लैंड मे कितने ही स्त्री पुरुष जैनधर्म मे दीक्षित हुये है। सन् १८८३ ई० में शिकागोमें हुये विश्वधर्म सम्मेलन में श्री वीरचंद राघवजी गांधी गये थे। तब उन्होंने अमेरिका के कई नगरोंमे भाषण देकर 'गांधी फिलॉसॉफिकल सोसाइटीकी' स्थापना की थी। अमेरिकासे वह इंग्लैंड गये और वहां भी उन्होने धर्मप्रचार किया। सन् १८७५ में वह भारत लौटे। किन्तु उनको धर्मप्रचारकी लगन थी। [illegible] लिये सन् १८८६ में फिर अमेरिका गये और वहां से इंग्लैंड पहुंचे थे। सन् १९०१ में वह बम्बई आकर स्वर्गवासी हुवे थे। उसी समय इंग्लैंड में स्व० जज जुगमन्दरदास जैनीने भी धर्मप्रचार का उद्योग किया था। इनके प्रयत्न से २४ अगस्त १९१३ ई० को लंदन में "महावीर ब्रदरहुड" की स्थापना हुई थी जिसके अन्तर्गत "जैन लिट्रेचर सोसाइटी" अंग्रेजीमें जैन साहित्य प्रचारके लिये स्थापित की गई थी। श्री हर्बर्ट वैरन सा० इसके सेक्रेटरी थे। श्री अलेक्झेंडर गार्डन और उनकी पत्नी, श्री लुई डी० सेंटर आदि अंग्रेज जैन धर्मके पक्के अनुयायी हुये थे। सोसाइटी द्वारा अंग्रेजीमें दो-तीन पुस्तकें भी प्रकाशित की गई थी। किन्तु स्व० बैरिस्टर चम्पतराय जीने यूरोपमें जैन धर्म प्रचारका जो कार्य किया वह सर्वोपरि है। २४ अप्रेल १९२६ को लन्दनमें पहले-पहले महावीर जयन्ती का उत्सव बैरिस्टर सा० के उद्योगसे मनाया गया। इसीवर्ष सर्व प्रथम उन्होंने जरमनी, फ्रान्स, इटली आदि देशोंके प्रमुख नगरोंमें जाकर जैनधर्म और विश्वशांति पर भाषण दिये थे। सन् १९२८ में महावीर निर्वाणोत्सव भी लन्दनमें उनके प्रयत्नसे मनाया गया था। सन् १९३० में वह फिर लन्दन गये और पाश्चात्य देशोंमें धर्मप्रचार करते रहे थे। सन् १९३३ में शिकागो में विश्वधर्मसम्मेलन हुआ था। बैरिस्टर सा० के उसमें पांच भाषण हुये, जिनके कारण अमेरिकावासी उनकी ओर आकृष्ट हुवे थे। मेवुड (Maywood) में 'स्कूल ऑफ दी जैन डॉक्ट्राइन' भी स्थापित हुआ था। अप्रेल १९३० में लंदनमें श्री हर्बर्ट वैरनके परामर्श से बैरिस्टर सा० ने 'ऋषभ जैन लेन्डिंग लायब्रेरी' की स्थापना की थी, (जो अभी भी चल रही है)। उनके उपदेशको मानकर बहुत-से अंग्रेज जैननियमोंका पालन करते हैं।

[illegible] वर्णनसे स्पष्ट है कि हिन्दू (वैदिक) धर्मकी तरह जैनधर्म भारतमें ही सकुचित नहीं रहा। उसने सबही जातियों और सबही स्थितियोंके मानवों को धर्म सिद्धान्त जाननेका अवसर दिया है। (मूल जर्मन भाषाके गुजराती अनुवादसे संकलित)

अहिंसा और तपका अभ्यास करते थे। यहांतक कि जैनोंकी तरह द्विदल (= दाली) काभी निषेध करते थे। दहीमें मिला कर द्विदल वैसी नहीं खाते, क्योंकि उसमें सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार यूनानमेंभी जैनधर्मका प्रभाव स्पष्ट है। (असहमत संगम पुस्तक देखो) यूनानके अथेन्स (Athens) नगरमें एक समय श्रमणाचार्यकी निषधिका थी। वह जैन साधु भरुच्छ (भारत) से यूनान आये थे। (इंडि० हि० क्वा०, २ पृ० २९३) प्रो. एम. एस. रामस्वामी ऐयरने कहा था कि बौद्ध भिक्षु व जैन श्रमण यूनान, रूम व नार्वे पहुंचे थे। (हिन्दू, २५ जुलाई १९३९) सम्प्रतिने ईरान-अरब-अफगानिस्थानमें धर्म प्रचार कराया था। सीलोनके सम्राट् पाडुकाभयने ई० पूर्व ३६७-३०७ में निर्ग्रन्थ (जैन) श्रमणोंके लिये मंदिर व विहार बनवाये थे, जो २१ शासकोंके समयमें रहे। किन्तु सम्राट् वट्टगामिनी (३८-१० ई० पू०) जैनोंसे क्रुद्ध हुवे और उसे नष्ट कराया। (महावंश) चीनी त्रिपिटकोंमें जैनोंका उल्लेख है। (वीर, भा० ४, पृ० ३५३) प्रो. सिल्वां लेवीने जावा-सुमात्रामें जैन धर्मका प्रभाव व्यक्त किया था। (विशाल भारत, १:३-४९९) सारांशतः एक समय जैन धर्मने अहिंसा संस्कृतिका प्रचार विश्वमें किया था। —का० प्र०]

जैनधर्म : भौतिक जगत और विज्ञान।

(श्री० नंदलाल जैन, बी. एस्सी., काशी)

आजके भौतिक जगत्में वैज्ञानिक उन्नतिके कारण प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य तथा सुखोंकी प्राप्ति तथा उसकी कामनाने प्रत्येक मानव-मस्तिष्क मोह लिया है। फलस्वरूप मानवने अपनी प्राचीनताको —स्वभावको—छोड़कर नवीनताका पल्ला पकड़ना शुरू किया है। वह इसके पीछे पड़ कर अपने धर्म-कर्तव्य-तकको भूल गया है। यह वास्तवमें दुःसह परिस्थिति है। बेचारा साधारण मानव क्या जाने कि आजकी उन्नति हमारे पूर्वजोंके अगाध ज्ञान एवं परिश्रमकाही फल है। प्राचीन कालके शब्दवेधी बाणकाही एक रूप हमें Sound Ranging की प्रक्रियामें मिलता है। आजकी भापसे चलनेवाली गाड़ीकी चर्चा प्राचीन शास्त्रोंमें वर्णित पारा-वाष्प यंत्रोंका रूपही प्रतीत होती है। पुराने पुष्पक विमान और आधुनिक हवाई जहाज क्या कोई भिन्न चीजें हैं ! फर्क सिर्फ इतनाही है कि प्राचीन लोगोंको इतना प्रक्रियाबद्ध और अंगोपांगादिके विश्लेषणात्मक ज्ञानकी प्रणाली न ज्ञात हो; इस लिये उन ग्रन्थोंमें हमें इनका विशद विवेचन नहीं मिलता। पर इससे यह क्यों समझा जाये कि आज जो कुछ हो रहा है, उसके सामने पुरातन-ज्ञान अगम्य है। और इसी लिये [illegible] उसे तिरस्कारकी दृष्टिसे देखने लगें। शायद इसी दृष्टिको सामने रख कर, धर्माचार्योंने भौतिक विवेचनभी धर्मका अंग बताया है; क्योंकि वे तो भविष्यकी सब बातें जानते थे। जिस आधुनिक भौतिकताके पीछे लोग इतने दौड़ रहे हैं, वह प्राचीन विचारों एवं शास्त्रवर्णित तथ्योंका नूतन संस्करणही है, ऐसा कहना चाहिये। कहना तो यहभी चाहिये कि यह यथोचित क्रम-परिवर्धित संस्करण है।

हमारे धर्माचार्योंने भौतिक जगत्की जिस वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत ढंगसे वर्णना की है, उसकी बड़े बड़े वैज्ञानिकोंनेभी प्रशंसा की है। मैं संक्षेपमें उसेही पाठकोंके समक्ष रखनेका प्रयास करूंगा।

जैनधर्मके अनुसार भौतिक जगत्, जीव तथा पांच प्रकारके अजीव [पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल] इस प्रकार, छह द्रव्योंसे बना है। इनमें समस्त चराचर जगत् व्याप्त है। पुद्गल द्रव्यसे हम समस्त भौतिक पदार्थों-और शक्तियों-को लेते हैं जो दृश्य हैं। धर्मसे गतिमाध्यम [पानीमें मछलीके समान गमनमें सहायक], अधर्मसे स्थितिमाध्यम [पथिकके लिये वृक्ष-छायाके समान स्थितिमें सहा- [illegible]], आकाशमें अन्य पांच द्रव्योंका अधिकरण-आधार-स्थान, एवं कालसे क्रियाजन्य शक्तिका अर्थ लेते हैं। जीवसे आत्माका ग्रहण होता है, जिसका स्वभाव चेतना है। दूसरे शब्दोंमें हम यहभी कह सकते हैं कि यह जगत मूर्त (पुद्गल) एवं अमूर्त [अन्य पांच] द्रव्योंसे बना है। इन

छहोंमेंसे कालको छोड़कर बाकी पांच अस्तिकाय हैं जिनमें सत्ता एवं विस्तार [Existence and Extension] दोनों पाये जाते हैं। काल द्रव्यमें विस्तार [नाणोः] नहीं पाया जाता है।

अ–द्रव्यलक्षण

जैनमतमें द्रव्यसे अर्थ उन मूलभूत वस्तुओंसे है, जिनमें उत्पादव्यय एव ध्रौव्य साथ-साथ पाये जावें एवं जिनके बिना जगत्की स्थितिमें स्थिरता न हो। एक चीजमें उत्पत्ति एव विनाशके साथ ध्रौव्यत्व कैसे रह सकता है? यह पूछा जा सकता है। शास्त्रकारोंने "अर्पितानर्पितसिद्धे" [विविध दृष्टियोंकी अपेक्षासे] के द्वारा इस प्रश्नका उत्तर दिया है। कटक-कुण्डलका दृष्टान्त इस विषयमें सर्वगत है। द्रव्यका यह लक्षण उपर्युक्त छहों द्रव्योंमें पाया जाता है। ये सब द्रव्य नित्य [ध्रौव] हैं, मौलिक रूपमें अवस्थित [अपरिवर्तित] हैं। अमूर्त द्रव्योंमें मूर्त द्रव्यकी उपपत्तियां नहीं पायी जाती हैं।

द्रव्यका उपर्युक्त लक्षण आधुनिक विज्ञानके आधारपर सिद्ध है। विज्ञानके शक्ति-स्थिति [Conservation of Energy], वस्तु-अविनाशित्व [Law of Indestructibility of matter] तथा शक्ति रूपान्तर [Transformation of Energy] आदि सिद्धान्त यह स्पष्ट बतलाते हैं कि नाशवान पदार्थोंमेंभी ध्रौव्यत्व [Permanance] रहता है। डेमोक्राइटस का यह अभिमतही इस विषयमें काफी है:—

> "Nothing can never become something,
> Something can never become anything."

ब — मूर्त द्रव्य — पुद्गल.

"पूरण गलनान्वर्थ संज्ञत्वात्पुद्गलः"

जो भेद [द्वित्व निमित्त संघातविदारण, division], संघात [पृथक्भूतानामेकत्वापत्तिः union] अथवा उभयके कारण एक दूसरेके साथ योग या मिश्रण [पूरण] बनावें या विघटन [गलन] पैदा करें, वे (पदार्थ) पुद्गल कहलाते हैं। पुद्गल मूर्तिक है, इसकी पहिचान रूप, रस, गंध एव स्पर्शसे होती है। प्रत्येक पदार्थमें, जो पुद्गल कहलाता है, ये चारों एक साथ पाये जाते हैं। रूपादिसे हम पदार्थोंके गुणों [Properties] का परिचय प्राप्त करते हैं। जैसे स्पर्शसे भार, कड़ापन, गर्मी, इत्यादि, रूपसे कृष्णनील इत्यादि रूप। पंचरूप [कृष्ण, नील, पीत, लाल, श्वेत], पंचरस [खट्टा, मीठा, चर्परा, कसायला, कड़वा]. दोगंध [सुगंध, दुर्गंध] एवं आठ स्पर्श [मृदुकठिनगुरु लघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदाः], इस प्रकार पुद्गलके २० गुण हैं। ये मूल गुणभी प्रत्येक संख्यात, असंख्यात एव अनंत होते हैं। प्रत्येक पदार्थमें, किसी न किसी प्रकारका रूप रस गंध स्पर्श [या मिश्रणभी] पाया जाता है। जगत्के समस्त दृश्य पदार्थ पुद्गलही तो हैं [जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि)। शरीर, वचन, मन, प्राण एवं श्वासोच्छ्वास पुद्गलके कार्य हैं। तथा जीव को सुख, दुःख, जीवन एव मरणका अनुभव पुद्गल [कर्म] के कारण ही होता है। ये पुद्गल द्रव्य हैं, क्यों कि इनमें "उत्पाद व्यय ध्रौव्य" पाया जाता है। कटक कुण्डलके दृष्टान्तका उल्लेख हो

चुका है। ये पुद्गल दश रूपोंमें प्रत्यक्ष हैं-(१) शब्द (२) बंध (३) सौक्ष्म्य (४) स्थौल्य (५) संस्थान (६) भेद (७) तम (८) छाया (९) आतप (१०) उद्योत। मूल रूपमें पुद्गल के दो भेद हैं (१) अणु (२) स्कंध। अणु पदार्थोंका सबसे छोटा [सूक्ष्म] तथा अविभागी अंश है, जो इन्द्रियातीत है। उसकी उत्पत्ति मात्र भेदसे होती है [भेदादणुः] जैसे चाक को तोड़ते जाने पर उसका छोटेसे छोटा टुकड़ा, [Smaller than the smallest] जो दिख न सके अणु कहलायगा। यह सब पदार्थोंका मूल है। अणुओंके मिलन तथा भेदसे स्कंध बनते हैं। अणु तथा स्कंधोंसेही जगत्के समस्त पदार्थ बने हैं। तात्पर्य यह कि जगत् अणु समुदाय मात्र है।

पुद्गलके इस निरूपणको यदि हम वैज्ञानिक मान्यताओंके आधारपर कहते हैं तो हमें अपने आचार्योंकी महत्ताका अनुभव होता है। पुद्गलके विषयमें तो खास कर इनकी सूक्ष्म विवेचन शक्तिका पता लगता है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक थी। पुद्गलके दो अर्थ हैं (१) पूरणात्मक [Combinational] एवं (२) गलनात्मक [Disintegrational]। आजका विज्ञानभी पदार्थोंमें-तत्वों या योगोंमें [Elements and Compounds] परस्पर सम्मिलन तथा- बाह्य या अभ्यंतर कारणों द्वारा विघटनकी प्रवृत्ति सिद्ध करता है। कहना तो यह चाहिये कि तत्वोंकी इन्हीं प्रकृतियोंके कारण विज्ञानने आज समस्त जगत्को चकित कर दिया है। [जैसे परमाणु बम] रेडियो-सक्रियता [Radio-activity] तथा विघटन [Dissociation, electrolytic etc.] के सिद्धान्त तथा Valency [बंधकता] की परिभाषा स्पष्टही पदार्थोंके उपर्युक्त दोनों गुणोंको साबित करती हैं। रेडियो-सक्रियता अंतरंग तथा विघटन [वैद्युतादि] बाह्य कारणोंके फलस्वरूप होती है। यूरेनियमका एक परमाणु तीन तरहकी किरणें [α, β, γ rays] हमेशा प्रस्फुटित करता रहता है, जिसके कारण वह रेडियम और अतमें सीसा [Lead] में परिणत हो जाता है; जिसके गुण साधारण शीशा-धातुसे मिलते हैं। स्पष्टही यह "गलनार्थक" प्रवृत्ति है। Isolobes भी इस विषयमें कुछ सहायता करते हैं। बंधकताकी परिभाषाभी, इसी प्रकार, पदार्थोंमें पूरकत्व क्षति [additions and subtraction] प्रदर्शित करती है।

यहां एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि पुद्गलसे हमारे आचार्योंने-पदार्थ (matter) तथा शक्ति (Energy)-दोनोंका ग्रहण किया है। जिसका अर्थ यह हुआ कि शक्तिभी भार आदि गुणोंसे सम्पन्न है। आज विज्ञानभी यही मानता है। शक्तिमें भार एवं माप दोनों हैं।

" .. Energy is not weightless, but it has a definite mass .. .."

भार एवं शक्तिमें क्या संबंध है, इस विषयमें यह सूत्र (formula) प्रसिद्धही है :—

$$E = \text{mass} \times (\text{velocity of light})^2$$

तात्पर्य यह कि पदार्थ और शक्ति दोनोंका एकहीसे ग्रहण होता है और वे एक हैं।

विज्ञानके अनुसार वस्तुके विविध गुण हैं जैसे पृथ्वी [solid] के भार (density), स्थितिस्थापकता [Elasticity], ताप योग्यता [heat conductivity] आदि, जल [liquid] के सान्द्रत्व (viscocity) पृष्ठिकतति [surface tension] आदि, वायु [gas]

के प्रसरण वृत्ति [Expansibility] आदि। स्पर्शके चार युगल (१) हलका-भारी मृदु-कठिण (३) शीत-उष्ण (४) स्निग्ध-रूक्ष स्पष्टही ये गुण बतलाते हैं। चार रस तो विज्ञान स्पष्टही मानता है।

"Four tastes have been distinguished, salt (अम्ल), sweet (मधुर), sour (कटु) and bitter (तिक्त) Sweet things are best appreciated at the tip of the tongue while bitter at the back" "E. E. HEWER"

रसोंकी भिन्नताका कारण है, पदार्थोंमें "हाइड्रो कार्बन्स" की विशेष स्थिति [Particular arrangement in the Hydro Carbons]

गंधके विषयमें तो कोई विवादही नहीं हैं।

रूपभी पदार्थका सामान्य गुण है। रूपके पांच प्रकारोंके विषयमें कुछ मतभेद है। विज्ञान सात रंग मानता है [VIBGOR] जिसमें सफेद और काला नहीं है। श्वेतरूप सबका मिश्रण एवं कृष्ण रूप सब रूपोंका अभावरूप है। परन्तु जैनधर्म कृष्ण श्वेत सहित केवल पांच रूपही मानता है। यदि हम विज्ञानके इस आधारको देखें :

Colour is a sensation caused by the action of nerves in the part of retina. Rays of different colour affect the eye differently and it is due to this difference in the occular sensation that the various colours are differentiated. It is a mixture of *three primary sensations [red, blue and green]* in different properties [INTER Physics.]

तो स्पष्ट जैन मतका निरूपण उचित है। यह तो सभी जानते हैं कि जब कोईभी पदार्थ [मान लीजिये मिट्टी] गर्म किया जाता हैं, और उसका तापमान बढाया जाता हैं; तो सबसे पहले यह वस्तु तापविकीरण (५००°C) करती है। उस समय तक इसका रूप नहीं प्रकट होता, इसलिये कालाही रहता है। फिर रूपमें परिवर्तन (लाल ७००°C) पीला (१२००°C) सफेद (१५००°C) होता है। यदि तापमान इससे अधिक किया जावे, तो अतमें नीला रंग प्राप्त होगा। तात्पर्य यह कि प्राकृतिकरूपमें तो रूप पांचही हैं, और वे तापकेही परिवर्तित रूप हैं। अन्य तो इसके मिश्रण हैं। (जैसे हरारंग सफेद-लाल) यहां रूपसे रंगनेवाले रंग (Pigments) नहीं; अपितु प्राकृतिक नेत्र ग्राह्य रूपही ग्राह्य है। इस प्रकार वस्तुगुणोंके विषयमें तो विज्ञान पूर्णरूपसे मेल खाता है।

विज्ञानमेंभी, पुद्गलकी तरह, पदार्थ और शक्तियां विविध रूपमें पाये जाते हैं, जैसे ताप [आताप], विद्युत (वज्र), प्रकाश (उद्योत) आदि। इन विविध रूपों (दस) का जैसा वर्णन जैनमतमें है वैसेही विज्ञान अभी उस कोटि तक नहीं पहुंचा है। शरीर वचन, मन, आदिके लिये विज्ञान पदार्थ (Matter) मानताही है, । श्वासोच्छ्वास स्पष्टही भौतिक है...

"We take oxygen from air and exhale Carbondioxide. Carbon being the product of oxidetional digestion, which requires oxygen to escape out. It is pure material organism"

पदार्थोंकी उत्पत्तिके विषयमें वैशेषिक, जैन, तथा यूनानी दार्शनिकही विज्ञानकी आधुनिक उन्नतिके आधार हैं। डाल्टनका अणु-सिद्धान्त [Atomic theory] इन्हींका स्पष्ट-विवेचन है। "Electron is the universal canstituent of matter" यह विज्ञान का आज निर्णय है, जो स्वयही जैनियोंके परमाणुकी व्याख्या है। जैनोंका परमाणु "पेव इदिये गेज्झ। अविभागी ज दव्व, त परमाणु वियाणीहि" विज्ञानका अविभाजित (?) electron है। आधुनिक विज्ञानके अनुसार पदार्थ स्कधों [molecules]से, स्कध अणुओं (atoms)से, तथा अणु परमाणुओं (electrons)से बना है। जैनग्रन्थोंमेंभी इसी प्रकार पदार्थको चार विभागों (स्कंध, स्कधदेश, स्कंधप्रदेश, परमाणु)में विभाजित किया गया है। इस तरह परमाणुवादका सिद्धान्त पूर्णतया आधुनिक वैज्ञानिक तथ्योंपर स्थित है।

सक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञानके पदार्थ और शक्ति-दोनों-पुद्गल द्रव्यसे ग्रहीत होते हैं, इसलिये पुद्गल द्रव्यकी सत्यता विज्ञान मानताही है।

स–अमूर्त द्रव्य.

(१) आत्मा—

"उपयोगो लक्षण" ज्ञान और दर्शन जीवका लक्षण है। आत्मामेंही पुद्गलके माध्यम द्वारा सुख-दुखका अनुभव होता है। यह द्रव्य है क्योंकि उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यत्व इसमें पाया जाता है। आत्मा स्वयंके परिमाणमें हानि एव वृद्धि (सकोच और विस्तार) करनेकी शक्ति रखता है। चींटी और हस्तिके शरीरमें एकही आत्मा निवास करती है। आत्माकी अनन्त शक्ति है। वे अनन्त हैं। यह अमूर्तिक है। इसकी सत्ता इसके कार्योंसेही सिद्ध हो सकी है, प्रत्यक्ष नहीं।

[प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन मनोगती क्रियान्तर विकाराः
सुख दुखेच्छा द्वेष प्रयत्नाश्चात्मनो लिंगम्　　　—वै० सू०]

जिस प्रकार धर्म अधर्म आकाश एवं कालादि अमूर्तिकके विषयमें विज्ञानवेत्ताओंने अन्वेषण किया है, उसी प्रकार आत्माके विषयमेंभी। परन्तु वे Ether या Field की तरह आत्माके विषयमें स्पष्ट नहीं निकाल सके हैं। उन्होंने आत्माको जानने एवं पकडनेके लिए कितनीही चेष्टाए कीं, परन्तु अभी तक सफल नहीं हुए हैं। पर इन खोजोंसे एक महत्वपूर्ण जैन-तत्त्व (तैजस शरीर) की पुष्टि अवश्य हुई है। एक ऐसा यन्त्र बनाया गया जिससे कोईभी चीज बाहर न जा सके। उसमें उत्पन्न होते समय एव मरते समय प्राणियोंका अनुशीलन किया गया। आत्मा नामकी कोई वस्तु तो ज्ञात नहीं हुई, परन्तु यह पता चला कि जब कोई जन्म लेता है, तब उसके साथ कुछ विद्युत्चक्र (Electric charge) रहता है, जो मृत्युके समय लुप्त हो जाता है। पर प्रश्न यह है, कि यह चार्ज नाश तो हो नहीं सकता; [Due to Conservation of Energy] तो फिर कहां जाता

होगा! अब लोग इस प्रश्नको हल करनेके लिए एक दूसरा यन्त्र बना रहे हैं, जिससे सम्भव है वे ऐसा कर सकें। यह शक्ति जिसे पता लगानेकी चेष्टा की जा रही है, आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो अमूर्तिक है, परन्तु इसकी तुलना तैजस शरीर (Electric body) से अवश्य की जा सकती है, जो आत्मासे बहुतही घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। आत्माकी खोजके प्रयासने इस एक नए तथ्यकी पुष्टि की है।

यह ठीक है, कि वैज्ञानिकोंने आत्माकी सत्ता नहीं ज्ञात की है, पर आत्म-सम्बन्धी तत्त्वोंके जानकार सर ओ. लोजके अनुसंधानने आत्माके अस्तित्वको निस्सन्देह सिद्ध किया है।

"प्रोटोप्लाज्म" [Protopalsm is nothing but a viscous fluid which contains every living cell] के सिद्धान्त तथा सर जगदीश वसुके पौधों सम्बन्धी आविष्कारने आत्माकी संकोच-विस्तारवाली प्रवृत्ति सिद्ध कर दी है।

स : अमूर्त द्रव्य

(२) आकाश निरूपण

आकाशसे हम हिन्दुओंका सृष्टि-मूलभूत आकाश नहीं लेते, अपितु वह, जो जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म एवं काल द्रव्योंके लिए स्थान दे। आकाशका यह लक्षण है। और द्रव्योंको अवकाश दान देना उसका कार्य है। यह द्रव्योंका अवगाहन (Accomodation and diffusion) में कारण है। अमूर्त होनेसे धर्मादि द्रव्यके एकत्र रहनेमें कोई विरोध नहीं आता है। आकाश नित्य, व्यापक एवं अनन्त है। यह दो प्रकारका है (१) लोक (२) अलोक। लोकाकाशमेंही बाकी पाच द्रव्य रहते हैं, अलोकाकाशमें नहीं। इसलिए जगतकी सीमा है लोकाकाश पर्यन्त, उसके बाद आकाश तो है, पर वहा लोक नहीं। लोकाकाशके बाहर जीव जा भी नहीं सकते, क्योंकि वहा धर्म और अधर्म द्रव्य नहीं हैं, जो कि गति और स्थितिमें सहायक हैं। आकाश स्वय गति-स्थिति-माध्यम नहीं हो सकता, क्योंकि फिर (१) सिद्धोंकी मुक्ति स्थिति नहीं बनेगी (२) अलोकाकाश नहीं बनेगा (३) जगत असीम हो जावेगा, एव (४) उसकी स्थिरता एव अनन्तगामी न बनेगी। जगत अधूरा और अवास्तविक है। जगतकी स्थिति (समय) कालके कारण है। एव गति स्थिति धर्म-अधर्मके कारण। आकाशका माप प्रदेश है।

यह सत्य है, कि, विज्ञान आकाशको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता, फिरभी आकाशमें विद्यमान समस्त गुणोंको स्वीकार करता है। लोकाकाश एव अलोकाकाशके विषयमें H. Ward का यह अभिमत उल्लेख योग्य है।

"......the total amount of matter which exists is limited and that the total extent of the universe [लोक]is finite. They do not conceive that there is limit beyond which no space exists. . "

लोकाकाश (जगत) सीमित है। यदि आकाशमें वस्तु हो तो गोलाकार रूपमें उसका झुकाव होता है। वार्डका कहना है, कि लोकाकाशका झुकाव इस प्रकार है, कि यदि

एक प्रकाश-किरण सीधी रेखामें चले, तो वह अपने मूल बिन्दु पर पहुंचेगी जहासे वह शुरू हुई थी। शक्ति स्थितिभी असीम होनेकी स्थितिमें नहीं रहेगा। क्योंकि फिर एक बारकी शक्ति अनन्तमें विलीन हो जावेगी।

यह वास्तवमें एक समस्या है, कि लोकाकाश सीमित है, पर आकाश अनन्त है। परन्तु आंइस्टाइनके सापेक्षतावादके सिद्धान्त [Theory of Relativity] से यह बात स्पष्ट हो जाती है। एडिंग्टन इसी बातको इन शब्दोंमें व्यक्त करता है।

Einstine's theory [of relativity] now offers a way out of this dilemma "space is finite but it has no end," "finite but unbounded" is the usual phrase.

आइस्टीनके अनुसार वस्तुकी सत्ता आकाशके सीमा परिमाणमें कारण है। बिना वस्तु एवं समयके आकाशकी कल्पना नहीं कर सके। पदार्थही इनका आधार है। पर जैन दर्शनमें यहां मत-भेद है। जैन धर्मका जगत लोकाकाश एवं अलोकाकाश दोनोंमें व्याप्त है, और वह सम्पूर्ण जगतका एक भाग (लोकाकाश) सीमित मानता है। और इसके ऊपर अनन्त आकाश, जबकि आइंस्टाइन सम्पूर्ण जगतको सीमित मानता है, और उसके बाद ऊपर कुछभी नहीं है। "आकाशकी अपेक्षा लोक सीमित है पर कालकी अपेक्षा निस्सीम है।" यह सिद्धान्त स्पष्टतः जगतको (अतएव आकाशको नित्य) अनादि और अनन्त बता रहा है। श्री एन. आर. सेन भी इसी मतमें हैं।

तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक आकाशको शून्य नहीं मानते, और इसी लिए अलोकाकाशको नहीं मानते। पर जैसा कि कहा है, कि "ऐसे क्षणकी सत्ता असम्भव है, जिसके पूर्व कोई क्षण न बीता हो" के समान हम यहभी कह सके हैं, कि यह असंगत है, कि आकाश (लोक)के बाद शुद्ध आकाश न हो।

उपर्युक्त कथनसे यह ज्ञात होगा कि आधुनिक विज्ञान आकाशके विषयमें नित्यता, अनादि, अनंतत्व, व्यापकत्व एवं लोकाकाश (जगत) सीमित स्वीकार करता है, पर यह स्पष्ट है कि उसे द्रव्य नहीं मानता।

स : अमूर्त द्रव्य

[३-४] धर्म-अधर्म द्रव्यें

इन दोनों द्रव्योंकी सत्ता जगतकी स्थितिके लिये बहुतही आवश्यक है [लोकव्यवस्था हेतुत्वात्, राजवार्तिक] किसीभी एकके अभावमें गड़बड़ी फैल सकती है। धर्म और अधर्मसे यहा पुण्य-पाप कारण नहीं अपितु गति-स्थिति माध्यम लेना है। द्रव्यसंग्रहमें इनका खुलासा इस प्रकार है :—

गइ परिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमण सहयारी तोयं जह
ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी छाया जह पहियाणं

जीवोंकी गति तथा स्थितिमें सहायक [प्रेरक नहीं] होना इनका कार्य है। ये दोनों द्रव्य

अजीव, अमूर्तिक, अतएव रूपादि रहित, निष्क्रिय, नित्य तथा समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं [diffused], परन्तु स्वयं एक प्रदेशी हैं। ये गति स्थितिमें बाह्य या उदासीन कारण हैं, मुख्य नहीं- [धर्माधर्मयोर्गतिस्थित्युपग्रहः' (१०।११०)]

जगतमें यदि जीव, पदार्थ एवं आकाश, ये तीनही मूल सत्तायें होतीं, तो दुनियाका अस्तित्वही न हो पाता, क्यों कि जीव, पुद्गल अनन्त आकाशमें फैल जाते और उनका भान होना कठिन हो जाता। इसलिये जगत्की स्थिति सुदृढ बनाये रखनेके लिये ये दोनों माध्यम आवश्यक हैं। मात्र धर्म द्रव्य होता तोभी जगतका वर्तमान रूप असम्भव था, और मात्र अधर्मही होता, तो परिवर्तनका लोप होनेसे लकवा जैसी परिस्थिति होती। मनुष्य न तो एक तरफा वेगवानही हो सकता है, और न स्थिरही। दोनोंमें रहनाही उसका स्वभाव है। धर्म तथा अधर्मके कार्य, यद्यपि, विरोधी हैं, पर उनका विरोध दृश्यमान नहीं है, क्यों कि ये उदासीन हेतु हैं। स्वयं किसीको प्रेरित नहीं करते, पर जो गति-स्थिति करते हैं, उनके लिये ये आवश्यक रूपसे सहायक हैं।

कालेजोंमें जब " प्रकाश " [light] का अध्यापन शुरू होता है तो हमें बताया जाता है कि प्रकाश-किरणें शून्यमें नहीं, अपितु Ether of space के माध्यमसे हमारे पास पहुंचती हैं। उस Ether के विषयमें यहभी बताया जाता है कि यह कोई पदार्थ या द्रव्यवस्तु नहीं है, सर्वत्र व्याप्त है, तथा गमनमें सहायक है। संक्षेपमें यह " गति माध्यम " है। आधुनिक Ether के प्रायः सभी गुण " धर्म द्रव्य " में हैं। कुछ समय पहले इसके विषयमें विशेष पता नहीं था, पर माइकल तथा मिकेलसन-मोर्लेके प्रयोगोंसे अब स्पष्ट सिद्ध किया जा चुका है कि " ईथर " अमूर्तिक है एवं वस्तुओंसे भिन्न है। पुराने समयके ये वाक्य " Ether *must be* something very different from terrestrial substances " अब इस निश्चित धाराको पहुंच चुके हैं।

Now-a-days it is agreed that ether is not a kind of matter (पुद्गल, रूपी) Being non-material its properties are quite unique.

[Characters of matter such as mass, rigidity etc. never occurs in ether.]

ईथरकी निष्क्रियताभी इन्हीं महाशयोंके प्रयोगोंसे सिद्ध है। इस प्रकार धर्मद्रव्यमें ईथर के समस्त गुण विद्यमान हैं जैसे गति-माध्यमता, आकाश-व्याप्ति, अनन्तत्व, अमूर्तित्व अतएव अपौद्गलिकत्व इत्यादि।

इसी प्रकार स्थिति माध्यम [अधर्म द्रव्य] के विषयमेंभी वैज्ञानिक कई श्रेणी तक हमारे साथ हैं। आइझाकन्यूटनने पेडसे गिरते हुए सेवको देखकर तर्क किया, " यह नीचे क्यों गिरा ? " फल स्वरूप " आकर्षण-शक्ति " का सिद्धान्त प्रकट हुआ।

प्रत्येक पदार्थ जब ऊपर फेंका जाता है और गिरनेके लिये स्वतंत्र छोड दिया जाता है, तो वह एक शक्ति द्वारा पृथ्वीके केन्द्र की ओर आकृष्ट होता है। और वही शक्ति उसके नीचे गिरनेमें कारण है। यह शक्ति वस्तुओंके भारके गुणन अथवा विपरीत दूरीके वर्गके अनुपातमें है। [$F \propto mm/d^2$]

न्यूटनका यह सिद्धान्त Heavenly bodies, के विषयमें भी लागू होता है: और इसके लिये गणितसबंधी सूत्रभी काममें आ गये हैं। उस समय लोग यह शंका करते थे कि जब कोई शक्ति खींचती है, तब वह सक्रिय तो अवश्य होगी. अतएव वस्तुओंमेंभी क्रिया होगी। तब फिर आस-पासकी वस्तुयें क्यों नहीं स्थिति-बदलती दिखाई देतीं हैं? उत्तरमें क्रियाविरोधक शक्ति [Friction] के मुकाबिले उस शक्तिको बहुत छोटा बताया गया। यदि वह आकर्षण शक्ति बडी हो, तो चलन अवश्य होगा ही। तो फिर यहभी पूछा जा सकता है कि जब पदार्थ आपसमें आकृष्ट होते हैं, तो एक दूसरेके ऊपर क्यों नहीं गिरते? उत्तरमें इसके यह कहा गया कि क्रियाकी गति शक्तिकी तरफ नहीं है, अपितु पृथ्वीके केन्द्रकी तरफ है: जैसे ऊपर फेंका हुआ पत्थर या बंदूककी गोली-नीचेही गिरती है। औरभी ऐसीही अनेक बातोंसे सिद्ध है कि आकर्षण स्थिति जगतकी स्थितिमें कारण है।

यहां यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि न्यूटनको स्वयं शक्तिके विषयमें संदेह था–यह मूर्त है या अमूर्त ? सायही साथ वह इसे [शक्तिको] निष्क्रियभी नहीं मानता था। पर आइंस्टाइनके इसी विषयमें नवीन मतके अनुसार यह शक्ति निष्क्रियभी हो सकती है। पर इसके स्पष्ट रूपका पता अभीतकभी नहीं लग सका है। हावार्डने तो इस विषयमें लिखा है—

" Gravitation is an absolute mystery. We cannot get any explanation of its nature."

इस प्रकार अधर्म द्रव्यके प्रायः सभी गुण आइस्टाइनके इस नवीन आकर्षण-शक्ति [Field of Gravitation] में पाये जाते हैं। फिरभी वैज्ञानिक इसे स्वतत्त्वरूपमें [Reality] स्वीकार नहीं करते। वे इसकी आवश्यकता अवश्य अनुभव कर रहे हैं और वर्तमानमें वे इसे सहायकके रूपमें, अधर्म द्रव्यकी तरह, स्थितिमें कारण मानते हैं।

Ether और Field के स्वरूपमें सिर्फ कार्यका भेद है, बाकी सब गुण समान हैं जैसे अमूर्तत्व, असंख्यत्व, लोकाकाश व्याप्ति इत्यादि। इस लिये " धर्म द्रव्य " जैसे Ether से ग्रहण होता है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्यकाभी Field से ग्रहण होनाही चाहिये। [Substitute for अधर्म]

स। अमूर्त द्रव्य

[५] काल द्रव्य

" दव्वपरिवट्टरूवो जो, सो कालो हवेई "

पदार्थोंके परिवर्तनमें काल कारण स्वरूप हैं। यह उनके परिवर्तनमें वैसेही सहायक है जैसे कुम्हारके मिट्टी-बर्तन-निर्माण चक्रमें पत्थर। यह पत्थर चक्रमें गति स्वयं पैदा नहीं करता, अपितु गतिमान् बनानेमें सहायक मात्र होता है। कालभी द्रव्य है। क्योंकि इसमें उत्पाद-व्यय ध्रौव्य पाये जाते हैं। व्यवहार काल और निश्चय काल इसीके आधार पर है। ध्रौव्यता-वाचकपद "वर्तना"

है और उत्पाद-व्ययत्व सूचकपद "समय" [वर्तनापरि.....सोऽनंत समयः ॥ म० सू०] कालद्रव्य, इस प्रकार, दो प्रकारका है। (१) निश्चय (२) व्यवहार। असंख्य अविभागी कालाणु जो लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें व्याप्त हैं, निश्चय काल हैं। और "समय" व्यवहार काल हैं। उन कालाणुओंमें परस्पर बंधकी शक्ति नहीं है, जिससे मिलकर वे "स्कंध" बना सकें, जैसे पुद्गल। वे "रयणाणंरासीमिव" प्रत्येक आकाश प्रदेशमें स्थित हैं। वे कालाणु अदृश्य, अमूर्त एवं तथा (निष्क्रिय) हैं। कालमें परस्पर बंधशक्तिका अभाव इसे "अस्तिकायत्व"से वंचित करता है। कालमें अस्तित्व तो है [existence सत्ता] पर कायत्व [विस्तरण शक्ति, मिलन शक्ति, extention] नहीं। दो प्रकारके [समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः प्रदेशप्रचयोहि तिर्यक् प्रचयः] विस्तारविशेष सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं, पर कालमें प्रदेशके अभावसे मात्र ऊर्ध्व प्रचयही पाया जाता है। व्यवहार कालका "समय" परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्वके आधार पर लिया जाता है। यह अपने अस्तित्वके [determination of its measure] लिये निश्चय कालाधीन होनेसे परायत्त है। इसीका खुलासा आचार्योंने यों किया है :—

"समओ णिमिसो कट्ठा, कलायणाली तयो दिवारत्ती
मासो दु अयण संवच्छरोत्ति कालो, परायत्तो ॥

— एव विधो हि व्यवहारकालः केवल कालपर्याय मात्रत्वे नावधारयितुमशक्यत्वात् परायत्त इत्युपमीयते ॥ [पंचास्तिकाय]

व्यवहार और निश्चय कालमें यह विशेषता है कि प्रथम तो सादि और सांत है, जबकि द्वितीय अनंत होता है। निश्चय काल ध्रौव्यत्व [वर्तना, Continuity] का बोधक है।

प्रतिद्रव्य पर्यायमन्तर्नीतैक समया सत्तानुभूतिर्वर्तना ॥ [रा० वा०]

कालद्रव्यके कार्योंके विषयमें

"वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य"

सूत्र पूर्णरूपसे निर्देश करता है। यह वस्तुओंके अस्तित्वको कायम रखनेमें, परिणमनमें, परिवर्तनमें, परिवर्त्तनमें, क्रियामें, समयकी अपेक्षा छोटे बड़े होनेमें [जैसे बाल-वृद्ध इत्यादि] सहायक है। इस सूत्रके द्वारा निश्चय और व्यवहार दोनोंका कार्य बताया गया है।

द्रव्यसंग्रहकी "दव्वपरिवट्टरूवो" वाली पूरी गाथा इसी सूत्रका भाव है। कालद्रव्य स्वयंभी परिवर्तित एवं परिवर्धित होता है, जैसे उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी [उन्नतिशील और अवनतिशील]। इसके परिवर्तनमेंभी स्वयं काल [निश्चय] कारण है। यदि कालके परिवर्तनमें कोई दूसरा कारण हो, तो अनवस्था [अव्यवस्था] हो जावेगी। अतः काल स्वतंत्र द्रव्य है और परिवर्तनमें सहायक होना उसका कार्य है।

सबसे छोटा कालका प्रमाण "समय" है। उसकी परिभाषा यह है—वह समय जो एक परमाणु या कालाणु अपने पासके दूसरे [Consecutive] परमाणुके पास तक पहुंचनेमें लेता है,

"समय" कहलाता है। ऐसे अनंत समयोंमें काल (व्यवहार) विभक्त हैं। जिस प्रकार भारका माप "परमाणु" और आकाशका "प्रदेश" है, उसी तरह "समय" कालका माप बिंदु है। सबसे बड़े कालका प्रमाण महाकल्प है, जो उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीके समयका जोड़ है :—

४१६४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००...[कुल ७७ अङ्क]

और सबसे छोटा परिमाण "समय" है।

अन्तमें कालद्रव्यके अस्तित्वके विषयमेंभी कई शंकाओंका समाधान आचार्योंने किया है। कालके अस्तित्व साधनके लिये अच्छे-सूक्ष्म तर्क रखे हैं। जैसे

प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकत्वयः परिणामः............सहकारी कारण सद्भावे दृष्टः। यस्तु सहकारी कारणं सकालः [प०]

काल द्रव्यके बिना जगत्का विकास रुक जावेगा वस्तुओंकी उत्पत्ति तथा विनाश समयके अभावमें, आश्चर्यजनक लेम्पके अभावमें अल्लादीनके चमत्कार महलके समान, होने लगेगा।

यहां यहभी ध्यानमें रखना चाहिये कि न्याय वैशेषिक दर्शनोंके अतिरिक्त किसीभी भारतीय दर्शनमें कालका विशेष वर्णन नहीं किया गया है जितना जैनमतमें, परंतु वे दर्शन जैन मतके सिर्फ व्यवहार काल तकही रह गये हैं आगे नहीं बढ़ सके हैं।

आधुनिक विज्ञान "समय" के कार्यकलापके आधार पर उसे द्रव्य रूपसे माननेका अनुभव करने लगा है पर उसने अभी तक सिद्धान्त रूपमें उसे स्वीकार नहीं किया है। ऐडिंग्टन का यह कथन

Time is more physical reality than matter तथा ईनस्टाइन का यह वाक्य:—

These four elements [space, matter, time and medium of motion] are all separate in our minds. We cannot imagine that one of them could depend on another or be converted into another]

उपर्युक्त निर्देशमें प्रमाण है। भारतीय प्रोफेसर एन. आर. सेनभी इसी मतसे है, काल द्रव्य के अस्तित्वके विषयमें, जैनमतसे ठीक मिलता हुआ, तर्क फ्रेंच दार्शनिक बर्गसननेंभी रखा है। उनके अनुसारभी "जगतके विकासमें काल एक खास कारण है। बिना कालके परीणमन और परीवर्तन कुछभी नहीं हो सकते" फलतः "काल" "द्रव्य" है।

काल द्रव्यके दो भेदोंको वैज्ञानिक स्वीकार करनेही लगे हैं

Whatever may be the time defuse, [व्यवहार] the Astronomer royal's time is *de facto* (निश्चय).—Eddington.

एक प्रदेशी होनेसेही काल द्रव्यमें ध्रौव्यत्व है, इसेभी बर्गसन स्वीकार करता है।

The continuity of time is due to the spatialisation or (absence of extensive magnitude) of the durational flow. "कालका ऊर्ध्व-प्रचयत्व (mono-dimensiona-

lity) भी लोग स्वीकार करते हैं। आइंस्टाइनका सिद्धान्त "लोकाकाशस्य यावन्तः प्रदेशाः तावन्ता कालाणवो निष्क्रियाः एकैकाकाश प्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्याप्य स्थिताः" को पूर्णरूपसे मानता है। यही एडिंग्टनके इस कथनसे ज्ञात होता है...

You may be aware that it is revealed to us in Einstine's theory that space and time are mixed in rather or strange way. .. both space time vanish away into nothing if there be no matter. We can't conceive of them without matter. It is matter in which originate space and time and our universe of preception."

जैन धर्ममें भी अलोकाकाशमें पदार्थोंके अभावसे कालाणुका अभाव है, जो इस मतकी पुष्टि करता है। "अकायत्व" भी एडिंग्टन स्वीकार करता है:—

I shall use the phrase time's arrow to express this *one way property* of time which has no analogue in space.

काल द्रव्यकी अनन्ततामी आइनस्टाइनकी Ceylinder theory के आधारपर एडिंग्टन मानता है।

The world is closed in space dimensions, but it is open at both ends in time dimensions.

कालाणु तो वर्तमान विज्ञानके मौलिक समयके world-wide instants ही समझने चाहिये।

कालके कार्यकलापोंको विज्ञान मानताही है, यह स्पष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म जिन कारणोंसे कालकी सत्ता मानता है, वे ही कारण, तथा वे ही कार्य जो हमारे आचार्योंने कालके बताये हैं, आजका विज्ञानभी स्वीकार करता है। पर जैसा कि शुरूमेंही कहा कि वह इसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता।

[द]-उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर जैनमतके षट् द्रव्यों [Substances or realities]को हम इन वैज्ञानिक नामोंसे ग्रहण कर सकते हैं।

पुद्गल — पदार्थ और शक्ति	Matter and Energy
धर्म — गतिमाध्यम	Ether [of Space]
अधर्म — स्थिति माध्यम	Field [of Gravitation] and electromagnatism
आकाश —	Space
काल —	Time
आत्मा — जीव —	Soul

आधुनिक विज्ञान इनमेंसे स्वतन्त्र द्रव्यतो सिर्फ पुद्गल एवं धर्मकोही स्वीकार करता है, परंतु बाकीको स्वतन्त्र माने जानेका वैज्ञानिक अनुभव करने लगे हैं। इन द्रव्योंकी सत्ता-सिद्धिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंकी असफलताके कारण हैं (१) विज्ञानकी भौतिकता तथा (२) इन द्रव्योंका अमूर्तत्व।

"They try to detect it [any reality] assuming that it is a material while it is quite opposite to that,"

यन्त्रादिके द्वारा अमूर्त द्रव्योंको न देखाही जा सकता है, और न मापाही। इस लिये आत्मा आदिके अस्तित्व एव स्वभावका पता अभी तक नहीं लग सका है। भौतिक साधनों द्वारा अमूर्त द्रव्योंको जाननेमें विज्ञान हमेशा असमर्थ रहेगा इसमें कोई शक नहीं।

यदि आजका विज्ञान जैन-मत-सम्मत समस्त द्रव्योंको स्वीकार नहीं करता है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह सब महत्वहीन हैं। हमें विज्ञानके संकुचित क्षेत्र [भौतिक] परभी हो–यानी उसकी असमर्थता पर–ध्यान देना चाहिये। वैज्ञानिक लोग आज जिन चीजोंका अभाव अनुभव कर रहे हैं, एव जिनके अभावमें वे बहुतसे प्राकृतिक क्रियाओंका हल नहीं दे रहे हैं वे हमारे शास्त्रोंमें वर्णित हैं। किसीभी अन्यमतके तत्वज्ञान ग्रन्थोंमें गति-स्थिति-माध्यम [धर्म-अधर्म] का वर्णन नहीं है। काल द्रव्यकी स्वतन्त्र सत्ताभी जैनधर्मकी एक विशेष महत्ता प्रदर्शित कर रही है। वास्तवमें जैन-जगत [षद् द्रव्य] का विवेचन पूर्ण रूपसे सगत एव वैज्ञानिक है। उसका पूर्ण आभास उपर्युक्त विवेचनसे मिलता है।*

(पृष्ठ ९० से चालू)

भूल चले मानव थे
अपनी ही मानवता!
अपनायी हृदयसे थी
सबनेही दानवता!!
असभ्यताका नग्न नृत्य।
दिखते अनूठे कृत्य!!
शान्ति तो भ्रान्ति थी!
मची दुष्क्रान्ति थी!
नारी निरीह थी अमित दबाई गई
भोगकी केवल सामिग्री वह!
प्रेम, स्वार्थ प्रेम था!
दीखता न कहीं सत्य धर्म लेश था।
उत्पथका जटिल जाल
था श्मशान विकराल
मानो निकट आ गया था
प्रलयका महा काल!

ह्रास हो रहा था विलुप्त
धर्म आचरण धर्म प्रतिकूल था!
हिंसामयी तमसाका
चारों ओर छाया था —
घोर अन्धकार-अधिकार!
सूर्य किरण अभिलाष
उस युगको भी हुई
उसी काल विषम परिस्थितमें
लोक कल्याण हित
एक दिव्य सत्त्व ने
क्षत्रिय कुल नृपति के
त्रिशलाकी कुक्षिसे
दिव्य मार्तण्ड तुल्य जन्म लिया!
वह पुण्य मयी जन्म तिथि
मधुमासकी त्रियोदशी
आहा चैत पक्षकी
वीरकी जयन्ती है!

---

* Prof. G. R. Jain की Cosmology तथा प्रो० पद्मराजय्याके एक लेखके आधार पर।

जैन धर्म क्या है?

(श्री० अजितप्रसादजी, एम. ए., एलएल. बी., लखनऊ)

जैन धर्म वस्तुस्वभाव है। वह सम्प्रदाय, आम्नाय नहीं है। वह नियमसंग्रह नहीं है। वह सांसारिक व्यवहारका मार्गप्रदर्शक कोश नहीं है। वह जनसमूह नहीं है। वह कोई जाति नहीं है। वह कोई बिरादरी, पार्टी नहीं है। जैनधर्म किसीका बनाया हुआ, किसीका स्थापित किया हुआ नहीं है। जैनधर्मका कोई संस्थापक पैगंबर नहीं है। जैनधर्मका आदि-अन्त नहीं है। जैनधर्म न कभी शुरू हुआ, न कभी खतम होगा। न कभी प्रारम्भ हुआ, न कभी नाश होगा। वह तो जो कुछ है, उस सबका श्रद्धान, ज्ञान है।

जैन धर्मका सिद्धान्त ८ बरसका बालक समझ सकता है और जैन धर्मका ज्ञान इतना गम्भीर है कि जन्म जन्मान्तरोंमेंभी पूर्णज्ञान होना मुशकिल है। मगर एक जन्म, दो जन्म, या तीन जन्ममें सम्पूर्ण ज्ञान, केवल ज्ञान, आत्म ज्ञान, परमात्म पद मुक्ति, मोक्ष प्राप्ति संभव है। हरएकको हो सकती है। उस परम पदकी प्राप्तिमें अपनी स्वय शक्ति ही एक मात्र साधन है। किसी अन्य पुरुषकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। किसीकी मेहरबानी, कृपा, सिफारिश या बलिदान पर निर्भर नहीं है। केवल अपना पुरुषार्थ, परम पुरुषार्थही उस परमैश्वर्यका साधन है।

जैन धर्मका साधन प्रत्येक बालक, व्यक्ति, युवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, रोगी, स्वस्थ, हर अवस्थामें कर सकता है। जाति, वर्ण, आदिकी रोक टोक नहीं है: ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, कोईभी हो वह मोक्षका अधिकारी है, मुक्ति प्रत्येक जीवका जन्म-सिद्ध अधिकार है, चाहे जिस देशमें रहता हो, चाहे जो भाषा बोलता हो, चाहे जिस घरमें कुलमें जन्म लिया हो। मनुष्य जैन धर्मके सिद्धान्त पर चल कर आत्मोन्नति करता हुआ लोकके अग्रभागमें शुद्ध-स्वतंत्र होकर नित्य शाश्वत, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञानमें मग्न रह सकता है। प्रत्येक जीव शक्तितः परमेश्वर है। अपने निजी पुरुषार्थसे उस परमेश्वरत्वको व्यक्त कर सकता है। नरसे नारायण बन सकता है।

जैन धर्मका सिद्धान्त सरल, निर्विवाद है। दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मंदिर मार्गी, तेरा पन्थी, तारण पन्थी, आदि भेद प्रभेद जैन धर्ममें नहीं हैं। वह तो जैन धर्म अपवाद हैं। लौकिक विद्यामदसे मदोन्मत्त मनुष्योंने अपने कषायसे प्रेरित होकर अपनी पूजा प्रतिष्ठा करानेके लिये अपने अपने मठ स्थापित कराके अनन्त संसारका बंध किया है। साम्प्रदायिकता, कट्टरपना, आम्नाय भेद, जैन धर्मका अनादर, मिथ्या भावना, कर्मबन्धका कारण है।

सच्चा जैनधर्म अनुयायी, वीर भगवानका उपासक, तो "'सत्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्, माध्यस्थ भावम् विपरीत वृत्तौ," इस सिद्धान्त पर चलता है। उसके प्रत्येक

प्राणी, देहधारीसे मैत्रीभाव होता है। किसीसेभी वैरभाव नहीं; वह किसीके दोषको नहीं देखता, किसीके अवगुण प्रगट नहीं करता, वह गुणग्राही होता है; सब दुःखी, पीड़ित जीवोंकी रक्षा करता है। दया करता है, और जो विपरीत मार्ग पर चल रहे हैं, उनसेभी द्वेष नहीं करता, उनकी बुराइयोंका ढढोरा नहीं पीटता। सदा आत्मानुभव, आत्मचिन्तनमें मग्न रहता है। स्वात्म मात्रसे पृथक अन्य सब बातोंसे दूर हटा रहता है और उसी आशयका उपदेश, बखान, करता रहता है।

यदि अपनेको जैनी कहनेवाले लोग, जैन धर्मके सिद्धान्त पर चलने लगे, तो संसारका उद्धार, अपना उत्थान, स्वपर-कल्याण शीघ्रही हो जाय।

दुःख, क्लेश, रोग, शोक, अकाल, निर्धनता, लड़ाई, झगड़े, युद्ध, मारकाट, लूट खसोट, आदि कष्ट जल्दीही मिट जावें। संसार स्वर्गरूप बन जावे। पौराणिक वर्णन साक्षात दिखाई पड़े। सुख-शान्ति, स्वास्थ्य, सन्तोषका प्रचार हो।

क्या जैनी नामधारी भाई, महावीर सन्देश पर चलेंगे! अपने व्यवहारसे दैनिक चरित्रसे सिद्धकर देंगे, कि वह वीर भगवानके सच्चे, पूरे उपासक हैं। झूठी मान बड़ाई, चन्दरोजा वाह वाहीसे डर गए हैं। अपना तन, मन, धन, अपनी सर्व शक्ति, लोकोपकार, जनसेवा, आत्मोन्नति, वास्तविक मानवसमाजोद्धार और वास्तविक धर्मप्रचारमें लगावेंगे।

समझानेसे था हमें सरोकार
मानो या न मानो तुमहो मुख्तार.

' वीर-सद्धर्म-सन्देश '

(पण्डित नाथूरामजी 'प्रेमी')

१

मन्दाकिनी दयाकी जिसने यहां बहाई।
हिंसा कठोरताकी कीचड़भी धो मगाई!!
समता-सुमित्रताका ऐसा अमृत पिलाया!
द्वेषादि रोग भागे मदका पता न पाया!!

२

उसही महान प्रभुके तुम हो सभी उपासक!
उस वीर धीर-जिनके सद्धर्मके सुधारक!!
अतएव तुमभी वैसे बननेका ध्यान रक्खो!
भावोंमी उसीका आदर्श आगे रक्खो!!

३

सन्तुष्टि शान्ति सच्ची होती है ऐसी जिससे!
ऐहिक क्षुधा पिपासा रहती है फिर न जिससे!
वह है प्रसाद प्रभुका पुस्तक स्वरूप उसको!
सुख चाहते सभी हैं, चखने दो चाहे जिसको!

४

कर्तव्यका समय है निश्चिन्त हो न बैठो!
थोड़ी बड़ाइयोंमें मदमत्त हो न ऐंठो!!
"सद्धर्मका सन्देसा" प्रत्येक नारी नरमें!
सर्वस्वभी लगा कर फैला दो विश्वभरमें!

भगवान महावीरके धर्ममें क्रियाकांडकी वैज्ञानिक स्थिति।

(श्री प. नाथूलाल जैन, साहित्यरत्न, संहितासूरि, न्यायतीर्थ, शास्त्री, इन्दौर)

वस्तुस्वभावका नाम धर्म है। चेतन और अचेतन पदार्थोंमें जीव और पुद्गल, ये दो पदार्थ अशुद्ध या विभाव दशामें परिणमन करते हैं। शेष अचेतन धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य अपनी स्वाभाविक अवस्थामें रहते हैं। उक्त जीव और पुद्गलमें जीव संसारदशामें और पुद्गल कर्म-रूप परिणत होनेकी दशामें अशुद्ध होते हुए अनादि कालसे परस्पर बंधे रहकर अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। जीवका कर्मके निमित्तसे रागद्वेषादिरूप होनाही उसकी अस्वाभाविक और परतंत्र अवस्था है। उससे छूट कर वह अपने अनंत ज्ञानादि गुणोंको अभिव्यक्त कर सके इसीके लिए उस प्रयत्न करना आवश्यक है। स्वरूपका भान हो जाने परही वह जीव अपना प्रयत्न जारी रखकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

भ. महावीरने स्वय अपनी कर्म परतन्त्र आत्माको अपने पुरुषार्थसे स्वतन्त्र बनाया था और तभीसे भगवान या परमात्मा बने थे। भ. महावीर का धर्म इसीलिए वैज्ञानिक है कि वे वस्तुकी जो स्वाभाविकता है उसे स्वय प्राप्त कर दूसरोंको उसे प्राप्त करनेका उपदेश देते हैं। आत्माकी स्वाभाविकता उसके अनंत ज्ञानादि गुणोंकी अभिव्यक्ति है—वही उसका स्वरूप है। इसी वस्तुस्वभाव की स्थितिका नाम धर्म है, जिसे संसारी जीवोंको प्राप्त करना है[1]।

इस स्व स्वभावकी प्राप्तिके हेतु जीवको तदनुकूल आचरणभी करना होगा तभी वह उसे पासकता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं कि जीवको चारित्र गुणके आचरणसे मुक्ति मिलती है और स्वरूपका आचरणही चारित्र है। मूल चारित्रको धर्म कहते हैं जो उपशमरूप है। मोह क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम उपशम है। पंचाध्यायीकार[2] बताते हैं कि मोहकर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका नाम चारित्र है और वही निश्चयसे धर्म है। कर्मके ग्रहणकी क्रियाका रुक जानाही यथार्थ चारित्र है, वही धर्म है और शुद्धोपयोग है। पंडितप्रवर आशाधरजी[3] कहते हैं कि सांसारिक क्लेशको दूर करनेवाले मुमुक्षुको सम्यक चारित्ररूपी छाया वृक्षका सेवन करना चाहिए। परन्तु वह चारित्र वृक्ष सम्यग्दर्शनरूपी भूमिपर श्रुतज्ञानरूपी जलसे सींची गई दयारूपी जडवाला होना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र अचारित्र माना जाता है।

इस कथनसे यह अभिप्राय निकला कि यथार्थमें आत्मामें निराकुलता या स्थिरताका होना

---

१. प्रवचनसार अ. १ गा. ६-७. २. पंचाध्यायी अ. २ श्लो. ७५८, ७६४.

३. अनगार धर्मामृत अ. ४ श्लो १, ३.

चारित्र है और आकुलता या चंचलता अचारित्र है। श्री वीरसेनाचार्य[४] लिखते हैं कि पापक्रिया-ओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। घातियाकर्म पाप हैं, मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पापकी क्रियायें हैं। उन पापक्रियाओंके अभावको चारित्र कहते हैं। पापरूपक्रियाओंमें शुभ और अशुभ दोनों भाव आ जाते हैं, क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों भावोंसे घातिया कर्मका बंध होता है। जिनभावोंसे आत्मगुणोंकी शक्तिका घात होता है, वे भाव पाप कहलाते हैं। इस लिए शुभाशुभ दोनोंही भाव पाप क्रिया[५] हैं। परन्तु ऐसी परिणति और ऐसा भान तत्त्वज्ञान होने परही होता है। इस निश्चय शुद्ध परिणामके लिए अपने मन वचन कायको संभालनेकी आवश्यकता है। बाह्य साधन व्रतोपवास इत्यादि अंतरंगकी स्थिरताके लिए निमित्त हैं, लेकिन वे चारित्र या धर्म नहीं है, हां व्यवहारसे उन्हेंभी धर्म कहा जाता है। पं. आशाधरजीने बताया है कि सम्यग्दर्शनादिके साथ प्रवृत्त होनेवाले आत्माके एकाग्रतारूप शुद्ध परिणाम कार्य हैं और इस धर्मके विषयमें जो एक विशिष्ट प्रीति होती है वहभी उपचारसे धर्म माना जाता है। यहधर्म[६] पुण्यकर्मके बंधका कारण हो सकता है जिससे स्वर्गादि संपत्ति प्राप्त होती है। जैनाचार्योंने कहा है कि—

"यदि[७] तुम जिनमतको चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इनमेंसे किसीभी नयको मत छोडो क्योंकि इनमेंसे एक व्यवहार नयके बिना तीर्थका और दूसरे निश्चय नयके बिना तत्त्वका लोप हो जाता है। यह न जान कर जो व्यक्ति केवल चरणक्रिया-बाह्यचारित्रकोही प्रधान मानता है वह वास्तवमें आत्मकल्याणके व्यापारसे रहित है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति चरणक्रियाकोही आत्महितका सार समझ बैठता है। इसी तरह जो केवल निश्चय नयकाही अवलंबन लेनेवाला है, वह निश्चय है कि वह निश्चय नयकोभी नहीं समझता। ऐसा व्यक्ति स्वयं बाह्यचारित्रमें आलसी हो जाता है और चारित्रधर्मको नष्ट कर डालता है।"

भाव यह है कि ज्ञानविहीन शुष्क क्रियाकांड निःसार है और क्रियाहीन ज्ञान अज्ञान है। आत्माके निश्चयमें परिणमन होने पर बहिरात्म भावके हट जानेसे मन, वचन, कायकी सब क्रियायें योग्य हो जाती हैं, यही व्यवहार चारित्र है। कर्म कर्मफल चेतनामें जो पुरुषार्थ कहलाता था वही ज्ञानदृष्टि हो जानेसे बदल जाता है और अशुभ क्रियाओंसे शुभमें प्रवृत्त हो जाता है। सम्यग्दर्शन

---

४. धवलाटीका ग्रंथ ६ पृ. ४०.

५. आत्मधर्म (श्री कानजी स्वामीका प्रवचन) वर्ष २ अंक १०.

६. अनगार धर्मामृत, अ. १ श्लो. २२.

७. जइ जिणमयं पवंज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं॥
चरण करणप्प हाणा ससमय परमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणं ससारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति॥
णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासिंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई॥

ज्ञानसे रहित क्रियाका नाम चारित्र नहीं। सम्यग्दर्शन हो जाने पर जीवन बदल जाता है। सम्यग्दृष्टि ही तत्वज्ञानी है। वह व्रतादि आचरण करता हुआभी अपनेको उसका कर्ता नहीं मानता। ज्ञानी और अज्ञानीमें कर्म कर्मफल चेतनाके अनुभवमें कर्तृत्व और ज्ञातृत्व बुद्धिकाही अन्तर है। आचार्य कल्प श्री० पं० टोडरमलजी[8] बताते हैं कि ज्ञानी प्रशस्त रागसहित चारित्र धारण करते हैं उन्हें देख कोई अज्ञानी प्रशस्त रागादिको चारित्र मान संग्रह करते हैं तो वे वृथाही खेदखिन्न होते हैं। जैसे कोई समझदार तुषसहित चावलका संग्रह कर रहा था, उसे देख कर किसी अज्ञानी भोले आदमीने तुषोंकोही चावल मान संग्रह करना उचित मान लिया तो उससे उसे व्यर्थही खेदखिन्न होना पड़ा। इस प्रकार भेद ज्ञान रख कर आत्माके निर्विकार स्वभाव निश्चय धर्ममें जब तक संपूर्ण स्थिरता नहीं होती तब तक अशुभ प्रवृत्तियोंसे, जिनसे कि अशुभ पापभाव होता है, बचनेके लिए व्रतादि एवं जिनेन्द्र भक्ति आदिका शुभराग सम्यग्दृष्टिके होता है। ये व्रतादि क्रियायें व्यवहार चारित्र कही गई हैं। व्यवहार नाम उपचारका है क्योंकि महाव्रतादिके[9] होने परही वीतराग चारित्र होता है। इस सम्बधसे व्रतादिमें चारित्रका उपचार किया है। यह सब शुद्धोपयोग बढानेके लिए किये जाते हैं और शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है, इस लिए व्यवहारसे व्रत[10] व तपादिभी निर्जराका कारण कहे गये हैं। चारित्रमोहके उदयसे जीवोंके सर्वदा शुद्धोपयोग रूप प्रवृत्ति बनी नहीं रह सकती; अतएव शुद्धोपयोग की इच्छासे वे व्रतोपवासादि[11] करते रहते हैं। बाह्य साधनोंसे वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास सभी तीर्थंकरोंने किया है। संवर (आतेहुए कर्मोका रोकना) में अहिंसादि और समितिधर्मानुप्रेक्षादि रूप भावोंको गिनाया गया है; सो उनमे जितने अंश वीतरागताके हैं उनसे संवर होता है और सराग अंशोंसे शुभाशुभ होता है। इस प्रकार एक भावसे दोनों कार्य बनते हैं।

भ० महावीरका धर्म अध्यात्मप्रधान है, उसमें आध्यात्मिक विज्ञानका महत्व आकना चाहिए। बंध संवर निर्जरा और मोक्ष तत्वके विवेचनमें वर्तमान भौतिक विज्ञानका उदाहरण लिया जा सकता है। अपने स्वभावसे च्युत होकर जीव और कर्मका एक दूसरेके प्रदेशोंमें प्रविष्ट हो जाना और इससे तीसरीही दशाका होना बंध है। यह संयोगदशा नहीं है। संयोगमें गुणका विनाश नहीं होता, पर बंधमें स्वगुणच्युति होना आवश्यक है। इसका दृष्टांत मिले हुए अशुद्ध सुवर्ण और चांदी पदार्थ हैं जिनमेंसे उनके रूपादिका परिवर्तन हो जानेपरभी सराफा बाजारमें धातु गालनेवाला सुनार अग्नि और तेजाब आदिके प्रयोगसे उन्हें अलग २ अपने शुद्ध रूपमें ला देता है। इसी प्रकार वर्तमान वैज्ञानिकभी अपनी प्रयोगशालामें मिश्र पदार्थको रासायनिक प्रयोगके बल पर शुद्ध कर लेता है। यही बात भ० महावीरके संयम, तप, त्याग, आकिंचिनत्व और ब्रह्मचर्य धर्ममें घटती है। आतशी कांचके ऊपर जब सूर्य किरणें केन्द्रित करदी जाती हैं तो वे तपन पैदा कर देती हैं। इसी प्रकार एक मुमुक्षु अपने मनवचनकायकी प्रवृत्तियोंका निरोध करता है, उसका नाम है संयम। आतशीकांचसे जब गर्मी अधिक बढ जाती है तो पासका पदार्थ जलने या पिघलने लगता है। इसी तरह आत्मामें

८. मोक्षमार्ग प्रकाशक पुस्तक पृ. ३६२. ९. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३४०.
१०. तत्वार्थ सूत्र अ. ९ सू. १, २. ११. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ३४२.

स्थिरताके बढ जानेसे आत्माका अशुद्धभाव और कर्म मल नष्ट होने लगता है, इसीका नाम [illegible] है।
रासायनिक प्रयोगमें मिश्रित अशुद्ध पदार्थोंके गलकर अलग २ हो जानेके समान आत्माके रागादिका
और पुद्गलकी कर्मत्व दशाका छूट जाना लगा है। जब दोनों चीज अलग २ हो गई तो तपस्वीकी
आत्मा, जिसे शुद्ध बनानेके लिये वह प्रयत्न करता है, आकिंचन्य (जिसमें अन्य कोई पदार्थ मिला
हुआ नहीं है) अवस्थाको प्राप्त कर लेती है। आकिंचन्य दशाके होनेपर आत्मा ब्रह्म (शुद्धात्मा)
में आचरण करने लगता है अर्थात् स्वरूपोपलब्धिको प्राप्त कर लेता है। यह है भ० महावीरका
वैज्ञानिक धर्म जो वस्तुको अपने स्वभावमें लानेका सुंदर एवं मौलिक विवेचन करता है। मूलमें जो
स्वभावकी प्राप्ति होती है वह समीचीन क्रिया या प्रवृत्तिसेही होती है, क्योंकि संयम और तप बाह्य
क्रिया रूप साधनभी हैं, जिनके प्रयोगसे इस तत्वज्ञानीको अपनी अशुद्ध दशाको नष्ट कर शुद्धदशा
प्राप्त करनी पडती है।

उक्त चर्चासे यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतरंग शुद्धिके लिए बाह्य साधनोंको स्वीकार करना
चाहिए और वे किस दृष्टिसे किस लिए ग्रहण किये जाते हैं यहभी मालूम हो जाता है। मोक्षके
लिए संयम और तप आवश्यक हैं। व्रतोंका[१२] धारण करना, समितियोंका पालन करना, कषायोंका
निग्रह करना, मन वचन काय रूप दंडका त्याग करना और इन्द्रियों पर विजय करना संयम कह-
लाता है तथा अनशन,[१३] अवमौदर्य, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय,
वैयावृत्त्य, स्वाध्याय और ध्यान यह १२ प्रकारका बाह्य एवं अंतरंग तप कहलाता है, जो अपनी
लालसाओं एवं इच्छाओंके रोकनेसे होता है।

मोक्ष प्राप्त करनेके लिए जैसे शुद्धोपयोग प्रधान है वैसेही उस शुद्धोपयोग परिणत आत्माका
आश्रय योग्य शरीर तथा योग्य क्षेत्र, काल आदिभी निमित्त जुटनाही चाहिए, चाहे वे गौण क्यों
न माने जावें, पर किसीभी कार्यके लिए उत्पादक कारण कलाप चाहिए 'सामग्री हि कार्यजनिका'
न्यायशास्त्रका एक नियम है।

'न निमित्तद्वेषिणा क्षेमः' निमित्तका सर्वथा विरोध करनेवालोंका कल्याण नहीं होता। उत्तम
संहननवालेको मुक्ति मिलती है, क्योंकि मुक्तिके योग्य ऊंचे परिणाम और तप दूसरेके संभव नहीं।
उत्तम संहननवालाही ऊंचासे ऊंचा पुण्य और ऊंचासे ऊंचा पाप अर्जन कर सकता है। स्त्रीशरीरसे
मुक्ति और सप्तम नरक गमन असंभव है क्योंकि स्त्रीके उत्तम संहनन नहीं होता, न [illegible] महाव्रतही
धारण कर सकती है। अभव्यके रत्नत्रय नहीं हो सकते। मुक्ति दिगंबर मुनिमुद्रा और महाव्रताचरण
सेही होती है। इन सब बाह्य निमित्तोंको देखते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके नियमों पर
विचार करनाही होगा। जिनसेनाचार्य[१४] लिखते हैं कि 'जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, जिसके
आचरण उत्तम है, जिसका मुख सुंदर और जो बुद्धिमान है, ऐसा भव्य पुरुषही दि. मुनिदीक्षा ग्रहण
करने योग्य समझा जाता है। 'मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्यको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग,

---

१२. गोम्मटसार जीवकांड–गा. ४६४. १३. तत्वार्थ सूत्र अ. ९ सू. १९, २०.
१४. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. १५८, १५९.

शुभ लग्न और शुभ ग्रहोंके अंशमें दिगंबर मुनि दीक्षा लेना चाहिए।' ऊसर भूमिमें बोया हुआ बीज फल नहीं दे सकता। उत्तम फलकी प्राप्तिके लिए भूमिको सुसंस्कृत करना आवश्यक है।

इसके पूर्व उन्हीं आचार्यने बताया है कि "जिस प्रकार विशुद्ध खानसे उत्पन्न हुई मणि संस्कारके निमित्तसे अत्यंत उज्ज्वल हो जाती है उसी प्रकार यह आत्माभी क्रिया मन्त्रोंके संस्कारसे अत्यत निर्मल हो जाताहै। अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम क्रियाको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह भव्य पुरुषभी उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है।"

यहां द्रव्यलिंगीमुनिके उदाहरणसे यहभी जान लेना चाहिए कि उक्त पात्रता और क्रियाओंके होनेपरभी वे अपने उपादान अंतरग आत्माके तत्वज्ञानबिना नवग्रैवेयकसे आगे नहीं[15] जा पाते। तत्वज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) की क्रियायें शुभ होती हैं, पर शुभ क्रिया करनेवाला तत्वज्ञानी होकर मुक्त होताही है यह व्याप्ति नहीं। इस लिए स्वय जिनसेनस्वामीभी कहते हैं कि यह संस्कार ज्ञानसे[16] उत्पन्न होता है, सबसे उत्तम सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्यग्दृष्टियोंको उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली क्रियाओंको करना चाहिए। ये क्रियायें गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्तृन्वयके भेदसे ३ प्रकारकी आदि पुराणकारने बताई हैं। गर्भान्वय क्रियायें ५३ हैं जिनमें गर्भधारणसे लेकर निर्वाणपर्यन्तके संस्कार और आचरण आजाते हैं। वर्तमान जीवनमें गर्भाधानसे प्रारम [illegible] प्रतिमाह गर्भके बालकके संस्कार किये जाते हैं और उत्पन्न होने पर नामकर्म, विद्यारंभ, विवाह, कुलचर्या, गृहत्याग, मुनिदीक्षा और अंतमें तीर्थंकृत भावना एव समाधिमरण किया जाता है। इससे यह जीव स्वर्गमें इन्द्र पद प्राप्त कर वहांसे तीर्थंकर होता है और अतमें मोक्ष प्राप्त करता है। यह व्यावहारिक बाह्य एवं आतरिक क्रियाकाड वास्तवमें जीवनके निर्माण एव विकासके लिए अत्युपयोगी है। इससे लौकिक और आध्यात्मिक जीवन कितना पवित्र और उन्नत बन सकता है यह इस प्रकरणको ध्यानसे देखने पर ज्ञात हो जाता है।

दीक्षान्वय क्रियायें ४८ हैं जिनमें उक्त क्रियाओंमें १४ वींसे ५३ वींतक और अवतारादि ८ और हैं। व्रतोंका धारण करना दीक्षा है। व्रतग्रहण करनेके लिए जो मनुष्यकी प्रवृत्ति है उसके साथ होनेवाली क्रियायें दीक्षान्वय कहलाती हैं। इनमेंभी मिथ्यात्वका त्यागकर जैनधर्म स्वीकार करने आदिका क्रम है।

कर्त्रन्वय क्रियायें [illegible] हैं, जो पुण्यवालोंको प्राप्त होती हैं। यही सप्तपरमस्थान कही जाती हैं।

वेद[17] (श्रुतज्ञान), पुराण, स्मृति (धर्मशास्त्र), चारित्र, क्रियाविधि, मन्त्र, देवता (तीर्थंकर) लिंग (निर्ग्रंथ) आहार (मांसादिदोषरहित) और शुद्धि (अहिंसायुक्त) का जैनाचार्योंने निरूपण किया है जिसे श्रेष्ठमार्ग और धर्म मानना चाहिए। यह सर्व व्यवहार धर्म है। शास्त्रस्वाध्याय,

---

१५. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. १०,११.   १६. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. १२.

१७. आदिपुराण पर्व ३९ श्लो. २० से २१.

महापुरुषोंका जीवनचरित्रपठन, प्रतिष्ठा, देवपूजन-दर्शन, स्तोत्रपाठ, सामायिक, विघ्ननिवारणार्थ नाना विधान, एव हवन, शुद्धमर्यादित भोजन और शारीरिक शुद्धि आदि जो आचरण बाह्य रूपमें किये जाते है और जिनके करनेसे लोग धर्मात्मा कहे जाते हैं वे सब अवश्य मन और आत्माके सुधारके लिए हैं। पुराण[18] स्तुति आदिकी सहायतासे होनेवाली आत्मश्रद्धा एवं मानसिक शुद्धिसे यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्तकर लेता है। पुराणादिमें कहे गये आदर्श उदाहरणोंसे अपनी आत्माको और झुकनेकी प्रेरणा मिलती है परन्तु भावशून्य उक्त क्रियायें यथार्थमें फलदायक नहीं। चरणानुयोगमें[19] सकषाय एव भोले जीवोंको लोभ, अरति, जुगुप्सा आदिकषायोंको उत्पन्न करकेही धर्मकार्यमें लगाया गया है। तीव्र दुखी एव पापकर्मोंमें लगे हुए जीवोंको स्वर्ग, पुत्र, धनादिका लालच दिया [illegible] पूजन पाठ आदिमें लगानेके वाक्य हम पूजापाठों एवं स्तोत्रोंमें सदाही पढते हैं। पूजनोंके अतमें पढा जाने वाला आशीर्वाद इसका प्रमाण है। स्तोत्रों एवं विनतियोंमें सीता, द्रौपदी, सेठ धनजय आदिके उदाहरणभी हम पढते हैं जिनके आत्मिक शुद्धभावों और पूर्वपुण्यके प्रभावसे सकट दूर हुए थे। इनसे यह लाभ अवश्य है कि वे जीव पापाचरणमें न फस कर पुण्यरूप प्रवृत्तिमें लगते हैं और पीछे इसीसे सच्ची धर्मबुद्धि (आध्यात्मिकता) भी हो जाती है।

जिनेन्द्र[20] तो रागद्वेषसे रहित हैं, वे न प्रसन्न होते हैं और न रुष्ट, किन्तु उन परमात्माके गुणोंका चित्तमें चिंतवन करनेसे हमारी कर्मप्रकृतियोंका तीव्र अनुभाग (फल दानशक्ति) मद या नष्ट हो जाता है। हमारे आत्मिक उच्च भावही इसमें कारण हैं। जिनेन्द्रके आलंबनको पानेसे हम व्यवहार में उनका प्रसाद[21] या कृपा कह दिया करते हैं।

आहारशुद्धिकी वैज्ञानिकता तो स्वय आयुर्वेदशास्त्र बताते हैं। जैसा अन्न खाया जायगा वैसाही परिणमन होता है और शारीरिक विकाससे मन पर असर होताही है। आहारके समयके भावोंकाभी प्रभाव उसके पाचन पर पडताही है। भोज्य द्रव्योंकी मर्यादाभी अपना महत्व रखती है [illegible] स्वाद एव वैज्ञानिक मर्मोंसे जानी जा सकती है। 'सिद्ध पदार्थ विज्ञान' में केप्टन स्कोर्सबीने अनछने जलबिंदुमें ३६४५० त्रस जीव खुर्दबीनसे बताये हैं। बिंबादि प्रतिष्ठाओंमें प्रतिमा प्रतिष्ठाके साथ दानादिभी किये जाते हैं। [illegible] सबसे वात्सल्यारित्र जो कि अंतरंग शांतिका साधन है, पालनमें और अर्जित धनके सदुपयोगमें मदद मिलती है और सामाजिक सगठन-परिचय आदि लाभ होते हैं। प्रतिमाओंकी क्रियाओंमेंभी जो विशेषतायें है वे यहा विस्तारके भयसे नहीं बताई जा रही हैं। विधि-पूर्वक बनाया भोजन या औषधिका मूल्य वही जानते हैं। इतना तो कहना पडेगा कि प्रतिष्ठाचार्योंने विविध प्रभावनाके नाम पर इनमें अधिकीय बाह्यआडम्बर और मिथ्यात्व ला दिया है, जिसके जैनेतर क्रियाकांडकाभी प्रभाव है। इस प्रतिष्ठा और पूजनादिके क्रियाकांडको लेकर जैनोंमें अनेक आम्नायें (पथ) हो गई हैं जिनसे कषायकी ही पुष्टि एवं परस्पर कलह बढ गया है। [illegible] सब यथार्थ उद्देश्य एव साध्यको विस्मृतकर साधनोंकोही साध्य समझनेका दुष्परिणाम है।

---

१८. उत्तरपुराण. १९. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ. ४१७ २०. कल्याणमंदिर एव स्वयंभूस्तोत्र.
२१. आप्तपरीक्षा

मंत्र साधन और हवनके विषयमें यह अवश्य है कि ग्रहों और अचेतन वस्तुओंमें कुछ स्वाभाविक शक्ति हैं कि उन्हें नियमोंके माफिक ठीक २ मिलाया जाय और विधिपूर्वक प्रयोग किया जाय तो वे अपना प्रभाव करते हैं। 'मणिमाला ग्रंथ' के अनुसार किस रत्नको किसे कब धारण करनेसे क्या लाभ या हानि होती है यह प्रकट है। चिंतामणिरत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदिसे इसे सहज ही जाना जा सकता है। रजस्वला स्त्री की दृष्टि और शुद्ध मासमें पापड क्यों खराब हो जाते हैं ? इसी लिए मांगलिक कार्योंमें मेंहदी, अक्षत, सरसों, हल्दी, सुपारी आदिका उपयोग किया जाता है। इस कथनको आयुर्वेदशास्त्रका निघंटुभी प्रमाणित करता है। हवन (यज्ञ) में जो वस्तुएँ संग्रह की जाती हैं उनमें हवनद्रव्य एवं समिधाके प्रयोगसे शरीरके बडे २ रोग दूर हो जाते हैं तथा घट, ग्राम, नगर आदिकी खराबियां नष्ट हो जाती हैं। 'कल्याण' में कुछ वर्ष पूर्व एक इस विषयका लेखभी निकला था।

उक्त विवेचनमें मुख्य बात यही है कि इन सबका मन और आत्मापर प्रभाव पडना चाहिये। प्राणियोंका आत्मशांतिही प्रमुख ध्येय होना चाहिये और उसमें जो साधक हों उन्हें विवेकपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अपने[21] सम्यक्त्व और चारित्रमें हानि करनेवाले क्रियाकाण्डको सर्वथा परित्याग कर देना उचित है।

" जैनधर्मके चारित्र नियमोंकी पवित्रता अक्षुण्ण है और वे इस उच्च स्तरके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नतिके लिये उनको निस्संकोच ग्रहण कर सकता है। दुखी जगतको सुख-शान्ति देनेके लिये जैन शिक्षा पर्याप्त है। जैनधर्मनेही पहले-पहल अहिंसाका उपदेश दिया, जिसका अनुकरण अन्य धर्मोंमें किया गया। "

—प्रो० लुई रेनाव पी-एच. डी., सोबोर्न विश्वविद्यालय, पेरी (फ्रांस)

---

२१. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकोविधिः।
यत्रसम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ (यशस्तिलकचंपू)

जैनधर्ममें जातिवादकी निःसारता।

(ले० श्री० चैनसुखदासजी शास्त्री, न्यायतीर्थ, जयपुर)

जातिभेद एक निःसार प्रथा है। इसने धर्मका गला घोट दिया है और मनुष्यकी बेहद परेशानियाँ बढ़ायीं हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके भेदों एवं इनके उपभेदोंने मानवताको छिपाकर एक दूसरेके बीचमें इतनी गहरी खाई खोद दी है कि अब उसको पाट देना आसान काम नहीं। ब्राह्मण केवल इसीलिये अपने आपको बड़ा समझता है कि वह उच्च जातिमें पैदा हुआ है फिर चाहे वह कितनाही निकम्मा क्यों न हो। विद्वान्, कर्तव्यनिष्ट एवं परोपकारी शूद्रका अयोग्यसे अयोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य केवल जातिके कारण तिरस्कार कर सकता है—उससे बोलनेमेंभी नफरत कर सकता है। उसका अन्न खाना और उससे सपर्क रखने की तो बात ही रहने दीजिये। इसीलिए किसी स्मृतिग्रन्थमें यह लिखा हुआ मिलता है।—

शूद्रान्नात् शूद्रसंपर्कात् शूद्रेणसह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतश्वा चाभिजायते॥

शूद्रके अन्नसे, शूद्रके सम्पर्कसे, इतनाही नहीं शूद्रके साथ बातचीत करनेसेभी मनुष्य इस जन्ममें शूद्र हो जाता है और वह मरनेके बाद कुत्ता हो जाता है।

प्राचीन कालमें उच्च वर्णके लोगोंने शूद्रोंको पददलित करने और सतानेमें कुछभी उठा न रक्खा था। उनको पठन पाठनका कोई अधिकार नहीं था। उनके कानमेंभी किसी तरह वेदमंत्र पड़ जाय तो इसकी बहुत बड़ी सजा थी। इसी लिये वैदिक शास्त्रमें कहा है :—

"श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणं
उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे हृदयविदारणं"

अर्थात् शूद्र यदि वेदोंका श्रवण करले तो उसके कान शीशा और लाखसे भर देने चाहिये, उच्चारण करले तो उसकी जीभ काट देना चाहिये और यदि याद करले तो उसका हृदय विदारण कर डालना चाहिए। शूद्रोंके लिए यह कितनी बड़ी सजा है। इस सजाको सुनकर मनुष्य कांपने लगता है और उसका हृदय घृणा, दुःख और लज्जासे नीचा हो जाता है। किसीभी विवेकी मनुष्यको ऐसी चीजें बरदास्त नहीं हो सकती। जिसके हृदय है, जिसमें मानवता है वह ऐसे बेहूदा विधानोंको कभी पसंद नहीं करेगा। इसलिये जातिवादके इन कटक रूप विधानोंका जैनशास्त्रोंने घोर विरोध किया और एक जबरदस्त क्रांति कर डाली। जैनोंके तार्किक ग्रन्थोंमेंभी इस जातिवादकी खूब खबर ली गई। प्रकारसे दलीलोंके द्वारा इसका खण्डन कर इसकी निःसारता बतलाई गई है। जिससे भोले जीवोंकी श्रद्धा

चेतनाते इसका भय निकल जावे। जैनोंके प्रकाण्ड तार्किक श्री प्रभाचंद्राचार्यने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ प्रमेयकमलमार्तण्डमें जातिका खण्डन करते हुवे लिखा है कि :—

" किञ्चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य, शरीरस्य, उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा, वेदाध्ययनस्य वा गत्यन्तरासंभवात्? न तावज्जीवस्य, क्षत्रियविट् शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात् तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात्।

नापि शरीरस्य; अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवद् ब्राह्मण्यासंभवात्। न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्तानां वा तत्संभवति। व्यस्तानां तत्संभवे क्षितिजलहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसङ्गः। समस्तानां च तेषां तत्संभवे घटादीनामपि तत्संभवः स्यात् तत्र तेषां सामस्त्यसंभवात्। नाप्युभयस्य, उभयदोषानुषङ्गात्।

नापि संस्कारस्य, अस्य शूद्रबालके कर्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसङ्गात्।

किञ्च संस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति न वा यद्यस्तिः संस्कार करणं वृथा। अथ नास्ति तथापि तद्वृथा। अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसंभवे शूद्रबालकस्यापि तत्संभवः केन वार्येत?

नापि वेदाध्ययनस्य, शूद्रेपि तत्संभवात्। शूद्रोपि हि कश्चिद्देशान्तरं गत्वा वेदं पठति पाठयति वा। नतावतास्य — ब्राह्मणत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यत इति।

अर्थात् यह ब्राह्मणत्व जीवका है, शरीरका है अथवा जीव और शरीर दोनोंका है अथवा संस्कारका है अथवा वेदाध्ययनका है। इसके अतिरिक्त इस विषयमें और कोई विकल्प नहीं उठ सकते। इनमेंसे जीवका तो ब्राह्मणत्व हो नहीं सकता, नहीं तो क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकेभी ब्राह्मणत्व का प्रसंग हो जायगा, क्योंकि जीव तो उनकेभी विद्यमान है।

शरीरकोभी ब्राह्मण नहीं माना जा सकता क्योंकि घटादिककी तरह पञ्चभूतात्मक शरीरसे ब्राह्मण्य असंभव है। यदि पञ्चभूतोंका ब्राह्मणत्व स्वीकार किया जाय तो पृथक् पृथक् पञ्चभूत ब्राह्मण होंगे या मिलकर? दोनोंही पक्ष युक्ति बाधित है। इसी तरह जीव और शरीर इन दोनोंकाभी ब्राह्मण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उभय दोषका प्रसंग आ जायगा।

संस्कारकाभी ब्राह्मण्य स्वीकार नहीं किया जासकता क्योंकि संस्कार तो शूद्र बालकमेंभी किया जा सकता है, तब उसेभी ब्राह्मण मानना पड़ेगा।

और यहां यहभी पूछा जा सकता है कि संस्कारके पहले ब्राह्मणके बच्चेमें ब्राह्मणत्व है या नहीं? यदि है; तो संस्कार करना व्यर्थ है। यदि नहीं है तोभी व्यर्थ है, क्योंकि अब्राह्मणमेंभी संस्कारसे ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लेने पर शूद्रके बालकोंमेंभी ब्राह्मणत्व स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि संस्कार तो उसकाभी हो सकता है।

इसी तरह वेदाध्ययनकोभी ब्राह्मणत्वका कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदाध्ययन तो शूद्रमेंभी हो सकता है। कोई शूद्रभी देशान्तरमें जाकर वेदको पढ़ लेता है और दूसरोंको पढ़ा देता है फिरभी उसका ब्राह्मणत्व नहीं माना जाता।

जैनोंके उत्तराध्ययन नामक आगम सूत्रमें लिखा है :—

कम्मुणा बम्भणो होई कम्मुणा होइ खत्तियो ।
वईसो कम्मुणा होई, सुद्दो होई कम्मुणा ॥

अर्थात् कर्मसेही ब्राह्मण, कर्मसेही क्षत्रिय, कर्मसेही वैश्य और कर्मसेही शूद्र होता है।

कर्मका अर्थ मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्यकी महत्ता उसके कर्तव्यसेही है।

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो
न दीसइ जाइ विसेसो को वि।
सोवाग पुत्त हरिएस साहुं
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

अर्थात् वास्तवमें तपकीही प्रत्यक्ष विशेषता देखी जाती है। चाण्डाल कुलमें उत्पन्न हुये "हरिकेशी" अपने तपके कारणही महान् हो गये हैं।

जैनोंके सुप्रसिद्ध आचार्य अमितगतिने जातिके विषयमें जो मूल्यवान विचार प्रगट किये हैं वे भी हरेकके मनन करनेके योग्य हैं।

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः ।
सत्य शौच तपः शील ध्यान स्वाध्यायवर्जितैः ॥
आचारमात्र भेदेन जातीनां भेदकल्पनम् ।
न जाति ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥
ब्राह्मण क्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः ।
एकैव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ॥
संयमो नियमः शीलं तपोदानं दमो दया ।
विद्यते तात्त्विका यस्यां साजातिर्महतीसताम् ॥
गुणैः सम्पद्यते जाति र्गुणध्वंसैर्विपद्यते ।
यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादरः परः ॥
जातिमात्र मदः कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः ।
उच्चत्वदायकः सद्भिः कार्यः शीलसमादरः ॥

इन सबका भाव यह है कि केवल जातिमात्रसेही धर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्मकी प्राप्तिका कारण तो सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्याय है। सच तो यह है कि जाति नामका कोई यथार्थ पदार्थही नहीं है। आचार मात्रके भेदसे केवल जाति भेदकी कल्पना हुई है। ब्राह्मणत्व नामकी यथार्थ जाति निश्चितरूपसे किसीभी जगह दीख नहीं पड़ती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारोंकी वास्तवमें एकही मनुष्य जाति है। आचारके भेदसेही इनमें भेद होता

है। संसारमें सबसे बड़ी जाति वह है जिस जातिमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया विद्यमान है। गुणोंसे जाति बनती है और गुणोंके नाश होनेसे उसका नाश हो जाता है इसीलिये विद्वानोंको गुणोंकाही आदर करना चाहिए। जातिभेद मनुष्यको नीचा गिरा देने वाला है। यदि मनुष्यको उठना हो तो गुणोंका आदर करना चाहिये क्योंकि उच्चत्वके कारण केवल गुण हैं।

यह सब कुछ होते हुवेभी आजके जैन बुरी तरह जातिवादके शिकार हैं। वे अपने आचार्योंके जातिकी निःसारता बतलाने वाले आदरणीय उपदेशोंकी ओर कोई ध्यान नहीं देते। भगवान महावीरके सर्व जाति समभावकी आज स्वयं जैनोंके हाथही जो दुर्गति हो रही है उससे बड़ा दुःख होता है। "एकैव मानुषी जातिः" यह जैनोंका नारा था और महावीर युगमें इसमें बहुत बड़ी सफलता मिली थी। यही एक ऐसा नारा है जो सारे राष्ट्रको एक निष्ठ और एक प्राण बना देनेवाला है। आज हमारा प्यारा देश अभूतपूर्व विपत्तियोंके दलदलमें फँसा हुआ है। उसका उद्धार करनेके लिए सबसे पहले जातिभेदके पिशाचको नष्ट करनेकी जरूरत है। कितने दुःखकी बात है कि इस अभागेदेशमें तीन हजारसेभी अधिक जातियोंकी संख्या है। इनके उपभेदोंकी संख्या-तो सचमुच मनुष्यको कपादेनेवाली है। अकेले ब्राह्मणोंमेंही दो हजार जातियाँ बतलाई जाती है।

ब्राह्मणोंकी एक शाखा सारस्वत ब्राह्मणोंकी चारसौ उनहत्तर उपशाखावें हैं। क्षत्रियोंकी पाच सौ नव्वे, वैश्यों और शूद्रोंकी छह सौ सेभी ऊपर शाखाऐं हैं। छोटेसे करीब २५ लाखकी जन संख्यावाले जैन समाजके एक दिगम्बर संप्रदायमेंही ८४ उपजातियाँ हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी इन जातियों एवं उप जातियोंमें परस्पर विवाहसंबंध नहीं होता। इतनाही नहीं इनमें परस्पर भोजनव्यवहारभी निषिद्ध है। आश्चर्य तो इसबातका है कि इस वैज्ञानिक युगमेंभी इन चीजोंको धर्म माना जारहा है। भारतीय मनुष्यके उत्थानमें इन जातियोंने हर तरहकी बाधायें डाली हैं। यद्यपि मिश्र, चीन और जापानमेंभी प्राचीन कालमें जाति भेद था। पर इस देशकी तरह उनमें इतनी कट्टरता कभी नहीं थी और न इतनी शाखा प्रशाखायें थी। भारत वर्ष जैसी जाति भेदकी कट्टरता संसारके किसीभी देशमें नहीं मिलती। श्रुति स्मृतियोंके शासनने इस कट्टरताको समय समयपर प्राण दान दिया है। जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्योंने यद्यपि इसका घोर विरोध किया पर वरणाश्रम धर्मके शासनने इसको अधिक सफल नहीं होने दिया। बौद्धोंने इसमें जरूर सफलता पाई पर भारतवर्षके बाहर जाकरही।

आज देशको इस बातकी जरूरत है कि हम सब मिलकर इस जाति भेदकी प्रथाको मिटा डाले।

The Jaina Teachings and Ahimsā.

By Śri Matthew McKay, Brighton (Sussex).

[श्री मैथ्यू मैक्के सा० एक अंग्रेज विचारक और प्रवक्ता हैं। सत्यान्वेषणकी भावनासे प्रेरित हो उन्होंने विश्वका पर्यटन किया है। जैन ग्रन्थोंको स्वतः पढ़कर आप उनके श्रद्धालु हुये हैं। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने अपने दृष्टिकोणसे जैन सिद्धान्तका विश्लेषण किया है। वह लिखते हैं कि [illegible] सत्यको पाकर मुझे अमित आनन्द अनुभव हुआ, जिसे मैं सबको वितरण करनेके लिये लालायित हूं। वह बताते हैं कि जैनी तीर्थंकरोंकी तर्कसिद्ध वाणीको मानते हैं। जो तर्कविज्ञानसे सिद्ध न हो उस बातको वे स्वीकार नहीं करते। यह तीर्थंकर चौबीस थे, जिनका उल्लेख बाइबिलमें चौबीस श्रेष्ठ पुरुषों (Elders) के रूपमें मिलता है। अंतिम तीर्थंकर महावीरके शिष्योंमें [illegible] म० बुद्धको गिनते हैं। वस्तुतः बुद्ध पार्श्वपरम्पराके जैन मुनि थे। हिन्दू मतमेंभी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको सर्वज्ञ प्रभु कहा है। जैन मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है। वह अनंत और अनादिनिधन है। सुखका पुञ्ज है वह। अतएव एक जैनके लिये सांसारिक बातें उतने महत्वकी नहीं हैं, जितनी कि आध्यात्मिक। सांसारिक विभूति तो जैनके मार्गमें एक अर्गला है। जो धनसम्पत्तिके पीछे पागल बना है, वह अपनी आत्माका अहित करता है। वह अपने आन्तरिक प्रकाशको क्षीण बनाता है। सुख हमारे भीतर है—दुनियामें बाहर कहीं नहीं है। जैन धर्म सुगम व्यवहार्यभी है। वह निखिल सत्य जो है। सम्यक्चारित्रका अनुसरण जीवात्माको परमात्मा बनाता है। जैनी होनेका अर्थ है सज्जन पुरुष। वह अपने साथी लोगोंको भाई मानता है और आत्मोन्नतिके मार्गमें वह उनका सहायक होता है। मैक्के सा० इस भावनासे प्रेरित होकरही अपने देशवासियोंको धर्मतत्व बतानेके लिये भाषण देते और लेख लिखते हैं। मन, वचन, काय योग द्वारा आत्मा पर जो कर्म-पुद्गल आकर जमता है, वही अशान्तिका कारण है। सर्व बन्धका मूल यह है। आत्माका स्वभाव मुक्ति है। बन्धका नाश करके हरकोई मुक्ति पा सकता है। सम्यग्दृष्टि चारित्रधर्मका पालन [illegible] साधु होता है और तब कर्मोंका नाशकर परमात्मपद पाता है। मुख्य पाप हिंसा है—किसीभी प्राणीको कष्ट न देना प्रमुख कर्तव्य है—यह अहिंसा है। भोजन या शिकारके लिये क्रूर बन कर पशुओंकी हत्या नहीं करना चाहिये। गृहस्थ श्रावक सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है। [illegible] वह [illegible] सेवा धर्म [illegible] स्वतः पालता है। अपनी आन्तरिक मनोदशाका निरीक्षणभी वह करता रहता है, जिससे बुराइयोंसे उसका पीछा छूटे। प्रगटतः यह चर्या कठिन दिखती है, किन्तु मुमुक्षु इसमें रस लेता है—वह जानता है कि शरीर बंधनसे मुक्त होने परही सच्चा सुख उसे मिलेगा। अतः इच्छाओं और आकांक्षाओंको वह जीतता है। अपने आत्मस्वभावको वह पहिचानता जो है। तीर्थंकरका आदर्श उसके समक्ष रहता है। पाश्चात्य लोकको जैन चारित्रका महत्व समझनेकी आवश्यकता है। जैनी तीर्थंकरकी पूजा कुछ पानेकी लालसासे नहीं करते। तीर्थंकर स्वयं कृतकृत्य हैं। [illegible] उनके निमित्तसे अपने आत्मध्यानकी परिपुष्टि करता है। अष्ट प्रकारी पूजा त्याग वैराग्य भाव बढ़ानेके लिये है। जैन तीर्थंकरोंने जो सिद्धान्त बताये वे सचमुच लोकके लिये प्रकाशही है। उनका पठनपाठनही शान्तिदायक है। अहिंसा जैन चारित्रकी आधारशिला है। अनावश्यक क्षति प्राणियों की गृहस्थ कभी नहीं करता। पर आज वह पुण्यभाव कहां है? हम सब अपनी समस्याका हल

ढूंढ रहे हैं। किन्तु युद्धकी क्रूर भावनासे लदे हुये लोकमें वह हल कहां? दो महायुद्धोंके विनाशके उपरान्तभी लोकमें शान्ति नहीं है। बड़े बड़े वैज्ञानिक एटमबॉम्ब सदृश नाशकारी अस्त्रोंको ढूंढ रहे हैं। तीसरे युद्धके लिये तैयारीयां हो रही हैं। अतः मानना पड़ता है कि राजनीति इस भयंकर स्थितिको हल नहीं कर सकती। मतमतान्तरोंसेभी इसका समाधान नहीं हुआ। तो क्या इसका कोई इलाज नहीं? मैक्के सा० कहते हैं कि इसका इलाज अहिंसा है। जैन अहिंसामें मानवही नहीं पशुपक्षी सभी प्राणी आते हैं। शादीनेभी कहा है कि चींटीकोभी मत सताओ–उसकेभी जान है। जो मुमुक्षु परमात्मा होना चाहता है उसे अहिंसाका धर्म पालन करना होगा। पांच प्रकारके प्राणी इस लोकमें हैं। एक सच्चा जैनी उनमेंसे किसीकीभी हिंसा नहीं करता। स्वत्व और देश रक्षाके लिये हिंसा विशेष होती है–अहिंसक उसेभी कम कर देता है। आजकल भोजनके लिये अपार हिंसा होती है। मैक्के सा० कहते हैं कि मुझमें सामर्थ्य हो तो वधस्थानको लिये जाते सब पशु-मुक्त कर दूं। उनके दयनीय वधका करुण चित्रण हृदयवेधक है। भोजनके साथ शौकशिकारके लिएभी प्राणी वध प्रचलित है। इन सबमें हिंसा है। आज टीका लगानेके नाम परभी घोर हिंसा चल रही है। उसकी प्रतिक्रिया हो निकली है। विरोध सब प्रकारकी हिंसाका होना चाहिये। पशु मानवसे प्रेम करते हैं। मैक्के सा० ने अफ्रीकामें एक पशुकी रक्षा की तो वह उनका साथी होगया–उनको छोड़ कर वह जंगलमें नहीं गया। इस प्रकार सबके प्रतिप्रेम व्यवहार करनेसेही विश्वशान्ति हो सकती है। अहिंसा उसका उपाय है। का० प्र०]

In presenting my view of the Jain teachings I must say that it is with the greatest pleasure that I do so. So much joy has entered my soul that I feel I simply must tell of this Truth, that others too may experience the true value of this veritable elixir of life. The Jainas refuse to follow the teachings of anyone who is not an ideal of perfection.

And the Tirthankara is the most perfect of men, having by his own efforts attained to the purity of spiritual life, has become a god.

The Holy Tirthankaras were twenty four in number.

These are mentioned even in the English Bible. Here they are referred to (in Revelations) " as the four and twenty elders around the throne." There the matter ends so far as the English generally are concerned. But with the Jainas it is not so.

These Pure Ones are Realities in the records of the Jains, and can be traced by those who will devote the time and study to these beautiful teachings.

Their lives have been spent in the freeing of themselves of all the binding powers of the senses. Lord Mahāvira the last of the twenty–four Tirthankaras is said to have numbered Buddha amongst his disciples. In the scriptures of Hinduism Rishabha Deva, the first Tirthankara, is acknowledged to have attained omniscience.

It is fully maintained in the Jaina Teachings that all souls are naturally

They have placed the light on the Path of the devotee. His greatest joy is to be allowed to follow in the Path which they have trod. This is the ideal life It is the path of Peace In every religion of the world will be found these fundamentals of Truth Unfortunately many of the religions have been engulfed by man-made laws The unreal has been worshipped, and mankind has been led deeper and deeper into error

May it be that this little writing of mine will be read by some dear brother who has been in pursuit of Truth, who has been aware within his own soul that there is an ideal within himself--his own soul. May he be led to study the Jaina Teachings more fully. Then he will find of a surety that that which the Holy Ones have placed before us by their lives and teachings is the light of the World and the life which will give new zest to humanity Within his soul great peace will arise as he reads and lives these teachings "Knock and the Door will be opened unto you Seek and ye shall find."

AHIMSĀ

The Jaina layman, when he enters the path which leads to Perfection and Bliss, begins by avoiding the doing of unnecessary harm. We recall all the teachings of the past Where is goodness to day? About us we seek for a solution. But a woe-stricken world can give us no answer.

Even to-day, after two of the most terrible destruction caused by two wars, we cannot even find peace in the world. The cleverest of scientists are engrossed in their research for atomic weapons of destruction. We read shocking reports of the power of death-dealing weapons both atomic and bacterial for " the next war. "

Politics fail So-called religion has failed to give any remedy. Is there no remedy then? I answer Yes, and it is an emphatic ' yes ' that I do give.

Evil invariably begins and ends with mankind--by the individual It can be ended by those very means, the individual effort AHIṂSĀ--" Non Injury " is the main plank of the Jaina platform. When a devotee enters the path of the House-holder he vows that he will harm no living thing.

Not only mankind enters the scope of his vows. No. It includes all living things.

S'ādi of Shirāz rightly urges --

> " Do not injure the ant which is a carrier of grain;
> For it has life, and life is dear to all ! "

A man who longs for the joys and Perfection of the gods must prepare

श्री मथ्यू मैक्के. सा., ब्राइटन, इंग्लैन्ड।
(प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक और प्रवक्ता
जिन्होंने जैनधर्म धारण किया है)
Mr Matthew McKay,
Brighton (England)

श्री डॉ. विलियम हेनरी टॉल्बोट, फेयरहाम, इंगलेंड.
(प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक और डॉक्टर, जिन्होंने जैनधर्मको स्वीकार किया है।)
Dr William Henry Talbot, Fareham, (England)

himself for the practising of absolute ahimsā by a steady course of training. In the beginning he should consider the teachings of the Jainas with reference to the course which he should adopt Living beings fall under the following five classes :—

(1) One-sensed beings. These possess only the sense of touch. i e. Vegetables

(2) Two sensed beings. Those which possess taste added to touch Certain varieties of shell fish can be placed under this heading.

(3) Three-sensed beings. These enjoy the sense of smell in addition to touch and taste The ant comes under this classification.

(4) Four sensed beings who are endowed with all the senses, with the exception of that of hearing

(5) Five-sensed beings The true Jaina turns away from injuring all creatures

In defence of body, property and country much that is injurious to others is committed

That a lot of this injury could be avoided passes without comment

In killing for food we see even in these days horrible exhibitions of cruelty I have seen on many occasions cattle being brought to the slaughter. How I wished, I had the power at my command to set the doomed creatures free They were quite aware of their fate That point I would like to fully stress. The blood of the preceding victim was hardly cold before another unfortunate animal was goaded by cruel men, and harshly beaten in its last few moments of life. Fear could be seen in the eyes of the victim and in every movement of its body, quivering and apprehensive. But cattle must be killed it is said And so the poor animals are slaughtered day by day that meat may be placed on the tables of the diners. Butchers make a whole time profession of this cruel business, and their hired killers are ever at their beck and call to slaughter these un-offending creatures.

I write with shame of the horrible cruelties perpetrated in the name of sport. Sport to my mind runs in the way of bloodless games where the opposing men are of fairly equal match. Imagine the dying cries of a rabbit or a hare in the jaws of hounds, after being hunted and chased until it becomes literally exhausted. The hounds are usually kept in a half-starved condition in order that they will be more likely to follow the rabbit or hare to the death In the boxing ring too, one sees horrible scenes of bleeding men, glazed in the eyes staggering about to put in a finishing blow on their opponent And this mark is regarded as a gentleman's sport In horse racing too one sees much that is cruel I remember as a boy seeing a poor horse which had been entered in two hard races in one afternoon The poor beast won neither of these races, but had been forced on by its rider at a

pace which was much too severe. The horse finished the second race in a state of collapse, and was bleeding from its nostrils.

This form of treatment to animals is hailed as sport with no feeling of pity for the sufferer. In circuses too one sees very often, by the very aspects of the animals, that their lot is unhappy, and that in order to compel them to perform in public, much that to say the least is unkind goes on in the way of "training" and "taming" Of late I have been gladdened to see that in England there has been a great outcry against performing animals being caused to suffer so much It is to be hoped that in the near future these degrading exhibitions of cruelty will cease to exist. Quite recently I saw an advertisement in a newspaper which made me shudder. It was an appeal for rats and large fogs for the purpose of vivisection. One can only imagine the awful things that transpire behind the name of vivisection Of course it is claimed that these things are necessary, that the experiments made are for the benefit of mankind Here again I am glad to report on the excellent work done by various bodies of ladies and gentlemen for the abolition of these horrible atrocities.

They are a disgrace to the name of civilization and to the medical profession. A lot of cruelty takes place through sheer thoughtlessness On the other hand much of it is pre-meditated. It has been proved again and again that vivisection is quite unnecessary, and therefore the pain inflicted on the animals is needless The real Jaina will read of these horrors with great sorrow and concern. I do trust that this writing will meet the eyes of some. One who has not yet experienced what Jainism stands for and that the support of any of the cases I have enumerated could never have any support from anyone under the teachings of Jainism under any circumstance.

To partake in any way in any of these things would mean that the light of the soul had been dimmed almost to extinction. I have seen the natural love of the lower creatures. In Central Africa my companions were a gazelle, two turkeys, and two flamingos! A strange company indeed—but one, a true Jain will understand Many times I walked with the gazelle to the forest verge to allow this graceful creature to take to its native jungle. The creature (which I had rescued from some boys who were taking it to their village to be killed and eaten) invariably returned with me to my little shack.

"Live and let live" As a child my mother often spoke of this lovely adage. I have always been a lover of the lower animals. And the teachings of Ahimsā, as practised by myself excludes the ill-treatment of any creature Here I am all beings. Regard me as your friend.

Jaina Doctrines of the Last Arhat Mahāvīra.

By Śrī Herbert Warren, London S. W. II

[श्री हर्बर्ट वैरन सा० जैन धर्मके श्रद्धालु अभीम विद्वान् हैं। इस समय आप वृद्धावस्थाके कारण शिथिलगात हो रहे हैं; किन्तु आपका ज्ञान निर्मल है। सन् १९०० में आपको पहले पहल जैन सिद्धांतका परिचय हुआ। उसका अध्ययन करने पर उनको दृढ विश्वास होगया कि यह निश्चित सत्य है, जिसका अन्यत्र मिलना दुष्कर है। सात तत्वोंमेंही जैन सिद्धान्तका निचोड गर्भित है। तत्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मानव जन्म पाना दुर्लभ है। फिर सत्धर्म पाना कठिन है। सत्धर्मका परिचय पाकर उस पर श्रद्धा लाना औरभी दुर्लभ है। कदाचित् श्रद्धाभी हुई तो तद्रूप आचरण करना दुष्कर है। अतः धर्मका मर्म पाना उपादेय है। मर्म यही है कि हम शरीर न होकर आत्मा हैं। हमारा शरीर ज्ञाता-दृष्टा नहीं-हम ज्ञातादृष्टा हैं। बस, बोल चालमें यह नहीं कहना चाहिये कि "मैं मोटा हू" बल्कि "मेरा शरीर मोटा है" कहना ठीक है। 'समाधि शतक' (श्लोक १५) में कहा है कि बन्ध-दुखका कारण शरीरको आत्मा मानना है। अतएव याद रखनेकी चीज यह है कि मानव जीव और पुद्गल रूप है। सुखी और स्वाधीन होनेके लिये हमें पुद्गलका ससर्ग-शरीरका बधन समाप्त करना है। इसे चाहे धीरे २ कीजिये और चाहे एकदम। कषायोंको जीत करही हम यह कर सकते है। दयाही धर्मका आधार है। अतः जीवमात्रके प्रति दयाका व्यवहार करना उचित है। सक्षेपमें वैरन सा० ने जैन सिद्धातकी मूल बातोंको ठीकही बताया है। भेदविज्ञान सारभूत है। का० प्र०]

My first acquaintance with the Jaina doctrines was in the spring of 1900 when, here in London, the late, regretted Virchand R Gandhi gave a series of twelve lectures on mental concentration (*dhyāna*) for the purpose of removing our *karmas* so as to develop our latent knowledge and improve our conduct. This series was followed by a series of talks on *karma* and a few (five) out of what were to have been about thirty five talks on the Jain metaphysics These two series were never completed as Mr. Gandhi became ill, and had to return to India where he died in, I think about the August of 1901

In my opinion these Jain doctrines about life and the universe are the plain truth which, as far as I know, is nowhere else to be found. I consider them to be of inestimable value, without them I should not know what to believe

What I appreciate most are the doctrine of non-injury, the vows (vratas), the right attitude towards life and the universe (samyaktva). The strict-verity point of view (nishchaya naya) and the "Syādvāda".

The whole doctrines are concisely contained within the seven "tattvas": belief in which is regarded as right belief (samyag darshana). Incidentally the well known four difficulties may be mentioned; viz, it is difficult to get the human birth, having got the human birth, it is difficult to come across

true spiritual teachings, having come across them it is difficult to believe them, and they are difficult to practise.

One important part of the teaching is that we are not our body; we are not a body having a soul, we are a soul having a body. We are knowers, our body is not a knower. We should not say "I am thin", "I am fat" we should say "My body is thin, "My body is fat". In a little book called Samādhi Shataka verse 15 there is this. "The cause of the misery of embodiment lies in self-identification with the body" And again, verse 69: "Atoms come into and go out of this composite mass called the body and occupy the same space as the soul. Yet the ignorant imagine these atoms to be the self, through false identification of the body with the immortal self" As I understand it, we, humans, are a subtle combination of soul and matter, and all we have to do in order to reach a satisfactory condition in which there is no pain or misery but everlasting blissfulness, is to separate the soul and matter. This can be done slowly or quickly. The rules for doing it are of two kinds, those for beginners, comparatively easy, and those for the more spiritually advanced more difficult

As I understand the doctrines, I am he who is conscious and sentient; my body of flesh and blood, is neither conscious nor sentient.

We develope our real nature by controlling and eventually removing the passions (kashāyas) especially anger, pride, deceitfulness and greed. This is done gradually through stages of development (gunasthānas)

All the rules of conduct are based on love (dayā). Love consists in doing a kindness without any expectation of return, rejoicing at the prosperity of another person, and not being envious, sympathizing with those in distress and where possible helping to relieve it, and with regard to criminals love would consist in an attitude of pity for the future misery which they are generating for themselves. These rules are not commands. The Jain deity issues no commands. These rules are an aspect. The mode of behaviour, of the man who practises them.

With regard to causation, in every event there are two causes, namely, the substantial, and the instrumental (upādāna and nimitta) For instance, when the sun melts the snow on the mountain the snow is the suubstanial cause, and the sun is the instrumental cause of the event.

As the book for which this contribution is intended will undoubtedly be circulated among the Jains, who are already well acquainted with the doctrines I need make no further reference to them, and those to which I have referred have been given by me to show my understanding and appreciation of them

As I have already said, the truth about life and the universe is nowhere else to be found.

Essence of Jainism.

BY DR. B. C. LAW, Ph. D, D. Litt, M A., B. L.

[प्रस्तुत लेखमें श्री डॉ. विमला चरण लाहाने जैनधर्मका सार सुन्दर शब्दोंमें उपस्थित किया है। वह लिखते हैं कि ज्ञातृ क्षत्रियोंने भारत वर्षको एक महान् सुधारक भगवान महावीर प्रदान किए। वह जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके धर्मको माननेवाले आज लाखों भारतवासी हैं। जैन धर्म बौद्ध धर्मसे प्राचीन हैं। व्यवहारमें यह जीवात्माको परिभ्रमणसे संसार मुक्त करनेका ध्येय रखता है। जैन दृष्टिसे सब पदार्थ मुख्यतः जीव और अजीव रूप हैं। जैनधर्मका साधुजीवन कठिन है। उसमें न केवल शरीरपर नियंत्रण, शील, ब्रह्मचर्य, मद्यमांस, मधु का निषेधही गर्भित है, बल्कि मानसिक विशुद्धिभी आवश्यक है, जिसमें विचारकी पवित्रता रखनी होती है तथा ध्यान, प्रायश्चित्त और प्रतिक्रमण करने होते हैं। जैन जीवनमें अहिंसा सिद्धान्त प्रमुख है। अहिंसाका प्रभाव पशुओं तक पर होता है। दूसरेके विषैले दुरभावोंको जीतनेके लिए यह अमोघ अस्त्र है। भारतमें अहिंसा प्रधान धर्म माना गया है। जैन धर्ममें अहिंसाकी अपूर्व विवेचना मिलती है। जीवनका अन्तिम ध्येय निर्वाण है। निर्वाणमें सुख शान्ति है। उसमें आकांक्षाकी भावना नहीं सताती। वह शाश्वत और अपूर्व है। पीडाका वहां अन्त है। मानव एकान्त ध्यानकी चरम सीमाको पहुँचकर उसे पाता है। मन वचन कायकी योग क्रियापर नियमन रखना आवश्यक है। कर्म, प्रकृति, प्रदेश आदिरूप है। वह एक सूक्ष्म पुद्गल है जो आत्मासे बंध जाता है। वह कर्म ज्ञानावर्णीय आदि आठ प्रकारके होते हैं। सभी कर्म पाप और पुन्य रूप होकर जीव आत्माको जन्म मरणके चक्रमें जकड़े रखते हैं। अतएव कर्मका नाश करनेसेही हम सुखी हो सकते हैं जिन कर्मोंसे साता और सुख बंध होवे पुन्य कहलाते हैं। वे कई तरहके हैं और पापभी कई तरहका है। किन्तु सबसे बड़ा पाप जीवहिंसा है। असत्य, मायाचारी, क्रोध, मान, लोभ, कुशील और रागद्वेषसे पापका बंध होता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र आवश्यक हैं। यह रत्नत्रय धर्म कहलाता है। इनकी विचारणा तीन प्रकारसे होती है अर्थात् विषय, साधक, और साधनरूपमें। सम्यक्दर्शन दोनोंकी आधार शिला है। इनके साथ तपश्चरणभी निर्वाण पानेके लिए आवश्यक है। सम्यक् दर्शन होनेपर मनुष्यमें, प्रशम, सम्वेग आस्तिक और अनुकम्पा भावना प्रकट होती हैं। बौद्धोनेभी श्रद्धाका कुछ ऐसाही रूप माना है। वे उसे सम्मादिट्ठि कहते है। रत्नत्रय धर्मही मोक्ष मार्ग है। जैन धर्म स्याद्वादभी कहलाता है क्योंकि इसमें सत्यका निरूपण सात नयों द्वारा किया गया है। एकान्त भ्रान्तिसे बचनेके लिए [illegible] सिद्धान्त अपूर्व हैं। क्रिया वाद कर्म वादही हैं, जो अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवादसे भिन्न है। बौद्धोंका सीलब्बत परामास विनय वाद हैं। जीवनकी दु:खमय दशा जीवकी अपनी करनीकाही फल हैं। सुखदुख जीव स्वय अपनी करणीसे पाता है। वह अकेलाही जन्मता और मरता है और अकेलाही उन्नति या अवनतिको पाता है। लोकमें जीव और अजीव, तत्व हैं। अजीव, धर्म, अधर्म आकाश, काल, पुद्गल, रूप है। प्रत्येक संसारी जीवके दो सूक्ष्म शरीर अर्थात तैजस और कार्माण शरीर हमेशासे साथ रहते हैं। तीसरा शरीर कभी औदारिक और कभी वैक्रिय [illegible] धारण करता है। कर्मबंधसेही संसारी जीव जन्म मरणके दुख उठाता है। अज्ञान और मिथ्या कर्म बंधके कारण हैं। जीव चेतनामय है, किन्तु शरीरबंधनके कारण वह संसारके अनेक कार्य करता है। उसे हिंसा

झूठ चोरी कुशील और मद्य पानसे दूर रहना चाहिए। एक सम्यक्दृष्टि सत्यकोही जानता है। साधुको सब बंधनों और द्वेषसे बिल्कुल भिन्न रहना चाहिए। वे ही संसारसे पार होते हैं। पीड़ाकारक कर्म अर्थात दंड तीन प्रकार के होते है। मनदंड, वचन दंड, कायदंड। ऐश्वर्य, रसना और वासनाके मदोन्मत्त कार्यको गारव कहते हैं। मोहजनित कार्य माया निदान और मिथ्या दर्शन हैं। पांच समितियों और पांच गुप्तियोंसे आत्म संयम सधता है। सप्त भयोंसे सम्यक दृष्टि नहीं डरता है। उसे जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदिका घमंड नहीं होता है। इस तरह सम्यक ज्ञानको उपार्जन कर रागद्वेष जीतनेसे निर्वाणका परम सुख मिलता है। कर्मके प्रभावसे जीवमें जो अवस्था विशेष कषायाधीन उत्पन्न होती है उसे लेश्या कहते हैं। लेश्याएँ, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल इस तरह छै प्रकारकी हैं। साधु चरित्रभी कई प्रकारका है। वह दृढतासे पाला जाता है। साधु न स्त्री-प्रसंग करता है, न बुरेकी संगतिमें रहता है। वह पुन्यपापके झंझटोंमें नहीं पड़ता। वह न तो साधुपनेका घमंड करता है और न उसे धन कमानेका साधन बनाता है। साधु, क्रोध, मान, माया, और लोभसे परे रहता है। वह शान्त और सुखी होता है। वह हिंसा और पाप महापापोंसे दूर रहता है।

जैनधर्म नास्तिकवाद नहीं है। वह एक विज्ञान सम्मित दर्शन है। पंचव्रतोंका पालन करके सुख पाया जा सकता है। जैन धर्मके अपने निराले लक्षण हैं। और इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान वैदिक धर्म और बौद्ध धर्मके मध्यमें है। वेदान्त और सांख्यके विपरीत वह जीवको एक सक्रिय तत्व मानता है। जैन धर्म सिद्धान्त पौद्गलिक हैं जब कि बौद्धोंमें वह मानसिक चारित्र नियमही हैं। जैन धर्म जीवके आवागमनसे संसार परिभ्रमण मानता है। बौद्ध इसे नहीं मानते। जैनकी तरह योग सिद्धान्तभी जीव द्रव्यको अपरिवर्तन शील मानता है। सांख्यकी तरह जैन जीव पुद्गलके द्वैत भावको मानता है। वह वैशेषिक दर्शनके विरुद्ध है। जैन दृष्टिसे सुखकर मार्ग त्याग, संयम, और तपस्यामें गर्भित है। '—सं०]

The Ksatriyas of the Jñātri clan gave India one of its greatest religious reformers, Mahāvīra, who was the last *Tīrthaṃkara* of the Jainas. On renouncing the world he adopted the life of an ascetic of the Nirgrantha order, of which he soon became a reformer and chief himself.[1] It was he who brought the Jñātri Ksatriyas into intimate touch with the neighbouring communities of Eastern India and developed a religion which is still professed by millions of Indians

Jainism is older than Buddhism. In practice it aims at the goal of liberation from the transmigration of the soul All substances are broadly divided into lifeless things and souls of lives (*jīva*) Monastic discipline is severe in Jainism and is not confined to bodily restraints, chastity, abstinence from alcohol, flesh, honey and roots, but includes mental discipline, purity of thought, contemplation, confession and repentance

The principle of *ahimsā* or non-harming is the first principle of higher life in Jainism. Its visible effect was sought to be shown how even such

1 Uvāsagadasāo, II, p 6

brute creation as the beasts and birds, reptiles and fishes, happily responded to the non-harming and compassionate attitude of human beings. This principle is taken to be a powerful weapon for conquering the vicious propensity in others. It was universally recognised in India as the first fundamental principle of *Dharma*. In Jainism the concept of *ahimsā* has been most elaborately analysed and acted upon

The distant end or ultimate object of Jainism is *Nirvāṇa* which consists in peace.[2] Nirvāṇa is *mokṣa* or liberation, *mukti* or deliverance. It is the blissful and peaceful element It is the refuge which is free from the passion of craving It is the salvation which is eternal, unassailable and noble It means the cessation of suffering Liberation can only be realised by man in the highest condition of aloofness and transcendentality of himself[3] It has been explained as a safe place where there is no old age, nor death, nor pain, nor disease but it is difficult of approach[4] It is freedom from pain, it is the safe, happy and quiet place which the great sages reach. It is the eternal place according to the *Uttarādhyāyana Sūtra*.[5] One should practise self-restraint with regard to the body, speech or mind This is what is called *Samvara* which is just the other aspect of *dukkharakārikā* or tapas (austerities). *Cātuyāma-samvara* means four moral precepts as interpreted by the Buddha.[6] It is nothing but the Pali equivalent of prakrit *cāujjāma* denoting four vows

Karma may be divided according to its nature, duration, essence and content It is intimately bound up with the soul There are eight kinds of *karma* The first kind hides knowledge from us (*jñānāvaranīya*), the second kind prevents us from beholding the true faith (*darśanāvaranīya*), the third kind causes us to experience either the sweetness of happiness or the bitterness of misery (*vedanīya*), the fourth kind bemuses all the human faculties (*mohanīya*), the fifth kind determines the length of time which a *jīva* must spend in the form with which his karma has endowed him (*āyu*), the sixth *karma* (nāma) decides which of the four states, or conditions shall be our particular *gati* (abode of life), the seventh *karma* is *gotra karma* which determines a man's life, his occupation, the locality in which he may live, his marriage, his religious observances and even his food[7] The last and the eighth kind is the *antarāya karma* which always stands as an obstacle. It prevents a person from entering the path leading to eternal bliss.[8]

---

2 *Sūtrakṛtāṅga*, I, 11 11 3. *Sūtrakṛtāṅga*, I, 10 12

4 Cf Aśvaghosa's *Saundaranandakāvya-yasminnajātir najarā na mṛtyur na vyādhayo kṣemam padam naiṣṭhikamacyutam tat* V. 27

5 XXIII, 81-84 6 *Dīgha*, III, 48-51

7 S Stevenson, *The Heart of Jainism*, p 182

8 *Uttarādhyāyana*, XXXIII, 1-3.

Karma consists of acts, intentional and unintentional, that produce effects on the nature of soul. Soul is susceptible to the influences of *karma*. The categories of merit (*punya*) and demerit (*pāpa*) comprehend all acts which keep the soul bound to the circle of births and deaths. Birth is nothing caste is nothing and *karma* is everything and on the destruction of *karma* the future happiness depends. Jainism as a practical religion, teaches us to purge ourselves of impurities arising from *karma* From the undoing of the effects of old *karma* by means of penances and the non-doing of such acts as are likely to produce a new karmic effect, there follows the non-gliding of the self in the course of *saṃsāra* in future The sequel of this is the destruction of *karma*, the sequel of that is the destruction of the painful physical and mental conditions of the self.

The actions leading to the good *karma* which brings peace of mind are called *punya*. *Punya* is of various kinds: *annapunya* (merit acquired by giving food to the deserving people), *pānapuṇya* (merit acquired by giving water to the thirsty), *vastrapuṇya* (merit acquired by giving clothes to the poor, especially to the monks), *layanapunya* (merit acquired by building or lending a house to a monk), *sayana-punya* (merit acquired by providing seats and beds), *manapunya* (merit acquired by thinking good of everyone), *kāyapunya* (merit acquired by saving a life or rendering service), *vacanapunya* (merit acquired by speaking without hurting anybody's feelings) and *namaskārapunya* (merit acquired by reverent salutations) There are various kinds of *pāpa* or sin *Jīvahiṃsā* (life-slaughter) is the most heinous of all the crimes according to Jains. Sins are also acquired by speaking falsehood, dishonesty, unchastity, covetousness, anger, conceit, attachment and avarice

The three essential things of Jainism are *jñāna*, or sphere of knowledge and intuition, *darśana* or sphere of faith and devotion, and *cāritra* or sphere of conduct and behaviour.[9] They are known as three jewels in Jainism, a phrase which is quite familiar to Buddhism Each of them can be considered in its three-fold aspect, e. g the subject, the object and the means. In right belief there is the believer, that, which is believed, and the means of believing In right knowledge there is the knower, the known and the means of knowing. In right conduct there is the pursuer of conduct, conduct itself and reasons of conducting. The right belief is the basis upon which the other two rest It is the cause and the right knowledge is the effect. Right conduct is caused by right knowledge and implies both right knowledge and right belief This is the view of Umāsvāti as found in his Tattvārthādhigama Sūtra

Faith knowledge, and conduct (*darśana*, *jñāna*, and *cāritra*) are the three

9 *Sūtrakṛtāṅga*, I, 6 14

terms that signify the comprehensiveness of Jainism The Uttarādhyayana adds austerities as the fourth to the earlier list of the three terms. Knowledge is characterised as right knowledge, faith as right faith, and conduct as right conduct. These three constitute the path to Nirvāṇa or liberation or perfect beatitude.

There are five kinds of knowledge according to the Jains —(1) *Śruta* or that which is derived from the study of sacred books, (2) *Ābhinibodhika* or that which is derived from one's experience, thought or understanding, (3) *Avadhi* or that which is co-extensive with the object, (4) *Manaḥ-paryāya-jñāna* or knowledge of the thoughts of others and (5) *Kevala* or the highest knowledge The Manaḥparyāyajñāna is defined in the Ācārāṅga-sūtra as a knowledge of the thoughts of all sentient beings (II.15.23) The *Kevala-Jñāna* means omniscience enabling a person to comprehend all objects [10]

The five kinds of conduct are (1) Equanimity, (2) recovery of equanimity after a downfall, (3) pure and absolute non-injury, (4) all but entire freedom from passion and (5) ideal and passionless state Right conduct is based on five vows of an ascetic which are as follows (1) not to kill, (2) not to speak falsehood, (3) not to steal, (4) to observe chastity, (5) to renounce all pleasure in external objects

The right belief is the belief or conviction in things ascertained as they are (*cf. Uttarādhyayana sūtra*, xxviii 28. 29) It is of two kinds (1) belief with attachment having the following signs calmness (*praśama*), fear of mundane existence in five cycles of wanderings (*samvega*), substance (*davva*) place (*khetta*), time (*kāla*), thought activity (bhāva) and compassion towards all living beings (*anukampā*), and (2) belief without attachment (the purity of the soul itself) The Buddhist idea of faith is the same Sammāditthi suggests an article of faith which consists in the acceptance of the belief that there is such as thing as gift etc (*Majjhima*, I, 285 ff), Right belief, right knowledge, right conduct, and right austerities, are called the *ārādhanās*

Right knowledge, faith and conduct are the three essential points in Mahāvīra's teachings which constitute the path leading to the destruction of *karma* and to perfection [11] Destruction means the exhaustion of accumulated effects of action in the past Perfection (*siddhi*) consists in the consciousness of one's liberation, and liberation means the freedom of soul from its bondage.

The main system of Jainism came to be represented as *navatattva* or the

10 · *Ācārāṅga-Sūtra*, II, 15 23

11. *Sūtrakṛtāṅga*, I, 2 1 21 22

doctrine of nine terms, e. g., *jīva, ajīva, bandha, puṇya, pāpa, āsrava, saṃvara, karmakṣaya* and *mokṣa* [12] The doctrine of *nayas* is just what is called *syādvāda*. The *nayas* are no other than the seven modes of *syādvāda*. Syādvāda consists of seven view-points from which assertions are made as to truth According to this doctrine there are seven forms of metaphysical propositions and all contain the word *syāt*, e g, *syād asti sarvam*, *syād nāsti sarvam*. Syāt really means 'may be' and it is explained as *kathamcit* (somehow) [13] The *syād* mode was the real way of escape from the position of the dogmatist and that of the sceptic from both of which Mahāvīra recoiled.

Kriyāvāda is nothing but Karmavāda or the doctrine of action [14] Buddhism also was promulgated as a form of *kriyāvāda* or *karmavāda* In Jainism *kriyāvāda* is sharply distinguished from *akriyāvāda* (doctrine of non-action), *ajñānavāda* (scepticism) and *vinayavāda* (formalism) In order to arrive at a correct understanding of the doctrinal significance of *kriyāvāda* in Jainism it is necessary not only to see how it has been distinguished from *akriyāvāda*, *ajñānavāda* and *vinayavāda* but also from other types of *kriyāvāda* *Vinayavāda* is the same as *sīlabbataparāmāsa* of the Buddhists It is a view of those who maintain that the purity of oneself may be reached through the observance of certain moral precepts or by keeping certain vows as prescribed. The upholders of *Vinayavāda* assert that the goal of religious life is realised by conformation to the rules of discipline [15] The painful condition of the self is brought about by one's own action Pleasure and pain are brought about by one's own action [16] Individually a man is born, individually he dies, individually he falls from this state of existence and individually he rises His passions, consciousness, intellect, perceptions and impressions belong to the individual exclusively [17] All living beings owe their present form of existence to their own *karma*. The sinners cannot annihilate works by new works, the pious annihilate their works by abstention from works [18] Pleasant things are not produced from pleasant things

Jīva and *ajīva* comprehend the world of existence as known and experienced. The category of *jīva* denotes the biological and psychological aspects of *kriyā*. Substance (*dabba*) attribute (*guna*) field of action (*khetta*), time (*kāla*), causal relation (*paryāya*, Pali *paccaya*; Prakrit *pajjava*), division (*padesa*) and transformation (*pariṇāma*) are the cate-

12. *Uttarādhyayana Sūtra*, XXVIII, 14
13. Hastings, *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol 7, p 468
14. *Sūtrakṛtāṅga*, I, 12 21. 15. *Ibid*, I, 12 4
16 *Anguttara Nikāya*, III, p 440. 17 *Sūtrakṛtāṅga*, II, 1 41.
18. *Ibid*, 1, 12.15

gories which should be taken into account in relation to each of the five demonstrable facts (pañcāstikāya): *dhamma*, *adhamma*, *āgāsa*, *jīva* and *puggala* (matter or the material).[19] Every jīva has two bodies, *kārmana* and *taijasa* and also a third which may be *audārika* or *vaikreya*. The category of *ajīva* helps us in completing our study of the world of life and of existence.[20] The third category is *bandha* or bondage of soul. Bondage is the subjection of soul to the laws of birth and death, old age and decay, pleasure and pain and other vicissitudes of life brought about by the effect of *karma* The causes of bondage are the following (1) wrong belief, (2) perverse belief, (3) doubt, scepticism; (4) veneration, (5) wrong belief caused by ignorance and (6) inborn error. The soul which is the fifth of the five *āstikāyas* represents the principle of intelligence. The characteristic of soul is knowledge, faith, conduct, austerities, energy and realisation of its developments. The soul in combination with the body is the doer of all actions. One should abstain from killing being, theft, falsehood, sensual pleasures, and spirituous liquor. A person will suffer the consequences of whatever may preponderate as between an act and forbearance from it. The pious obtains purity and the pure stands firmly in the law. A person of pure faith always realises the truth A monk should cast aside all fetters and all hatred. Pious ascetics get over the impassable *samsāra*, which is the gliding of the individuals in the cycle of repeated births and deaths, led by craving, which is rooted in ignorance. As long as this gliding continues, calamities of many kinds, old age, and the rest are produced.

Hurtful acts (*daṇḍa*) are three-fold as referring to thoughts, words, and acts. Conceited acts (*gārava*) are pride of riches of taste and of pleasure or fashion Delusive acts are *māyā*, *nidāna*, and false-belief (*mithyādarśana*). A monk who well bears calamities will not be subject to transmigration. He who always avoids the four different kinds of praises, passions, expressions of the emotions, and of the four meditations, will not be subject to transmigration. He who always exerts himself with regard to the five vows, the five objects of sense, the five *samitis* and the five actions, will not be subject to transmigration The five *samitis* and five *guptis* constitute eight means of self-control The *samitis* are as follows:—(1) going by paths, trodden by men, beasts, etc. and looking carefully as not to cause injury, (2) gentle, sweet and righteous speech, (3) receiving alms in a manner to avoid forty-six faults, (4) receiving and keeping things-necessary for religious exercises and (5) performing the operation of nature in an unfrequented-place. The three *guptis* are the following:—(1) preventing mind from sensual pleasures by engaging it in contemplation, (2) preventing tongue from saying bad things by a vow of silence; and (3) putting body in an immovable posture He who always exerts himself with regard to the six

19. *Samavāyāṅga*, 15, 193, 199
20. *Uttarādhyayana*, XXXVI

leśyās,[21] the six kinds of bodies and the six regular functions as eating, will not be subject to transmigration He who always exerts himself with regard to the seven rules of accepting alms and the seven causes of danger to others, will not be subject to transmigration He who always exerts himself with regard to the eight objects of pride and the ten-fold law of the monks, will not be subject to transmigration The eight objects of pride are, caste, family beauty, etc [22]

By teaching of true knowledge by the avoidance of ignorance and delusion, and by the destruction of love and hatred one arrives at deliverance which is nothing but bliss

The *leśyās* are named in the following order black, blue, grey, red, yellow and white They are different conditions produced in the soul by the influence of different *karma* The Buddhist idea of mental contamination by the influx of impurities from outside seems to have some bearing on the Jain doctrine of six *leśyās*

(J R A S., xiii, no I p 8).(B C Law, *Principles of Jainism*)

The correct behaviour of monks consists in the following —*āvaśyikā*—it is required when a monk leaves the room on an urgent business; *naisedhikī* or asking permission to enter a place, *āpricchanā* or asking the superior's permission for what he is to do himself, *pratipricchanā* or asking permission for what somebody else is to do, *chandanā* or placing at the disposal of other monks the things one has got, *icchākāra* or carrying out one's own intention; *mithyākāra* or blaming oneself for sins committed, *tathākāra* or assenting to make a promise *abhyutthāna* or rising up from one's own seat as a mark of respect, and *upasampad* or placing oneself under another teacher [23]

A worthy Jain monk is to observe rules strictly like a Buddhist monk. He should have no intercourse with women He should never keep company with the wicked. He should not say that this is meritorious and this is not meritorious He should not cherish vanity and make his monkhood a means of sustenance He should be free from anger, pride, deceit and greed. He should be calm and happy. He should abstain himself from life-slaughter and from five cardinal sins. He should guard himself with regard to thoughts, words and acts. These are some of the rules but there are many more.[24] The Jain rules of conduct and decorum, agreeing in their

21. Lesya is said to be that by means of which the soul is tinted with merit and demerit. It arises from *yoga* or *kaṣāya*.

22 Cf. *Sūtrakṛtāṅga*, II 2.17.

23 *Uttarādhyāyana*, XXVI

24. For details, vide *JRAS*, Vol XIII, No. 1, pp. 13 ff.

essential features with the Buddhist rules, were broadbased upon careful considerations and keen observations[25]

Jainism is not atheistic Its so-called atheism is neither apologetic nor polemical but is accepted as a natural religious attitude[26] The path to the realm of highest bliss lies through abstinence from killing, theft, adultery, lying and such austere penances as nudity, confession. etc[27] These five modes of self-restraint correspond to the five great vows of Mahāvira (*pancamahāvrataya*) as rightly pointed out by Dr Barua.[28] Jainism has many distinctive characteristics of its own and historically it occupies a place midway between Brahmanism and Buddhism. It cherishes a theory of soul as an active principle in contradistinction to the *Vedanta* or *Śamkhya* doctrine of soul as a passive principle The Jain notion of *karma* is physical while the Buddhist idea of the same is psycho-ethical. In Jainism rebirth takes place by way of transmigration of soul. Buddhism rejects the theory of transmigration In Jainism soul is vitally interested in our action. As a substance it does not undergo any change Yoga practice is equally important. In Jainism as in Buddhism the bodily functions cease in the process of *Yoga* after the vocal and the mental after the physical. Like the Sāmkhya doctrine Jainism stands for a dualistic conception of soul and matter and it differs from Vedānta in this respect The Jain dualism may be explained as a pluralistic doctrine like the realism of the Vaiśesika system Jainism maintains a hylozoistic notion of nature in which all compound things are different forms of life in varying stages of evolution. The Jain motto of life is ascetic or stoic. The path to happiness and progress lies through self-denial, self abnegation and self-mortification.

---

25 Vide B C Law, *Buddhist rules of decorum published in the R. K. Mukherjee Volume*, I, pp 381 ff

26. Eliot, *Hinduism and Buddhism*, p. 107

27 Cf. *Samyutta Nikāya*, I, 66

28 *Pre-Buddhistic Indian philosophy*, p 379

'The Jain View of Ahimsā'.

By Syt Harisatya Bhattacharya, M A, B. L., Ph D.

[श्री हरिसत्य भट्टाचार्यजीने प्रस्तुत लेखमें जैन दृष्टिसे अहिंसाका विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि कषायपूर्वक द्रव्य या भाव प्राणोंका व्यपरोपण करना हिंसा है। कषायही कार्यको हिंसामय अथवा अहिंसामय बनानेमें कारणभूत है। कषाय वासनामय उत्तेजन है (जो आत्म-स्वभावको ढकती है) वह मान, माया, लोभ, क्रोधरूप है। यहभी प्रत्येक तीव्रतम, तीव्र, मन्द, मन्दतम है जो क्रमशः अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान और संज्वलन कहलाते हैं। कषायके अतिरिक्त नोकषायभी-वासनामय-उत्तेजनायेंभी हिंसामें कारणभूत हैं। वे राग, द्वेष, मोह, काम, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमाद-कुल नौ है। सोलह प्रकारके कषाय और नौ नोकषाय, इस प्रकार कुल २५ वासना वर्द्धक उत्तेजनायें है। इनमेंसे किसीभी वासना उत्तेजनाके वशवर्ती होकरही मानव हिंसा कर्म करता है। इनके आधारसे हिंसा-अहिंसाको विविध भावभङ्गिया जैनोंने निर्धारित की हैं। ऐसे कर्मभी हो सकते है जिनमें द्रव्य हिंसा न होते हुएभी हिंसाका दोष व्यक्तिको लग सकता है और ऐसेभी कर्म हैं जिनमें हिंसा हो जानेपरभी व्यक्तिको उसका दोषी नहीं कहा जा सकता। भावोंपरही हिंसा और अहिंसा का होना अवलंबित है। कषाय यदि विद्यमान है तो वह कर्म हिंसामय है। कषायका अभाव अहिंसामय है। इस वैज्ञानिक विधिविधानसे जैन अहिंसा सिद्धातकी भाव-भंगियोंकी तुलना दंड विधानके अपराधोंसे की जाना सुगम है। बुरे उद्देशसे जोभी कार्य किये जाते हैं और जिनसे दूसरे को क्षति पहुचे तो दंड विधानमें वह अपराध गिना जायगा और नैतिक धर्म की दृष्टिमें वह पापाचार होगा। किंतु दुर्भाग्यसे संकल्पपूर्वक जो कार्य नहीं किया गया, बल्कि जो आकस्मिक है वह न अपराध है और न पाप! एक रोगी उस दवाके देनेपरभी मर जाता है जिसको डॉक्टरने सावधानीसे उसके लिये हितकर जानकर दी, तो डॉक्टर उसके मृत्युका अपराधी या पापी नहीं कहा जा सकता। यदि प्रमाद नोकषाय होती तो डाक्टरको दोषी कह सकते थे। किन्तु कानून और नैतिक धर्माचारमें अन्तर है। चारित्र धर्ममें तो कषायका सद्भावही पापमय है, परंतु कानूनमें वह कोई अपराध नहीं। जैनोंकी अविरति (अविरमण) हिंसाके लिये दंड विधानमें कोई स्थान नहीं है बल्कि परिणमन हिंसा, जिसमें द्रव्यहिंसा अवश्यम्भावी है, को ही दंडविधान स्वीकार करता है। जैन दृष्टिसे भावके आधारपर व्यक्तिके कर्मको शुभाशुभमें परिणमित किया जा सकता है। हेमलेट नाटकमें हत्याके प्रसंगमें हत्यारा कहता है [illegible] जब उसका विपक्षी भगवानका भजन करता होगा, तब वह उसका प्राणान्त करेगा जिससे उसे स्वर्गसुख मिले! स्वर्गसुख दिलानेकी बात हत्याके दोषको मिटा नहीं सकती। जैन मान्यताके अनुसार व्यक्तिके स्वकर्मही उसे नर्क-स्वर्गमें पहुंचाते हैं। भगवद्भजनके समयमें मारनेसे व्यक्ति हत्याके दोषसे मुक्त नहीं हो सकता। म० गांधीने दुखी बछडेको करुणासे प्रेरित हो प्राणान्त कर देना विधेय ठहराया, परन्तु जैनदृष्टिसे तो वह हिंसाकर्म था। जीवको सुखी-दुखी कोईभी बाहरी वस्तु नहीं बनाती। जीवके संचित कर्म उसे सुखी-दुखी बनाते हैं। बछडेको मार देनेसेही वह सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि जबतक उसके असाता कर्म उदयमें है तबतक कोईभी उसे सुखी नहीं बना सकता। जैन पशुयज्ञ हिंसाकेभी विरोधी हैं और भोजनके लिएभी हिंसाका निषेध करते हैं। जैन मुनिही अहिंसाका पूर्णांशोंमें पालन करते हैं। गृहस्थ जन उसको आंशिक (अणुव्रत) रूपमें पालते है। —का० प्र०]

'Ahimsā' is opposed to 'Himsā'. Himsā or violence is wounding in either of its two forms, through 'Kasāya'. This definition of 'H' requires careful analysis and a correct understanding of its nature is essential to the true conception of 'Ahimsā' or non-violence. 'Prāna' or life, according to the Jainas, is either the 'Bhāva-Prāna', i. e., the inner and the subjective self consisting in the conscious state in its utmost purity or the 'Dravya Prāna' i. e., the outer and the objective modes and organs through which the inner self expresses itself. 'Himsā' or violence is committed when the inner self of a being or the outward vehicle of the expression e. g. the body is in any way hurt. It is to be observed that in order that 'Himsā' may be committed, the wound in the inner self or in its outward vehicle, the body, must be committed through 'Kasāya.'

What is 'Kasāya'? 'Kasāya' consists in a passionate excitation and is of four modes viz, 'Māna' (Pride), 'Krodha' (Rage), Māyā (Deceitfulness) and 'Lobha' (Avarice) Each of these passions may be of four degree of strength and duration The first and the most ineradicable form of a passion is called the Anantānubandhī In this form a passion is as permanent as a line cut on a stone Less strong is a passion in its Pratyakhyāna form, in which it is likened to a line on earth The third form of a passion on the descending scale of duration is the 'Apratyākhyāna' in which it is removable like a line drawn on dust. The fourth state of a passion is called the Samjvalana, in which it is only a passing phase of the mind, as evanascent as a line made on water.

Besides the four Kasāyas mentioned above, there are other modes of excitation which are called the No-Kasāyas and are nine in number These are (1) Rāga, a feeling of attachment, (2) Dvesh, a feeling of aversion, (3) Moha, a feeling of infatuation, (4) Kāma, a craving for sexual union, (5) Hāsya, a feeling expressing itself in laughter, (6) Bhaya, a feeling of fear, (7) Shoka, a feeling of grief, (8) Jugupsā, a feeling of hatred (? abhorrance) and (9) Pramāda, a mistaken attitude shunning what is really good. These nine No-Kasāyas added to the four 'Kasāyas' with their sixteen modes make passions twenty-five in number

Violence is comitted when owing to the rise of any of the above-mentioned passions, one's conscious state or body is adversely affected. Various interesting corollaries are drawn by the Jains from the foregoing definition of Himsā. They state that there may be cases of Himsā where no actual bodily violence is committted, whereas there may be cases also where although actual bodily violence is committed, no Himsā is committed. For instance, if a man be strictly pure at heart and in conduct and yet if he commits hurt through accident, he is not guilty of violence. On the other hand, if a man is full of passions and his movements are careless, he is guilty of violence, even though no actual hurt is committed to anybody. In the first case there being no Kasāya or passsionate excitation in the heart,

there is no Himsā although an actual hurt is committed, while in the latter case, though there is no actual hurt there is Himsā as the heart is impure. The *sine qua non* of Himsā, therefore, is the presence of Kaṣāya. This leads the Jain Moralists to recognise four modes of Violence. In the first mode of Himsā, there is passionate excitation in the mind, the words or the body of a man. Such presence of Kaṣāya is nevertheless Himsā, as thereby the 'Bhāva Prāṇa' or the tranquility of the man's soul is hurt. When owing to the extreme strongness of the passions, the man makes violent movements of his limbs or even kills himself he commits the second mode of Himsā which consists in hurting one's own 'Dravya-Prāṇā.' The third mode of violence consists in giving pain to another man's heart by derisive laughter, by show of force or use of hard words etc ,—hurting thereby the 'Bhāva-Prāṇa' or the subjective state of that man. When, however, the man blinded by the fervour of his passions actually causes hurt to the body of another man, he commits the fourth mode of Himsā, whereby the 'Dravya-Prāṇa' or the gross material body of the other man is adversely affected. It would be seen that in all these forms of 'Himsā' Kaṣāya or passionate excitation is there and along with that and as a result of that, some sort of violence or disturbance of the tranquil state or order, either of the mind or of the body, either of the author or of the victim (person other than the author) of the passions

The presence of passionate excitation in the mind being the characteristic of Himsā, a comparison of an immoral act with a crime, as defined in the penal code may be conveniently made here It will scarcely be said that all acts which are prompted by evil motives and end in injury to others, are crimes in the eye of law as well as immoral acts according to all ethical judgment. A non-intentional and purely accidental act of violence is neither a crime nor a sin A patient dies on account of some medicine administered to him by the doctor with the best of his intentions and selected as the true medicine with the best of knowledge Here the doctor is guilty of no crime and his act is not bad from the moral stand-point also. If, however, he was careless about the selection of the medicine or about its proper dose, his act is immoral because the No-Kaṣāya of Pramād, tainted his heart and prompted his action His act is a crime also, because he failed to act with the ordinary intelligence or the deligence of a prudent doctor. In the next case the act of a man who abets the commission of a crime is a crime, from the moral stand-point also, the act of an abettor is sinful. Thirdly the attempt of a man to do some crime though not successful has been held in some cases to be criminal in the eye of law. Morally also, such an act is sinful, because the motive of the man is tainted with Kaṣāya.

The lists of criminal acts and moral acts, however, are not parallel. The latter has within its scope, many acts and matters which are beyond the

purview of the former. From the moral stand-point, the mere having of a Kaṣāya and all acts without exception, prompted by it, are sinful. The penal code, however, does not judge a mere intention, unless and until it is followed by an overt act. Then again, all acts prompted by improper motives are not criminal. Some are trivial, some do not cause injury to others' persons or property; these are beyond the scope of the penal code, although they are impure acts according to the moral standard.

In fact, the great point of distinction between a moral judgment and an estimate of the criminality or otherwise of an act, is that while the former is mainly and primarily concerned with the motive and the intention of the agent, the latter considers the overt act. True it is that the moral judgment does not lose sight of the overt acts, but its business is to consider the innerself, it passes judgment upon it, and it shows how much the subjective spirit of the man is uplifted or lowered by the motive and the intention. The penal code on the contrary considers the overt act, it looks to the motive of the man, just to estimate the nature of the act and it decides how in consideration of the act he has committed, the man's relations to his society, his surroundings, the State, are to be re-adjusted.

All criminal acts are immoral but all acts, bad from the moral stand-point need not be criminal. We have seen, how having a Kaṣāya lowers the spiritual nature of a man, it is morally bad, but it is not a crime to have the Kaṣāya e. g. of Śoka or grief. So far as injury to others is concerned, it is to be seen that until and unless an actual injury to others' persons or property is caused, the criminal court will punish a man for merely harbouring an ill-will against his neighbours. But ill-will against others is itself immoral, according to the moral judgment. The Jain Moralists point this out by referring to the two modes of Himsā, so far as other persons are concerned. The first is Abiramana or Abirati and the other is Parinamana. In the case of the former, one is not guilty of actually hurting another but continues in cherishing ill-will against him, while in the Parinamana mode of Himsā one actually wounds another. The penal code takes cognisance of the Parinamana of Himsā but not the Abirati. According to the Jain moral philosophy, Abiramana is as bad as Parinamana in as much as both are based on Kaṣāya or passion.

From the foregoing, it is not to be supposed that the subjective aspect of Ahimsā is all in all and that an act is to be considered moral, provided there is no ill-will behind it. The Jain philosophers point out that there may be acts which may not proceed from any selfish or active ill-will against others but yet may be bad acts as they are actuated by improper motives. In other words, motives are to be subjected to a thorough and searching examination. One, for example, may honestly believe like Hamlet.

"Now might I do it pat, now he is praying;
And now I will do it And so he goes to heaven".

Unlike Hamlet, he may not be prevented by any counter consideration and with the sole intention of sending the man to heaven, he kills him while he is devoutly praying Would the act of murder be meritorious because the intention behind it is faultless? An emphatic "No" is the answer of the Jain moralists A prayerful man will reap the fruits of his actions sooner or later, but why should you soil your hands with his blood? Killing in any form, out of any motive, whatsoever is reprehensible.

The great apostle of Ahimsā in modern India killed a calf just to terminate its miseries, it had an incurable disease and was suffering from a terrible pain. Now, was his act morally justifiable? Actually, there was a great controversy upon the matter So far as the Jaina moralists are concerned, they would condemn the act unreservedly A being suffers as a result of his past actions. You cannot put an end to his miseries abruptly killing him. If the effects of his actions are not exhausted, he is still to suffer in his, re-incarnation. Then, why should you kill him?

It is generally accepted as a proposition of unchallengeable force that killing of ferocious animals which kill numerous creatures daily and are a source of perpetual awe, is morally justifiable The Jains contend on the contrary that past Karmas make creatures suffer You should believe this firmly. No doubt you should try to alleviate their miseries as much as possible but you should not kill any living being, even though it is ferocious.

Ancient Indian culture is loud in praising the act of the legendary king Sibi, who is reported to have cut the flesh of his own body in order to feed a hungry and voracious bird The Jain moralists, however, condemn such acts Their grounds are (1) A carnivorous animal is not the proper guest for charity, (2) to make a gift of flesh is irreligious, and lastly (3) to kill or give pain to one's own self is morally bad.

It is well-known that the Jains condemned the practice of the followers of the Vedic School, of killing animals at the altar to please the gods They condemned also the practice of killing animals for the dishes of Atithis or guests. The Jains criticised the arguements of those people who thought, it was better to kill one big animal instead of killing a number of small animals.

It cannot be denied that one may sometimes feel difficulty in wandering through the intricacies of the Jain arguments about the absolute refraining from the killing of animals One may ask If giving pain to one's ownself (to wit body) is Himsā, how is it that the Jain scriptures recommend various

fasts and privations? If-killing, in any form of even ferocious creatures, for example is reprehensible, how is it that wars are sometimes justified in the Jaina scriptures themselves? Lastly if one is to see that he is not to do any act, however, good it may be, if it involves the killing, intentional or non-intentional, of even a minutest animal how can the constructions of temples or Rest houses or hospitals be undertaken, which are admittedly highly moral acts but which nevertheless involves the killing of numerous sentinent beings? In all these cases, the doctrine of the strict adherence to the moral principle of non-violence seem to be relaxed to a certain extent and a different moral standard set up and kept in view.*

What then is the place of Ahimsa in the Jain moral philosophy?

We think, with the Jains, non-violence is generally the moral standard by which we are to judge our acts It may be that here are cases in which, circmstanced as we are, the strict adherence to absolute Ahimsā may be impossible for us, but that is no reason why the standard of Ahimsā should be criticised as defective An act is to be morally judged by the measure in which it conforms to the principle of non-violence The Jaina arguments for the forbearance from killing a suffering creature or a ferocious animal may not sound as conclusive to some people but they are undoubtedly illustrative These arguments, show, in other words, that in order that your acts may not be sinful you are always to look to the principle of Ahimsā,—to see that your acts are not in any way violent. Small violences unintentional and regretted, may be often unavoidable but Ahimsā is the absolute standard of all moral acts and a morally disposed man is never to lose sight of it In all his acts, he is to begin, to continue and to end by asking Is my act strictly non-violent? Was I non-violent in my thoughts, words and manners of working? If yes,—the act is all right If not, it is morally bad, at least to some extent,—no matter that it is otherwise justifiable or commendable on other considerations.

A very good illustration of the fact that with the Jains, non-violence is the absolute moral standard, a supreme principle, in light of which all acts are to be morally judged, is afforded by the reasons which they put forward for abstaining from the enjoyment of the four things viz, wine, meat, honey and the five kinds of Udamyara (fig) fruits All moralists inculcate on the avoidance of intoxicating liquor, because it lowers the spiritual nature of man or 'unmans' him, so to say The Jains, however, would bring in the

* Here the learned writer seems to have overlooked the Ahimsā vow of a layman and that of an ascetic The ascetic only observes the full Ahimsā. Battles in self-defence and construction of Temples are the works of a layman only. Even layman would try his best to minimise Himsā and avoid intentional one altogether. Penance is not observed to cause injury to one self. No Kasāya stands in it Hence no Himsā —General Editor.

principle of Ahimsā and in light of that principle would explain why wine should be avoided. They would say. Wine stupifies a man and a stupified man is prone to commit acts of violence; secondly, they would point out that in wine there abide numerous tiny animal cubs, so that a man drinking wine is guilty of killing innumerable creatures, thirdly a drunken man's heart becomes full of pride, anger, greed and other violent feelings. Intoxication is thus immoral because it is opposed to the practice of Ahimsā In the case of meat, similarly, the Jains, would prohibit its eating, on the ground that it goes against the practice of nonviolence. One cannot get meat without killing an animal. It is well-known that the Buddhists also felt the force of this argument and were averse to killing animals for their food. They, however, had no objection to eating meat, provided the animal died of itself and was not designedly killed for the purpose of the dish. The Jains, however, point out that innumerable animal cubs live in the joints and other parts of an animal's body; various other small creatures are generated in various parts of the body of the animal, as soon as it dies. Accordingly killing of innumerable animal cubs and consequent violence is involved in the eating of meat, even though the animal died of itself. In the case of honey, the Jains say that you cannot get honey from a bee-hive without killing or maiming the bees In honey, again, there live innumerable invisible creatures The Jains contend accordingly that the drinking of honey is against the practice of strict non-violence The fig fruits are similarly said to be the abodes of numerous tiny creatures, so that one is bound to kill them, who eats the fig-fruits Eating of fig-fruit thus opposes the practice of Ahimsā. All acts which are condemned in the Jain scriptures are thus shown to be bad, for the reason that they go against the principle of non-violence Reasoning may appear to be strained in some cases but the vitimince with which the Jains apply the standard of Ahimsā, even in those cases, shows that Ahimsā or non-violence is with them the supreme moral standard, which should be the measure of all our moral acts

जैन साहित्य और कला!

मथुरा कंकाली टीलासे प्राप्त कलापूर्ण आयागपट्ट!

(कुशन-काल)

JAINA LITERATURE AND ART.

" सबही विषयके शास्त्र थे शोभित यहां भंडारमे,
नहिं अन्य उनकी जोडके थे ग्रन्थ इस संसारमें।
निज २ विषयमे एकसे बढ कर यहां पर ग्रन्थ थे,
पढ कर उन्हें मानव सदाही देखते निज पन्थथे ॥ "

—जैन भारती।

" As with everything else in life, the Jainas appear to have carried their spirit of acute analysis and asceticism into the sphere of art and architecture as well "

*   *   *   *

" .. the Jainas distinguished themselves by their decorative sculpture, and attained a considerable degree of excellence in the perfection of their pillared chambers which were their favourite form of architecture. "

— Prof S. R Sharma

जैन-विद्या।

(ले० श्री० डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, एम. ए., डी. लिट्., नई दिल्ली)

जैन-साहित्य और कलाकी सामग्रीके आधारपर भारतीय संस्कृति और इतिहासकी सामग्रीका उद्धार जैन-विद्याका क्षेत्र एवं ध्येय होना चाहिये। पश्चिमी विद्वानोंने लगभग सौ वर्ष पहले बौद्ध साहित्यके उद्धार और प्रकाशनकी ओर ध्यान दिया। उसी सिलसिलेमें बौद्ध धर्म सम्बन्धी कला-सामग्री कामी प्रकाशन और अध्ययन शुरू हुआ। उससे भारतीय इतिहास और संस्कृतिके बहुतसे नये पर्दे खुल गए। बौद्ध-विद्याका साहित्य अब इतना बढ़ गया है कि उससे एक जन्ममें पार पाना मुश्किल है। उस साहित्यके छिपे हुए अनमोल ग्रन्थ चीन, बर्मा, सिंहल, स्याम, तिब्बत, काश्मीर, मध्यएशिया आदि देशोंसे प्राप्त हुए हैं। सुदूर मंगोलिया, कोरिया, जापाननेभी बौद्ध साहित्यके पुनरुद्धारमें अपनी भेंट चढ़ाई है। बौद्धकलाकी सामग्री भी खोजते-खोजते एशिया-भूखंडके बहुत बड़े भागमें छाई हुई मिली है। बौद्ध-विद्याकी अनेक छोटी बड़ी धाराओंने मिलकर भारतीय संस्कृतिकी महागंगाका जी खोलकर विस्तार किया है। भारतकी संस्कृति अपने इस रूप-संपादनसे आज बहुत कुछ जगमगा उठी है।

कर्तव्य कर्मका कुछ-कुछ वैसाही उद्देश्य और मार्ग जैन-विद्याके आगेभी बिछा हुआ है। जैन-विद्याका भविष्य महान् है। भारतीय संस्कृतिको उसकी देन बहुत बड़ी थी। भविष्यमें भारतीय संस्कृतिकी जानकारी जैन साहित्य और कलाकी सामग्रीसे कितनी बढ़ाई जा सकती है इस प्रश्नके ठीक-ठीक उत्तरपरही जैन विद्याकी आनेवाली सफलता निर्भर करती है। बुद्धके समकालीन महावीरके समयसेही जैन साहित्यका आरम्भ माना जा सकता है। कहते हैं कि पाटलिपुत्रकी वाचना, माथुरी वाचना और वलभीकी वाचनामें जैन धार्मिक साहित्य या आगम साहित्यका रूप क्रमशः निश्चित हुआ[1] अर्ध मागधीके मूल आगम साहित्यके अतिरिक्त बौद्धोंकी अट्ठ कथाओंकी तरह जैनोंमेंभी धार्मिक ग्रन्थों-पर बहुतसीही विस्तृत चूर्णियों और टीकाओंका निर्माण एक हजार वर्षोंके लम्बे समय तक पहले प्राकृत और फिर संस्कृत भाषामें होता रहा। जिस जिस कालमें यह साहित्य बना उस उस समयका सांस्कृतिक चित्र उस साहित्यमें अनायासही समाविष्ट हो गया है। भूगोल, संस्कृति, सामाजिक रहन सहनके [illegible] पहलू पर जैन 'साहित्य' प्रकाशकी नई किरणें फैलाता है। रायपसेनियसूत्रमें बड़े विस्तारसे एक देवविमान और स्तूपकी रचनाका वर्णन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है जैसे लेखकने सांची-मथुराके स्तूपोंका, उनकी वेदिकाओं और तोरणोंका आखों देखा वर्णन किया हो। साहित्य और कला दोनों एक दूसरेका रूप उजागर करते जान पड़ते हैं। प्राचीन स्तूपके सांगोपांग वर्णनकी ऐसी बढ़िया सामग्री भारतीय साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं है। इसी ग्रन्थमें प्राचीन नाट्य-विषय परभी अनमोल मसाला है। महावीरके जीवन-चरित्रको नृत्य प्रधान नाट्य (डांस–ड्रामा) में

[1] यह श्वेताम्बर जैन साहित्य था। दिगम्बर मान्यताके अनुसार आगम ग्रन्थ पूर्णरूपमें अनुपलब्ध हैं। —का० प्र०

कैसे उतारा गया और उसके साथ नृत्यके कितने भिन्न-भिन्न रूपोंका प्रदर्शन किया गया, इसको पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगता है मानों हम प्राचीन भारतके किसी प्रेक्षागारमें आ बैठे हों जहां चाक्षुष यज्ञके रूपमें नाटकका विस्तार हो रहा हो और जिसमें कलाके अनेक चिन्होंको नृत्यके रूपमें उतारा जा रहा हो। एकसौ आठ देवकुमार-देवकुमारियां सूर्याभ देवकी आज्ञासे बत्तीस प्रकारकी नाट्य विधि (बत्तीसइ-बद्ध णट्ट विहि) का प्रदर्शन करती हैं। इसके अन्तके कार्यक्रममें केवल महावीरके जन्म, अभिषेक, बालभाव, यौवन, कामभोग, निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानोत्पत्ति, तीर्थ-प्रवर्तन और परिनिर्वाणका अभिनय किया गया। शेष इकत्तीस प्रविभक्तियोंमें प्राचीन भारतीय गीतवाद्य नाट्यका उदार प्रदर्शन सम्मिलित था। उदाहरणके लिये पहले विभागमें स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्या-वर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुग्म, दर्पण इन आठ मांगलिक चिन्होंका आकार-अभिनय दिखाया गया जिसे मंगल भक्तिचित्र कहते थे। इसमें नाट्यविधिसे इन वस्तुओंका स्वरूप प्रतिपादन प्रेक्षकजन समूहके सम्मुख किया जाता था। दूसरे भक्तिचित्रमें आवर्त प्रत्यावर्त, श्रेणि-प्रश्रेणि, स्वस्तिक, पुष्पमाणवक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्ती-लता, पद्मलता आदि अभिप्रायोंका नाट्यके द्वारा रूप खड़ा किया गया। श्रेणि-प्रश्रेणिको प्राकृतमें सेढि-पसेढि कहा गया है। नृत्यमें सेढि या सीढ़ीकी रचना किस प्रकारकी होती होगी इसका एक उदाहरण भरहुतसे मिले हुए एक शिलापट्टके दृश्यमें पाया जाता है, इस समय वह इलाहाबाद संग्रहालयमें है। इसमें एक प्रस्तार (पिरेमिड) का निर्माण किया गया है, नीचेकी पंक्तिमें आठ अभिनेता हाथोंको कन्धोंके ऊपर उठाए हुए खड़े हैं, दूसरी पंक्तिमें चार व्यक्ति हैं, जिनमेंसे हरएकके पैर नीचेवाले दो व्यक्तियोंके हाथों पर रुके हैं, तीसरी पंक्तिमें दो व्यक्ति हैं और सबसे ऊपर केवल एक पुरुष उसी प्रकार अपने हाथ ऊंचा किये हुए खड़ा है। नाट्यके ये प्रकार विशाल भारतीय जीवनके अंग थे, जैन बौद्ध हिन्दूकी धार्मिक पंक्तियां उसके साथ जाती नहीं की जा सकतीं। तभी तो यह सम्भव है कि वस्तुका नामोल्लेख जैन साहित्यमें मिले और उसका कलागत चित्रण बौद्ध रूपमें प्राप्त हो। बत्तीसी नाट्यविधिकी तीसरे भक्तिचित्रमें ईहामृग, ऋषभ, तुरग, नर, मकर, विहग, व्याल, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर, वनलता, पद्मलताका रूपविधान अभिनयमें उतारा गया। चौथी भक्ति (अंग्रेजी मोटिफ) में तरह-तरहके चक्रवाल या मण्डलोंका अभिनय किया गया। मथुराके जैन स्तूपसे प्राप्त आयागपट्टोंपर इस प्रकारके चक्रवाल बने हुए मिले हैं जिनमें दिक्कुमा-रियां मंडलाकार नृत्य करतीं हुईं दिखाई गई हैं। इस देशमें साहित्य और कला सदा हाथमें हाथ मिला कर पग रखते रहे हैं। प्रत्येक युगमें वे एक दूसरेकी व्याख्या करते हुए पाए जायंगे। पांचवीं आवलि प्रविभक्तिमें चन्द्रावली, सूर्यावली, वलयावली, हंसावली, एकावली, तारावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली—इन स्वरूपोंका चित्र प्रतिपादन किया गया। छठी विभ-क्तीमें सूर्योदय और चंद्रोदयके बहुरूपी उद्गमनोद्गमोंका चित्रण किया गया। भारतीय आकाशमें सूर्य और चन्द्रका उगना प्रकृतिकी अति रमणीय घटनाएं हैं, जिनके दर्शनके लिये मनुष्यही क्या देवोंके नेत्रभी लालायित बन सकते हैं। कवि और साहित्यकार अनेक ललित कल्पनाओंके मार्ग सुन्दर शब्दावलीका उपहार इनके लिये अर्पित करते रहे हैं। अपने दर्शो-

द्गम और चन्द्रोद्गमके अपरिमित सौन्दर्यको हमें जीवनकी भागदौड़में भूल न जाना चाहिए। बत्तीसी नाट्यविधिको जन्म देनेवाले नाट्याचार्योंके मन उसकी ओरसे अवश्य जागरूक थे। विशाल गगनां-गणमें सोनेके रथ पर बैठे हुए उषःकालीन सूर्य समस्त भुवनको आलोक और चैतन्यके नवीन मंगलसे प्रतिदिन भर देते हैं; कितने पक्षी अपने कलरवसे उनका स्वागत करते हैं, कितने पुष्प उनके दर्शनके लिये अपने नेत्र उघाड़ते हैं, कितने चराचर जीव उनकी प्रेरणासे जीवनके सहस्रमुखी व्यापारोंमें प्रवृत्त हो उठते हैं—इसकी कल्पना सूर्योद्गमके नाट्याभिनयमें मूर्तिमती हो उठती थी। चन्द्रसूर्यके आकाशमें उगने, चढ़ने, ढलने और छिपनेका पूरा कौतुक नृत्यमें उतारा जाता था। इन्हें क्रमशः उद्गमनप्रविभक्ति, आगमनप्रविभक्ति, आवरणप्रविभक्ति और अस्तमयनप्रविभक्ति नाट्यविधि कहा गया है। तदनन्तर चन्द्रमंडल, सूर्यमडल, नागमडल, यक्षमडल, भूतमडल प्रविभक्तिका अभिनय हुआ। ग्यारहवें स्थान पर ऋषभ ललित, सिंह ललित, हयविलम्बित, गजविलम्बित, हयविलसित, गजविलसित, मत्तहयविलसित, मत्तगजविलसित, मत्तहयविलम्बित, मत्तगजविलम्बित आदि आकृतियोंसे सुशोभित द्रुतविलम्बित नामक नाट्यविधिका प्रदर्शन किया गया। पुनः सागर-नागर प्रविभक्ति, नंदा-चम्पा प्रविभक्ति, मत्स्याण्डक-मकराण्डक प्रविभक्तिका अभिनय हुआ। इनमेंसे अधिकांश नामोंका यथार्थ स्वरूप इस समय स्पष्ट नहीं होता परन्तु सम्भव है विशाल जैन साहित्यके किसी भागमें उनका वर्णन बचा रह गया हो। इसके बाद पाँचों वर्गोंके पच्चीस वर्णोंका नृत्यमें रूपाविष्करण किया गया। इसे वर्गक्रमसे ककार-खकार गकार-घकार-ङकार प्रविभक्ति आदि कहा गया है। तदनन्तर अशोकपल्लव, आम्रपल्लव, जम्बुपल्लव, कोशाम्बपल्लवकी आकृतियोंको नाट्यमें दिखलाया गया। पुनः पद्मलता, नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वासन्तीलता, वनलता, कुन्दलता, अति-मुक्तकलता, श्यामलता इनके स्वरूपका चित्रण अभिनयके द्वारा किया गया जिसे लताप्रविभक्ति नामक इक्कीसवीं नाट्यविधि कहा गया है। इसके अनन्तर द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अंचित आदिक दस प्रकारके गति-नृत्योंका प्रदर्शन किया गया। अन्तमें मुख्य विषय, अर्थात् महावीरकी जन्मसे निर्वाण पर्यन्तकी लीलाओंके अभिनयका प्रदर्शन किया गया। पुनः देवकुमार और देव-कुमारियोंने मिलकर बत्तीसिया नाट्यविधिकी परिसमाप्तिकी सूचना देनेके लिये मंगलात्मक चार प्रकार के बाजोंको बजाया और चार प्रकारके गानका प्रदर्शन किया। इस प्रकार नृत्य गीत वादित्र और अभिनयके मनोभिराम प्रदर्शनका यह आयोजन सम्पन्न हुआ।

कुछ विस्तारके साथ उद्धृत किए हुए इस प्रकरणसे यह बात निश्चित रूपसे प्रकट हो जाती है कि जैनागम साहित्यमें और उसकी बड़ी बड़ी टीकाओंमें भारतीय संस्कृतिके उद्घाटनके लिए कितनी बहुमूल्य सामग्री विद्यमान है। अभी तक व्यवस्थित रूपसे [illegible] सामग्रीके अध्ययन, संकलन, विवरण और प्रकाशनकी परिपाटी विद्वानोंमें प्रवर्तित नहीं हुई, परन्तु यदि एक बार यह सिलसिला चल पड़ेगा तो [illegible] देखेंगे कि जैनविद्या भारतीय संस्कृति और इतिहासके लिए कामधेनुकी तरह हमारी आशाओंको पूरा करेगी। रायपसेनिय ग्रन्थके इसी प्रकरणमें प्राचीन भारतीय बाजोंकी लम्बी सूची दी गयी है, जैसे शंख, शंखिका, शृंग, खरमुखी, पेया, परिपिरिया (मुहका बाजा),

पणव, पटह, मम्मा (ढक्का), होरम्भा (महाढक्का), भेरी, झल्लरी, दुन्दुभी, मुरज, मृदंग, नन्दि मृदग (एक ओर सकरा एक ओर चौड़ा मुरज), आलिंग्यक (एक प्रकारका मुरज), कुस्तुम्ब, गोमुखी, मर्दल (दोनों ओर बराबर मुहवाला), विपंची (तीन तारकी वीणा), वल्लकी, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, परिवादिनी, महती, कच्छपी, चित्रवीणा, ढक्का, नकुल, तूणा, तुम्बवीणा, मुकुन्द (एक प्रकारका मुरज), हुडुक्का, चिचिकी, करटी, डिंडिम, किणित, कडम्ब, दर्दरक, दर्दरिका, कलश, ताल, कांस्यताल, रिंगीरिसिका, मकरिका, शिशुमारिका, वंशी, वाली, परिली। इस सूचीमें जिन बाजोंके नाम आए है उनमेंसे प्रत्येकका अपना एक इतिहास होना चाहिए। भारतीय सगीत और बाजों पर काम करनेवाले विद्वानके लिए यह सामग्री अनमोल कही जा सकती है। भारतीय शिल्प-कलामें इनमेंसे अनेक बाजोंका चित्रण आया होगा उनकी पहचान और ब्यौरेवार अध्ययन पूरे शोध निबन्धका विषय है। फ्रेंच भाषामें मार्सेल-डुबुआने अभी हालमें प्राचीन भारतीय बाजों पर बहुतही सुन्दर सचित्र पुस्तक लिखी।[१] उस प्रकार एक ग्रन्थ शीघ्रही हमारी भाषामें प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

जैन विद्वानोंकी साहित्यिक रचनाओंके द्वारा औरभी कई प्रकारकी भारतीय संस्कृतिकी सामग्रीकी रक्षा हुई है। जैन भण्डारोंमें बहुतसे अलभ्य ग्रंथ सुरक्षित रह गए हैं। पाटन और जेसल-मेरके भण्डारोंकी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। पुरातन प्रबन्ध, विज्ञप्ति-पत्र, ऐतिहासिक-गीत, रास ग्रन्थ, इन सबमें इतिहास-शोधनकी सामग्री मिल सकती है। लेकिन दो दिशाओंमें जैन-विद्याके लिए अभीभी अपरिमित क्षेत्र खुला है। इनमेंसे प्रथम तो भिन्न भिन्न विषयों पर जैन विद्वानों-द्वारा लिखे हुये फुटकर ग्रंथ है। इसके अतर्गत गणित, ज्योतिष, वास्तु आदि विषयोंके ग्रन्थ हैं। कभी कभी इस क्षेत्रमें विलक्षण सामग्री उपलब्ध हो जाती है। अभी हालमें अलाउद्दीन खिलजीके सम-कालीन उनकी टकसालके अध्यक्ष श्री० ठक्कुर फेरूके ग्रन्थोंका परिचय प्रकाशित हुआ है। ठक्कुर फेरू प्रतिभाशाली लेखक थे। मध्य-कालीन वास्तु-विद्या पर उनका वास्तु-शास्त्र नामक एक ग्रन्थ छप चुका है। लेकिन अभी हालमें पुराने सिक्कों पर लिखी हुई द्रव्य-परीक्षा नामक उनकी एक दूसरी पुस्तकका परिचय मिला है। इस पुस्तककी एक प्रतिलिपि श्री० अगरचन्दजी नाहटाकी कृपासे हमारे देखनेमें आई। इस पुस्तकमें लगभग आठसौ ईसवीसे लेकर तेरह सौ तकके भारतीय सिक्कोंके नाम, तोल और मूल्यका बहुतही प्रामाणिक वर्णन किया गया है। भारतीय-मुद्राशास्त्रके इतिहासमें इस प्रकारकी कोई पुस्तक कभी पहले देखनेमें नहीं आई। ठक्कुर फेरूकी अपने देशवासियोंके लिए यह अनुपम देन है और जिस दिन इस ग्रन्थका विस्तृत सचित्र संस्करण प्रकाशित होगा उस दिन हम इस महान लेखककी कृतिके महत्वको समझ पाएंगे।

परन्तु इन सबसे बढ़ कर एक दूसरे क्षेत्रमें जैनविद्याका सर्वोपरि महत्व हमारे सामने आता है और वह है भाषा-शास्त्रके क्षेत्रमें। भारतकी प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओंका विकास अपभ्रंशसे

१. LES Instruments De Musique De L'Inde Ancienne by Claudie Marcel-Dubois

हुआ है। जैन साहित्यमें अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंके मानो भण्डार भरे हैं। अभी बीसियों वर्ष तो इस साहित्यको प्रकाशित करनेमें लगेंगे। लेकिन जोभी ग्रन्थ छप जाता है वहभी हिन्दी-भाषाकी उत्पत्ति और विकासके लिए बहुतसी नई सामग्री हमारे लिए प्रस्तुत करता है। हिन्दी भाषामें एक एक शब्दकी व्युत्पत्ति खोज निकालनेका बहुत बड़ा काम अभी शेष है। व्याकरणकी दृष्टिसे वाक्योंकी रचना और मुहावरोंके आरम्भका इतिहासभी महत्वपूर्ण है। इसके लिए अपभ्रंश साहित्यसे मिलने-वाली समस्त सामग्रीको तिथि क्रमके अनुसार छाटना होगा और कोश और व्याकरणके लिए उसका उपयोग करना होगा। अभी पूरी तरहसे यह अनुमान लगाना कठिन है कि अपभ्रंश साहित्यकी कृपासे हिन्दीका कितना अधिक उपकारसम्भव है। यह कहा जा सकता है कि अपने भूत कालसे जीवन, रहन-सहन और भाषाका जो उत्तराधिकार हमें मिला है उस पर अपभ्रंश कालका एक खोल चढा हुआ है। इतिहासकी अपभ्रंशकालीन तहमें हमारी भाषा और रहन-सहनके जो सूत्र हैं उनका उद्घाटन अपनेही विकासको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। आजसे पच्चीस वर्ष पहिले अपभ्रंश साहित्यकी इस बहुमूल्य निधिका किसीको ध्यान या परिचय न था; लेकिन आज तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारे साहित्यके कोठार इस नई सामग्रीके आ जानेसे माला-माल हो गए हैं। हिन्दी जगत्के बहुसंख्यक विद्वानोंको और प्रकाशकोंको अपने समय, परिश्रम और धनकी शक्ति इस ओर लगानी होगी तब कहीं हम अपभ्रंश साहित्यके इस सम्पत्तिको अधिकारमें ला सकेंगे।

बौद्ध साहित्यसे भारतीय संस्कृतिको अपरिमित लाभ हुआ। एक प्रकारसे बौद्ध साहित्यने भारतीय संस्कृतिको विश्वसंस्कृतिके ऊंचे आसन पर बिठा दिया। जैन साहित्यकी सहायतासेभी भारतीय संस्कृतिको नया प्रकाश प्राप्त होनेकी आशा और सम्भावना है।

'त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथां गत्वं भारती प्रतिपद्यते॥
धर्मानुबंधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवा यैव सुप्रयुक्तापि जायते॥'

—श्री जिनसेनाचार्यः।

सन्त-साहित्य और जैन अपभ्रंश ग्रंथ।

(ले॰ श्री॰ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, एम.ए., शान्तिनिकेतन)

सन् ईसवी की नवीं दसवीं शताब्दीके आसपास जो विशिष्ट धर्ममत उत्तर भारतमें प्रचलित हुआ उसका परवर्तीरूप हिंदी साहित्यका निर्गुण मत है। इसके विकास और उद्भवके अध्ययनके लिये अबभी पर्याप्त परिश्रम नहीं किया जाता और न सामग्रीही बहुत अधिक उपलब्ध हो सकी है। इस विषयके अध्ययनके लिये बौद्ध वज्रयानी साधकोंकी रचनाएं, नाथ और निरञ्जनी सिद्धोंके पद और दोहे आदिको तो अब आवश्यक और अपरिहार्य समझा जाने लगा है; लेकिन अबभी उस विशाल जैन साहित्यकी ओर दृष्टि नहीं दी गई है जिसमें इस विषयके अध्ययनके लिये निश्चयही अनेक ग्रन्थ मिलेंगे। अभी केवल दो तीन पुस्तकें ऐसी प्रकाशित हुई हैं जिनसे इस विषय पर कुछ प्रकाश पडता है। जोइन्दुका परमात्मप्रकाश और योगसार नामक ग्रन्थ हालही श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय महाशयके सम्पादकत्वमें बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं। परमात्मप्रकाशकी हिंदी टीका प॰ दौलतरामने और योगसारका हिंदी अनुवाद प॰ जगदीशचन्द्र शास्त्रीने किया है। इससे पूर्वही कारंजाके डा॰ हीरालाल जैनके सम्पादकत्वमे मुनि रामसिंह विरचित पाहुड दोहा प्रकाशित हो चुका है। इन पुस्तकोंमें उस युगकी तांत्रिक और शैव रचनाओंमें पाई जानेवाली अनेक विशेषताएं ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। बाह्याचारका विरोध, चित्तशुद्धि पर जोर, समाधी भाव, स्वसंवेदन आनंदकी अनुभूति, अक्षय-निरञ्जन-ज्ञानमय-शिवकी प्राप्ति पर विश्वास आदि बातें इन रचनाओंमेंभी पाई जाती हैं। उन दिनोंके नाथ पंथियोंमें यह प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रचलित था कि 'ब्रह्माण्डवर्तियत् किंचित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा', जिसे परवर्ती कालमें कबीर और नानक आदि सन्त महात्माओंने 'जोइ जोइ प्यंडे, सोई ब्रह्मण्डे' कहा था, उसकाभी आभास इन ग्रन्थोंमें मिल जाता है। सहज साधकोंमें शरीरकोही सब सिद्धियोंका आश्रय माननेकी जो प्रवृत्ति थी उस पर मृदु कटाक्षभी इनमें मिलता है। इस प्रकार के ग्रन्थ दसवीं शताब्दीके आसपास प्रचलित धर्मविश्वासोंके अध्ययनके बहुत महत्त्वपूर्ण साधन हैं। यह सत्य है कि जैन साधकोंका 'परमात्मा' नाथ वा निरञ्जनी साधकोंके 'परमात्मा' से थोडा भिन्न है। जैनधर्मके अनुसार प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है, कर्मबन्धके कारणही वह आत्मा है। तप और ध्यानके मार्ग पर चल कर वह 'परमात्मा' बन जाता है। ऐसे 'परमात्मा' अनेक हैं। नाथपंथी, शाक्त सेवक और निरञ्जनी आदि सन्त अद्वैतवादी हैं। वे मानते हैं कि ज्ञानप्राप्तिके बाद जब कर्मबंध जन्य आवरण मुक्त हो जाता है तो जीव शिवमें मिल जाता है। परशुराम कल्प सूत्र १.५ में कहा गया है कि शरीरके कञ्चुक (आवरण) धारण करने पर शिवही जीव हो जाता है और निष्कञ्चुक होने पर जीवही शिव हो जाता है। परन्तु इससे व्यवहारमें कोई विशेष अन्तर नहीं पडता। साधारण जनता इस पचडेमें नहीं पडना चाहती कि मुक्त

होनेके बाद यह आत्मा अनेक परमात्माओंमें से एक होकर बना रहेगा या किसी एकही परमात्मामें विलीन हो जायगा।

परवर्ती कालके हिंदी साहित्यमें जो देवालयों, तीर्थों और शास्त्रोंके पठनकी ओरसे साधक को हटा कर अपनेही भीतर स्थित परमतत्त्वकी ओर देखनेका बराबर उपदेश दिया गया है वह बहुत सुंदर और सरस ढंगसे इन जैन साधकोंकी रचनाओंमें प्राप्त होता है। मुनि रामसिंह कहते हैं कि 'देवालयमें पाषाण है, तीर्थमें जल है और पोथियोंमें कल्पना-विलासी काव्य हैं—ये सब नश्वर हैं। जो फूलता है वह झडनेको बाध्य है, जो झडता है वह नष्ट हो जाता है, इंधन बन जाता है'—

देवलि पाहणु तित्थि जलु,
　　पुत्थइं सव्वइ कव्वु।
वत्थु जुदीसइ कुसुमियउ
　　इंधणु होसइ सव्वु।

(पाहुड दोहा, १६१)

'अरे ओ योगी, जिसके हृदयमें वह एक देवता नहीं निवास करता जो जन्म और मरणसे परे है, वह परलोकको कैसे पा सकता है?'

जोइय हियडइ जासु णवि
　　इक्कु ण णिवसइ देउ।
जम्मणमरणविवज्जियउ,
　　किम पावइ परलोउ॥

(वही १६४)

जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालयमें हैं, न शिलामें हैं, न चंदनादि उपलेपनोंमें हैं और न चित्रमें हैं। वह अक्षय-निरंजन ज्ञानघन शिव तो 'समचित्त' में निवास करता है।—

देउ ण देउले ण वि सिलए
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ
सिउ संठिउ समचित्ति॥

(परमात्म प्रकाश १.१२३)

ब्रह्मदेवने अपनी वृत्तिमें इस दोहेमें आए हुए 'समचित्त' शब्दका लक्षणके रूपमें एक पुरानी कारिका इस प्रकार उद्धृत की है—

सम सत्तुमित्तवग्गो
　　समसुहदुक्खो पसंस णिंदसमो

समलोह कंचणो विय
जीविय मरणो समो समणो।

अर्थात् वह श्रमणही 'सम' कहा जाता है जिसके लिये शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, प्रशंसा और निंदा, लोहा और सोना, जीवन और मरण समान हों। परन्तु परमात्मप्रकाशमें एक दोहा इस दोहेके आगे पाया जाता है जिसमें समचित्तकी व्याख्या करनेका प्रयास जान पड़ता है। ब्रह्मदेव (टीकाकार) ने इसे प्रक्षेपक माना है। प्रक्षेपक हो या न हो, दोहा काफी महत्वपूर्ण है—

मणु मिलियउँ परमेसरहु
परमेसरु वि मणस्सु।
बीहि वि समरसि हुवाहँ
पुज्ज चडावउँ कस्सु।

[मन परमेश्वरसे मिल गया और परमेश्वर मनसे। दोनोंका समरसीभाव हो गया, फिर पूजा चढाऊं तो किसे चढाऊं।]

यह भाव उन दिनोंके शाक्तों और नाथ मतके सिद्धोंके भावसे हुबहु मिलता है। 'समरस होना' या 'सामरस्य भाव' उस युगकी साधनामें बहुत प्रचलित और व्यापक शब्द है। समाधिकालमें शिव और शक्तिका जो मिलन होता है उसे शाक्त साधक समरस भाव कहते हैं। पिंड और ब्रह्माण्डकी ऐक्यानुभूतिको नाथ साधक समरसीभाव कहते हैं। इस समरसके अनुभवसे योगनिष्ठ व्यक्ति इतर बातोंसे वीतस्पृह हो जाता है। सिद्धसिद्धान्त सारमें कहा है—

समरस करणं वदाम्यथाहं
परमपदाखिल पिण्डयोरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा
इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥

और आगे चल कर उसी ग्रन्थमें शक्तिसहितसे समरस होनेके विषयमें एक श्लोक उद्धृत करके बताया गया है कि उस अवस्थामें मन, बुद्धि, संवित्, ऊहापोह, तर्क आदि सब प्रशमित हो जाते हैं—

यत्रबुद्धिर्मनो नास्ति
सत्रसंवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च
वाचा तत्र करोति किम्।

जान पड़ता है कि समरसभावसे जोइन्दुका कुछ ऐसाही मतलब था। उन्होंने उल्लासके साथ घोषणा की है कि बलिहारी है उस योगीकी जो 'शून्यपद' का ध्यान करता है और 'पर' (परमात्मा) के साथ समरसीभावका अनुभव करता है जिसमें न पाप है न पुण्य है—

सुण्णउँ पयँ झायंताहँ
वलि वलि जोइयडाहँ।
समरसि भाउ परेण सहु
पुण्णु वि पाउ णासइँ।

यह शून्य क्या है? मुनि रामसिंह बताते हैं। शून्य शून्य नहीं है। एक ऐसी अवस्था योगीको प्राप्त होती है जब वह त्रिभुवनमें केवल शून्यही शून्य देखता है, इस शून्य स्वभावको प्राप्त आत्मा पुण्य और पाप दोनोंको पचा डालता है--

सुण्णं ण होइ सुण्ण
दीसइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं।
अवहरइ पाव पुण्णं
सुण्ण सहावें गयो अप्पा॥

उन दिनों इस प्रकारके योगीभी थे जो इस शरीरकोही समस्त सिद्धियोंका आश्रय समझते थे। जोइन्दुने उन योगियोंको सम्बोधित करके कहा है--

ऐ योगी इस घृणास्पद शरीरमेंही रममाण होकर तुम लज्जित क्यों नहीं करते। अरे भले मानस तू ज्ञानका उपासक है, धर्ममें प्रीति कर, आत्माको निर्मल बना--

जोइय, देहु घिणावणउ,
लज्जहि किं ण रमंतु।
णाणिय, धम्मे रइ करहि,
अप्पा विमलु करंतु

—प० प्र० २.१५१

अरे ओ योगी, देहकी साधना छोड़ दे, इससे तेरा भला नहीं होगा। देख, आत्मा इस देहसे भिन्न है, वह ज्ञानमय है, उसीको देख और समझ--

जोइय, देह परिच्चयहि,
देह ण भल्लउ होइ।
देह विभिण्णउ णाणमउ,
सो तुहुँ अप्पा जोइ॥

इस प्रकार उस युगकी साधनाके अध्ययनके लिये ये जैन ग्रंथ अत्यंतिक उपयोगी हैं। इनकी अधिकाधिक चर्चा वाञ्छनीय है।

जंबूस्वामीचरित।

(ले० श्री० प्रो० रामसिंहजी तोमर, एम. ए., शान्तिनिकेतन)

जंबूस्वामीके मनोरम चरित्रमें अनेक जैन कृतिकारोंको अपनी कल्पनाके लिए पर्याप्त क्षेत्र मिला है। जंबूस्वामी जैन सम्प्रदायमें अत्यन्त प्रतिष्ठित अंतिम केवली माने जाते हैं। उनके वैराग्यपूर्ण जीवन की परिणतिको नाना कवियोंने नाना प्रकारसे वर्णित कर अपनी लेखनीको कृतकृत्य समझा है। प्रारम्भमें जंबूस्वामीका चरित्र कितने सरल और संक्षिप्त ढंगसे कवियोंने रचा था और क्रमशः उसका किस प्रकार विकास होता गया, कतिपय कृतियोंकी कथावस्तु पर विचार करनेसे स्पष्ट होगा।

जिनरत्नकोषमें अनेक जंबूके चरित्रसे सम्बंधित कृतियोंका उल्लेख किया गया है। सबसे पीछेका और जंबूकी कथा का विकसित रूप सं० १६३२ में रचित राजमल्लकविके जंबूस्वामीचरित को मान सकते हैं। जंबूकी कथा प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनोंही भाषाओंमें मिलती है। जंबूकी कथाका सबसे प्राचीन रूप जिसमें कुछ साहित्यिकतामी है—वसुदेवहिण्डिमें प्राप्त होता है। वसुदेव-हिण्डि—प्राचीन जैन महाराष्ट्रीमें रचित सन् ई० की छठी सदीकी कृति है। इस महत्त्वपूर्ण कृतिके प्रारम्भमें जंबूका चरित्र दिया गया है। यह प्रकरण बहुत संक्षिप्त है, इसकी संक्षिप्त कथा [illegible] प्रकार है—

राजगृहके श्रेष्ठि ऋषभदासकी पत्नी धारिणीके जंबू पुत्र थे।' युवा होने पर सुधर्म स्वामीसे उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे आजन्म ब्रह्मचारी रहेंगे। वे अपने पितासे प्रव्रज्या लेनेका विचार प्रकट करते हैं। सभी जंबूके निर्णयसे आश्चर्यमें पड़ जाते हैं। उनके पिता ऋषभदास उनसे विषयोंका उपभोग कर लेनेके पश्चात् सुधर्मस्वामीसे दीक्षा लेनेको कहते हैं। किन्तु जम्बू अनेक दृष्टांत देकर पिताको निरुत्तर कर देते हैं। माताके कहने पर जंबूका आठ श्रेष्ठि कन्याओंसे विवाह हो जाता है। जंबूने इस बात पर विवाह किया था कि उसके पश्चात्ही प्रव्रज्या ले लेंगे।

जंबू जिस समय वासगृहमें नवविवाहित वधुओंके साथ रात्रिको थे उसी समय विद्याबलसे ताले खोलनेवाला तथा लोगोंको निद्रित कर देनेवाला चोर प्रभव आया। जंबूके ऊपर उस चोरकी किसी विद्याका प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि वे प्रातःकाल सब कुछ त्याग कर प्रव्रज्या लेनेवाले थे और सुधर्म गणधरसे वे संसारविमोचनी विद्या ले चुके थे। प्रभव जंबूसे कुछ काल पर्यंत संसारके विषयों का उपभोग करके दीक्षा लेने को कहता है, जंबू संसारके स्वजनोंके कर्मानुकूल विचित्र संबंधोंका उल्लेख करके उसे समझाते हैं, जो एक जन्ममें माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी हो सकती है। प्रभव फिर कहता है कि विपुल धनका एक वर्षकी ही ऋतुओंमें उपभोग करके तब जंबूको प्रव्रज्या लेनी चाहिये। जंबू उससे कहते हैं कि धनका उपयोग उचित पात्रको दान देना है, उपभोग नहीं। फिर प्रभव जंबूको लोक धर्म पालनकी प्रेरणा करता है और कहता है कि उन्हें पितृऋण चुकाना चाहिये। लोक-

धर्मकी असारता बतलाते हुए जबू सिद्धिसुखकी निरुपमेयता प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार जंबूकी दृढता देख कर प्रभव उनका शिष्य होना चाहता है और मोक्षमार्ग देखनेकी आकुलता प्रकट करता है। प्रातःकाल होतेही जंबू पूर्वनिश्चयके अनुसार अलंकृत होकर प्रव्रज्याके लिए चल पड़ते हैं और सुधर्मस्वामीके समीप जाकर प्रार्थना करते हैं :—'भयव ! नित्थारेहिं म सह सयणेण' (भगवन् ! स्वजनसहित मेरा निस्तार करो।) और वे विधिपूर्वक दीक्षा लेते हैं। उनकी पत्नियाँ और माता सुव्रताके समीप शिष्या हो जाती हैं। प्रभवभी राजाकी आज्ञा पाकर जबूका शिष्य हो जाता है।

कूणिकराजके प्रश्न करने पर सुधर्मस्वामी जबूके पूर्वभवोंकी कथा कहते हैं। आज जनपदमें सुग्राम ग्राममें आर्यव नाम राष्ट्रकूट अपनी पत्नी रेवतीके साथ रहता था। भवदत्त और भवदेव दो पुत्र थे। भवदत्तने सुवादस्थमेंही दीक्षा लेली थी। बहुत दिन पश्चात् भवदत्त साधुओं सहित अपने ग्रामके समीप से निकला और गुरुकी आज्ञा लेकर वह अपने भाईको देखने गया। भवदेवका विवाह हो रहा था, भाईसे मिलनेके लिए वह विवाह छोड़ कर चला आया। भवदत्त उसे अपने गुरुके पास लेगया और संकोचवश बड़े भाईके वचनोंके अनुसार भवदेवने दीक्षा लेली। भवदत्त तो ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन करता हुआ बहुत काल पश्चात् अनशन करके समाधिको प्राप्त हुआ और इन्द्रके समान देव हुआ। भवदेव अपनी पत्नीको भूल नहीं सका। अतः स्थविरोंको बिना पूछे अपने ग्राम सुग्रामकी ओर पत्नीके दर्शन करने पहुँचा। ग्रामकी सीमा पर एक मंदिरमें एक साध्वी स्त्रीको ब्राह्मणीके साथ पूजाके लिए आते देख कर वहाँ वह विश्रामके लिए बैठ गया। श्राविकासे उसने अपने पिता आर्यव और माता रेवतीके विषयमें पूछा। श्राविकाने उत्तर दिया 'तेसिं बहू कालो कालगयाणं।' उनको बहुत काल हो गया। उदास होकर भवदेवने फिर पूछा— 'भवदेवस्स बहू नाइला जीवइ ?' अर्थात् भवदेवकी वधू नागिल जीती है ? श्राविकाने उत्सुक होकर प्रश्न किया कि वह भवदेवको कैसे जानता है और वहाँ क्यों आया है ? भवदेवने अपना परिचय तथा आनेका विचार कहा। श्राविकानेभी अपना परिचय दिया कि वह भवदेवकी स्त्री नागिल है, बहुत समय तक भवदेवको न आता देख कर वह साध्वी होगई थी। विषयोंकी निस्सारता बताते हुए भवदेवको नागिलने समझाया। उसे प्रतिबोध हुआ और स्वजनोंका मोह छोड कर तपस्या करने लगा। कालांतरमें वह देह छोड कर इन्द्रके समान तेजवान् देवपदको प्राप्त हुआ।

दूसरे जन्ममें भवदत्तका जन्म पुंडरीकिणी नगरीमें राजकुलमें हुआ और सागरदत्त नाम रखा गया। भवदेवका जन्म वीतशोका नगरीके राजाके यहाँ हुआ, नाम शिवकुमार रखा गया। सागरदत्त विरक्त होनेके पश्चात् एक बार वीतशोका नगरी आया और शिवकुमारसे वहाँ भेट हुई। शिवकुमारको पूर्वजन्मोंका स्मरण हो आया और उसने दीक्षा लेनेका निश्चय किया। राजाकी इच्छानुसार वह घर धर्मका पालन करता हुआ रहने लगा और इस प्रकार बारह वर्ष तपस्या की उसके पश्चात् वह इन्द्रके समान देव होकर ब्रह्मलोक कल्पको गया और अगले जन्ममें वही जबूकुमार हुआ।

वसुदेव हिण्डिमें वर्णित जबू चरित्रका यही संक्षिप्त रूप है। बीचबीचमें अनेक रोचक कथायें भी दी गई हैं, इतिवृत्तात्मक प्रधान इस अंशमें कविकल्पनाका प्रयोग कम मिलता है। कथा कहने

का सरस ढँग मिलता है। केवल कुछ छोटे छोटे वाक्यों द्वाराही रचयिताने मार्मिक मानवीय रससे पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। अनेकत्र भारतीय साहित्यमें कहा जाता है कि लक्ष्मणकी स्त्री उर्मिला काव्यकी उपेक्षिता रही। उनके त्याग, तपस्या, मूक पतिनिष्ठासे प्रभावित होकर उनके चरित्रको काव्यका उपकरण बनाया गया है। जिस कौशलसे तपस्विनी नागिलका चरित्र वसुदेवहिण्डिमें प्रस्तुत किया गया है वह पाठकके हृदयमें समवेदना और करुण सहानुभूति उत्पन्न कर देता है। जिस समय विवाहका धार्मिक पक्षही सम्पन्न हो पाता था और भवदेव एक सामाजिक प्रथाका नव-वधूको आभूषण पहिनानेके रूपमें पालन कर रहा था उसी समय उसका बड़ा भाई भवदेव उसे बुलाता है। प्रेमपाशको एक ओर छोड़कर भाईकी आज्ञानुकूल वह शिष्टाचारवश दीक्षा ले लेता है। नववधू प्रतीक्षा करती हुई अतमें तपस्विनी हो जाती है। भवदेवके हृदयकी प्रेमवासना मिटती नहीं, वह प्रेमसे आकर्षित हुआ फिर नागिलको देखने आता है किन्तु नागिल प्रेम दौर्बल्यसे बहुत ऊपर उठ चुकी थी और वह अपने पतिकोभी उचित प्रबोध देती है। साधारण विश्वास ऐसा बन गया है कि जैन साहित्यमें शुष्कता और वैराग्य है, स्त्री भावके प्रति उदासीनता है, नागिल जैसी साध्वी स्त्रियोंके करुण और आदर्श चित्र इसके प्रतिकार हैं। भवदेवकी इस जन्मकी दुर्बलता अगले जन्ममें दूर हो जाती है। राजप्रासादमें अनेक प्रकारके विलास और वैभवके साधनोंमें रहता हुआभी वह 'जलमें कमलवत्' व्यवहार करता है। सब दुर्बलताओंसे ऊपर उठ कर वह दृढ आचरणवाला हो जाता है और तभी वह जम्बूके रूपमें अवतरित होता है। ब्रह्मचर्य और निवृत्तिका जम्बू [illegible] अन्य आदर्श कम मिलेंगे। वसुदेवहिण्डिकी कथा गद्यमें है, उसके रचयिताने प्रत्यक्ष रूपसे अपने उत्कृष्ट कथाचरित्रोंकी प्रशंसा नहीं की है लेकिन इस प्रकार व्यंजनात्मक ढँगसे पात्रोंका चित्रण किया है कि अपने आप उनकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

जम्बूके चरित्रमें काव्य-विस्तारके लिए अनुकूल क्षेत्र देखकर अपभ्रंशमें वीर कविने (सं. १०७६ वि०) जम्बूस्वामी चरितकी रचना की है। जम्बू चरितका पर्याप्त विस्तार इस कृतिमें किया गया है। रचयिताने स्वयं अपनी कृतिको शृंगार-वीर काव्य कहा है। कृति ग्यारह सन्धियोंमें विभक्त है। कथाका क्रम बिल्कुल स्वतन्त्र है। मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन स्मरण आदिको प्रस्तावनाके रूपमें रख कर कृतिका प्रारम्भ महाकाव्यके समान किया है। दूसरी संधिसे कथाका प्रारम्भ किया गया है। जम्बूके पूर्वभवोंका वर्णन किया गया है। भवदेवकी कथाका रूप वसुदेव हिण्डिकेही समान है। पिता माताके नामोंमें अन्तर है—आर्यक और रेवतीके स्थान पर श्रुतकंठ और[1] सोमशर्मा नाम हैं। श्रुतकंठकी करुण मृत्युका वर्णन बड़ा हृदयद्रावक है। नागवसु (नागिल) का चित्र उसी प्रकार करुण यहाँभी है। यथा उसकी क्षीणकाय दशाका चित्रण इस प्रकार है :—

> सा एक खणंतरे तिय कोणंतरि दिट्ठु नियम वय-खिन्न-तणु।
> अणुहरइ विरुवहो सूलि पिसल्लहो सुक्क कवोलहे वसइ तणु ॥ २.१६

---

1. आगे इसी संधिमें पिताका नाम आर्यवसु मिलता है—जब नागिलसे देवमंदिरमें भवदेव उसके विषयमें पूछता है।

चारित्रिक दृढ़तामी उसी प्रकार कविने चित्रित की है। सागरदत्त और शिवकुमारकी मूल कथा एकसी है। शिवकुमारकी चारित्रिक दृढ़ताका कविने औरभी अधिक स्पष्ट वर्णन किया है। तरुणियोंके पास रहते हुएभी वह निरासक्त रहता है :—

पासट्ठिओवि तरुणी णियरु, मण्णइ इवहि पुंजिउव्व वयरु॥ ३.९.

दृढ़धर्म मन्त्रीसुत द्वारा पारण करनेके लिए अन्न भिक्षा माँग कर लानेका उल्लेख दोनोंही कृतियोंमें हुआ है। इसी सन्धिमें विद्युच्चर नामक चोरका प्रवेश कराया गया है, वसुदेवहिण्डिमें [illegible] चोर प्रभव नामसे आता है और अंतमें जंबूका शिष्य हो जाता है।

जंबूका चरित्र बिल्कुल स्वतंत्र ढंगसे चित्रित हुआ है। समुद्रदत्त श्रेष्ठिकी चार कन्याओंसे जंबूका विवाह होता है। वसुदेवहिण्डिमें आठ सेठोंकी आठ कन्याओंके विवाहका उल्लेख है। इससे विचित्र प्रसंग वीर कविकी कृतिमें जंबूके पराक्रम दर्शनके प्रसंग हैं और जिनके आधार [illegible] कविने अपनी कृतिको शृंगार-वीर काव्य कहा है। चतुर्थ सन्धिमें उनके द्वारा एक भयंकर मत्त हाथीके परास्त होनेकी कथा कही गई है। पाँचवी सन्धिमें जंबू केरल जाते हुवे दिखते हैं और वहाँ रत्नशेखर विद्याधरसे युद्ध करते हैं। यह युद्ध तीन सन्धियोंमें चलता है, वीर, बीभत्स, अद्भुत आदि कई प्रसंग इस प्रकरणमें मिलते हैं। अंतमें जंबूका विवाह केरलकी राजकुमारीसे होता है। आठवीं सन्धिमें पूर्वभवोंका संक्षिप्त वर्णन दुहराया गया है। फिर प्रस्तावित विवाह पूरा होता है।

विवाहोपरान्त जंबूके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होता है। अनेक आख्यान कहकर उनकी पत्नियाँ उन्हें समझाती हैं। इसी समय अर्द्धरात्रिमें विद्या बलसे लोगोंको निद्रित करनेवाला तथा ताले खोलनेवाला चोर विद्युच्चर आता है। बड़े नाटकीय ढंगसे उसका प्रवेश कराया गया है। जंबूकी माता अपना भाई कहकर जंबूसे उसका परिचय कराती है। विद्युच्चर अंतमें जंबूका शिष्य हो जाता है। जंबू, मातासहित प्रव्रज्या व्रत लेते हैं और पत्नियाँभी तपव्रत लेती हैं। विद्युच्चरका वर्णन अंतिम सन्धिमें किया गया है। सभी स्वर्गको जाते हैं।

वीरकी कृतिमें कथा ज्योंकी त्यों है, भाषा अपभ्रंश है, और काव्यात्मकता उसमें बहुत है। नागवसू, जंबू, विद्युच्चरके चरित्रोंका चित्रण बहुत सफलतापूर्वक किया गया है। सरल काव्यात्मक अनेक वर्णन कृतिमें मिलते हैं। कृतिका रूप महाकाव्यका रूप है। रचयिता दिगंबर संप्रदायके थे। अतः यह कथाकी एक धारा कही जा सकती है।

जंबूस्वामी चरितका तीसरा रूप हेमचन्द्राचार्यके परिशिष्ट पर्वमें मिलता है। पहिले जंबूके पूर्वभवोंकी कथा दी गई है और उसमे कोई अंतर नहीं है। जंबूका जन्म होता है और वीरकी कृतिके समानही जंबूका चार कुमारियोंसे विवाह होनेवाला था, उसी समय सुधर्मस्वामी आते हैं और जंबू आजीवन ब्रह्मचर्य पालनका व्रत ले लेते हैं। विवाह होनेके पश्चात् प्रभव और जंबूका संवाद वसुदेवहिण्डिकेही समान है। जंबू और पत्नियोंका संवाद वीरकी कृतिके समान है। अनेक कथा और आख्यानोंकी सृष्टि हेमचन्द्रकी है। अंतमें जब जंबूकी पत्नियाँ सब प्रकारसे जंबूको वैराग्य दीक्षाके लिए

रह देखती हैं तो वे स्वयंभी उसी प्रकार तप व्रत ले लेती हैं। चोर प्रभवभी अपने पिताकी आज्ञा लेकर तपव्रत ले लेता है। जम्बू अंतमें निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। हेमचन्द्रकी कृति संस्कृत पद्यमें है। कथामें कोई अंतर नहीं मिलते। आख्यायिकाओंकी सुंदर सृष्टि हेमचन्द्रने बहुत आकर्षक की है।

उपर्युक्त तीन जम्बू चरित्र तीन भाषाओंमें हैं, तीनमेंसे दोमें कथा कहना प्रधान उद्देश्य लगता है, वीरकी अपभ्रंश कृतिमें काव्य दृष्टिकी ओरभी प्रयास है। अपभ्रंशके एक अन्य जम्बूचरितकामी उल्लेख बड़ौदासे प्रकाशित पत्तनस्थ भंडारकी ग्रंथसूचीमें मिलता है (पृ० २७१) विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत इस तपस्वी चरित्रके विकासका अध्ययन मनोरंजक हो सकता है। जम्बूके आदर्श चरित्रकी तुलना ब्राह्मण सम्प्रदायमें किससे हो सकती है, ढूंढना आसान नहीं है। जैन आदर्शवादमें तो यह चरित्र अपने आपमें अनुपम है।

जिनवाणी–वैशिष्ट्य।

कुमति कुरंगनिको केहरि समान मानी,
मानो इभ[1] मांथें अष्टापद हहरात हैं।
दारिद निदाघ[2] टार प्रावृट्[3] प्रचंड धार,
कुनै-गिरि-खंड खंड विद्यु घहरात है॥
आतमरसीको है सुधारसको कुंड सुन्द,
सम्यक महीरुहको[4] मूल लहरात है।
सकल समाज शिवराजको भजन जासें,
ऐसो जैन-बैनको पताका फहरात है॥

—कविवर वृन्दावनदासजी

---

१. हाथी. २. ग्रीष्मऋतु. ३. वर्षा. ४. वृक्षका.

जैन स्तूप और पुरातत्त्व।*

(ले० श्री० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, लखनऊ संग्रहालय)

अपने अपने प्रधान आचार्योंकी समाधियोंका पूजन प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदायमें अत्यन्त पवित्र कार्य माना जाता है। बौद्ध और जैन सम्प्रदायोंमें स्तूप निर्माण और पूजन इसी पद्धतिका प्रतीक है। मूलतः स्तूपोंका निर्माण, किसी आचार्य विशेषकी स्मृतिमें, किया जाता था। गौतम बुद्धके पाञ्च-भौतिक अवशेषों पर अष्टस्तूपोंका निर्माण किया जाना प्रसिद्धही है। उसके उपरान्तभी भिन्न भिन्न बौद्ध आचार्योंके अवशेषों पर स्तूप बनते रहे। परवर्ती कालमें इस पद्धतिका इतना अधिक प्रचलन हुआ कि स्तूपके आकारकाही पूजन पुण्यकार्य माना जाने लगा। फलतः लाखों और करोडोंकी संख्या में लाक्षणिक स्तूप (votive stupas) बनने लगे और स्तूप स्वयंही एक प्रकारकी देवप्रतिमामें परिवर्तित होगया। यही परंपरा हमें जैनोंमेंभी मिलती है। जैन और बौद्ध धर्म लगभग समकालीन होनेके कारण यह कहना कठिन है कि स्तूप-निर्माण-योजनाका उद्गम किस सम्प्रदायसे हुआ। जिस प्रकार आज बौद्ध स्तूप सारे भारतमें विद्यमान हैं उसी प्रकार एक समय जैन स्तूपभी थे परन्तु बौद्धोंकी परंपरा अक्षुण्ण बनी रही और जैनोंकी विलीन हो गई। [illegible] लेखका विषय साहित्य और पुरातत्त्वकी सहायतासे एक समय भारतमें फैले हुए जैन स्तूपोंका संक्षिप्त अनुशीलन है।

'राजावलीकथा' में इस बातका उल्लेख मिलता है कि आचार्य भद्रबाहुके [illegible] गोवर्धन महामुनि कोटिकापुरमें जम्बुस्वामिके स्तूपका दर्शन करनेके लिये अपने शिष्य समुदायके साथ गये थे।[1] यह तो दिगंबर और श्वेताम्बर दोनोंहीको समान रूपसे मान्य है कि जम्बुस्वामि अन्तिम केवली थे और उनके बाद भद्रबाहु पांचवे श्रुतकेवली हुए हैं। आचार्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मौर्यके दीक्षागुरु थे। इसलिये इनकाभी समय ई० पू० तृतीय शताब्दि था; अर्थात् इस कालसे कुछ पहिलेही कोटिकापुरमें जम्बुस्वामिका स्तूप रहा होगा।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् पावापुरीमें देवोंद्वारा एक स्तूप निर्माणका उल्लेख जैन शास्त्रोंमें मिलता है;[2] परन्तु पुरातत्त्व इस विषयमें मौन है।

'तिलोयपण्णत्ती पइण्णय' से इस बातका प्रमाण मिलता है कि एक समय पाटलिपुत्रभी जैन धर्मका प्रमुख केन्द्र था। नन्दोंने यहां पर पाँच जैन स्तूप बनवाये थे जिन्हें कल्कि नामक एक दुष्ट राजाने धनकी खोजमें खुदवा डाला था।[3] युवानच्वांगनेभी पाटलिपुत्रके पास पश्चिममें पाँच स्तूप

---

* इस लेखके लेखनमें श्रीयुत कामताप्रसादजी जैनने मुझे अत्यधिक सहायता की है, अतएव मैं उनका चिरकृतज्ञ हूं।

१. B Lewis Rice–Inscription at Śravan Belgola, p. 3

२. पावापुरी तीर्थका प्राचीन इतिहास पृ० १.

३. तिलोयपण्णत्ती पइण्णय—कल्किप्रकरण.

भग्नावस्थामें देखे थे। परन्तु उसने इन स्तूपोंको बौद्ध माना था।[३] किसी अबौद्ध राजा द्वारा उनके उत्खननकामी [illegible] उल्लेख करता है। पहाड़पुरके ताम्रपत्रमें (ई० स० ४७९) आचार्य गुहनन्दिन और उनके शिष्य 'पंचस्तूपान्वयी' कहे गये हैं।[५] हो सकता है कि पटनेके प्राचीन पंचस्तूपोंके प्रश्रयमें जो संघ रहता था, [illegible] नदोंके उन प्राचीन पाँच स्तूपोंके कारण पञ्चस्तूपान्वयी कहलाता हो। नवनंद जैनधर्मावलम्बी थे या नहीं यह हम नहीं जानते, हाँ इतना अवश्य ज्ञात है कि उनमेंसे किसीने कलिंगसे जिन-प्रतिमा लाकर अपने यहाँ रखी थी।[६] सम्भव है कि पूजनार्थही वह प्रतिमा वहाँ लाई गई हो। पाटलिपुत्रके उत्खननमें मौर्यकालीन स्तर [illegible] कुछ चबूतरे ३०'x९' ४"x४३" के मिले हैं। डॉ० मोतीचन्द्रजीका अनुमान है 'कि इन लकड़ीके चबूतरोंका ठीक ठीक तात्पर्य क्या था यह कहना कठिन है, लेकिन यह सम्भव है कि इनका सम्बन्ध नन्दोंके स्तूपोंसे रहा हो।'[७]

जैनस्तूप अथवा जैनाचार्योंकी समाधियोंका उल्लेख हमें खारवेलके हाथीगुंफावाले लेखमेंभी मिलता है। इन समाधियोंको 'निसिदिया' या निषीदिकाएँ कहते थे। 'निषीधि' 'निषिद्धि' 'निषिद्धि' और 'निषिद्धिगे' इत्यादि एकही शब्दके भिन्न भिन्न रूप हैं।[८] इस प्रकारकी एक 'अर्हत् निसिदिया' खारवेलके समयमेंभी वर्तमान थी।[९] यह किसी अर्हतके स्मरणार्थ निर्मित आवा-रण समाधि न होकर वस्तुतः स्तूपही था क्योंकि 'निसिदिया' शब्दका विशेषण 'काय' इस ओर संकेत करता है कि स्तूपमें किसी अर्हतके, जिसके नामसे हम परिचित नहीं है पाञ्चभौतिक अवशेष अन्तर्निहित थे।[१०]

कलिंग देशमें प्रामाणिक जैन स्तूपोंकेभी होनेका प्रमाण हमें मिलता है। खण्डगिरीकी गुंफा ओंमें जैन सम्प्रदायकी वस्तुएँ जैसे तीर्थंकर प्रतिमाएँ, त्रिशूल, स्वस्तिक, वेदिकास्तम्भ इत्यादि पाई गई हैं परन्तु स्तूपोंको छोड़ कर कोईभी ऐसी वस्तु नहीं मिली है जो निश्चित रूपेण बौद्ध कही जा सके। अतएव वे स्तूपभी जैनस्तूपही होने चाहिये, बौद्ध नहीं।[११] इन वस्तुओंका यहाँ पाया जाना कोई आश्चर्यका विषय नहीं है क्यों कि कलिंग प्राचीन कालसेही जैन धर्मका केन्द्र [illegible] चुका था।

जैन अनुश्रुतिके अनुसार तक्षशिलाभी इस सम्प्रदायका प्रमुख केन्द्र था। प्राचीन टीका साहित्य में इसे 'धर्मचक्रभूमि' कहा गया है।[१२] प्रभावक चरितमें मानदेव सूरिकी कथाके अन्तर्गत तक्ष-

---

४ Watts—On Yuan Chawang's Travels in India, p 96

५. Epigraphia India, Vol XX pp 59, line 6th

६ Ibid pp 71 Hāthīgumphā Inscription of Khāravel, line 12th.

७. डा० मोतीचन्द्र-'प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ' पृ० २३५.

८ Indian Antiquary Vol XII pp 202

९ Epigraphia India, Vol. XX p 71 Hāthīgumphā Inscription, line 14th

१० Chimmanlal Shah—Jainism in North India p 182

११ Ibid, pp 157-158 and 248-49.

१२. बृहत्कल्पसूत्र १७-४४.

शिलाका वर्णन आया है।[१३] जैन अनुश्रुतिके अनुसार तक्षशिला पर एक भयंकर तुरुष्क आक्रमण हुआ था, जिसके फलस्वरूप वह नगरी ध्वस्त कर दी गई। पुरातत्वविभाग द्वारा किये गये उत्खननसे यह सिद्ध होता है कि तक्षशिलाका प्राचीन कालसेही तीन भिन्न भिन्न स्थलों पर शिलान्यास हो चुका है। प्राचीनतम नगर भावके भीडके टीले पर था। दूसरा था तक्षशिलाका सिरकप नगर व तृतीय सिरसुख सिरकप नगर भारतीय-यूनानी राजाओं (Indo-Bactrian kings) द्वारा बसाया गया था। उसे ध्वस्त कर कुषाण नृपतियोंने सिरसुखकी स्थापना की। डॉ० मोतीचन्द्रने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि तक्षशिला पर 'जैन अनुश्रुतिमें कथित आक्रमण ईसाकी पहली शताब्दिमें कुषाणों द्वारा किया गया था। अर्थात् इस आक्रमणके फलस्वरूप सिरकप नगर नष्ट कर दिया गया।[१४] इसी सिरकप नगरकी खुदाईमें हमें जैन मन्दिर व चैत्यके भग्नावशेष मिले हैं। इन चैत्य-स्तूपोंकी बनावट मथुराके अर्ध चित्रोंमें अंकित जैन स्तूपोंसे बहुत मिलती जुलती है।[१५] यह आक्रमण ईसाकी प्रथम शताब्दिमें हुआ होगा। इससे पूर्व वहाँ पर जैनोंका अस्तित्व रहा होगा जो अनुश्रुति द्वारा प्रमाणित है।

कनिष्कके समय पेशावरमेंभी एक जैन-स्तूप था। धार्मिक होनेके कारण उसने स्तूपको एक बार प्रणाम किया परन्तु उसके प्रणाम करतेही स्तूप भग्न हो गया क्यों कि उसे राजाके प्रणाम करने का उच्च अधिकारही प्राप्त नहीं था।[१६] पुरातत्व इस जैन-स्तूपके विषयमें मौन है।

उत्तर भारतमें जैन स्तूपोंकी दृष्टिसे मथुरा अत्यन्तही महत्वपूर्ण स्थल है। यहाँ पर जैन अनुश्रुतियोंके साथ पुरातत्वभी हमारी बहुती सहायता करता है। व्यवहारभाष्य[१७] और विविध-तीर्थ[१८] कल्पमें मथुराके 'देवनिर्मित' स्तूपके विषयमें अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। उनको देखने पर हम निम्नांकित महत्वपूर्ण बातें जानते हैं:—

१. देवगणोंने मथुरामें रत्नजटित सुवर्णके स्तूपकी रचना की। वह देवमूर्तियों, ध्वज, तोरण, मालाएँ व छत्रत्रयीसे अलंकृत था। उसमें तीन मेखलाएँ थी। प्रत्येक मेखलामें चारों ओर देवमूर्तियाँ थी। अतः स्तूपको देवनिर्मित कहा गया है।

२. इस स्तूपके कारण बौद्धों और जैनोंमें झगडा हुआ था। फलतः स्तूप पर बौद्धोंका छै महीने तक अधिकारभी था। अन्ततोगत्वा जैन विजयी हुए।

३. पार्श्वनाथके जन्म तक स्तूप अनावृत पड़ा था। पश्चात् इसे ईंटोंसे ढँक दिया गया।

---

१३. प्रभावक चरित—मानदेव प्रबन्ध श्लोक २७ से आगे.

१४. डा. मोतीचन्द्र—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ पृ. २४३.

१५. Sir John Marshall-Guide to Taxila, (Calcutta 1918 p 72).

१६ G K Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism, Bombay 1923, p 197 डॉ. मोतीचन्द द्वारा उद्धृत, प्रे. अ. ग्र. पृ. २३८.

१७. व्यवहारभाष्य, ५. २७,२८.

१८. विविधकल्पसूत्र (स. जिनविजय) पृ. १७-१८.

४. महावीरसे लगभग १३०० वर्षों पश्चात् बप्पभट्टीने स्तूप पर पत्थर लगवा [illegible] उसका जीर्णोद्धार कराया।

अब हम कंकाली टीलेके उत्खननसे प्राप्त सामग्रीकी सहायतासे उपर्युक्त बातोंकी मीमांसा करनेका प्रयत्न करेंगे।

१. मथुराका जैन-स्तूप देवनिर्मित कहा जाता था, यह बात वहाँसे प्राप्त एक शिलालेखसे भी सिद्ध होती है।[१९] इसका नाम 'वोद्व' स्तूप था। कंकाली टीलेसे जो आयागपट्ट तथा अन्य शिलाखण्ड प्राप्त हुए हैं, उनमेंसे कुछ पर छोटे आकारके स्तूप प्रदर्शित हैं।[२०] इनको देखकर [illegible] वृहदाकार जैन-स्तूपोंके आकार प्रकारकी कुछ कुछ कल्पना कर सकते हैं। हम अभी देव-निर्मित स्तूपका वर्णन करते समय देख आये हैं कि देवताओंने तीन मेखलाओं वाले छत्र-त्रय, ध्वज, माला इत्यादिसे अंकित स्तूपका निर्माण किया था। उपर्युक्त शिलापट्टों पर पाये जानेवाले स्तूपोंमें अधिकतर दो मेखलाओंसे युक्त हैं। केवल एक स्तूप तीन मेखलाओंसे [illegible] है।[२१] इस स्तूपका प्रदर्शनभी महत्वपूर्ण ढंगसे किया गया है। द्वार-तोरण पर अंकित इस स्तूपका पूजन करनेके लिये सुपर्ण और किन्नर आ रहे हैं। छत्रत्रयी किसीभी स्तूप पर नहीं है। सारे एकही छत्रसे शोभित हैं। वस्तुतः प्राचीन कालमें छत्रावली तो तीर्थंकर प्रतिमाओं परभी नहीं रहती थी। मध्यकालमें आकर छत्रावली की पद्धतिका प्रारम्भ हुआ। विविधतीर्थकल्पभी जिसमेंसे स्तूपका वर्णन उद्धृत किया गया है विक्रम की चौदहवीं शताब्दिका ग्रन्थ है। अतएव, उसमें उल्लेखित छत्र-त्रयीका प्राक्-कुषाण या कुषाण कालीन जैन स्तूपों पर न पाया जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। माला, देवमूर्तियाँ इत्यादिभी इन स्तूपों पर पाई जाती हैं।

'देवनिर्मित' शब्दके कारण कुछ विद्वानोंने इस स्तूपको प्राक्-मौर्यकालीन माना है।[२२] परन्तु पुरातत्वसे इसकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि ऐसा होता तो मौर्यकालके भग्नावशेष अवश्यही मिलते। परन्तु प्राप्त वस्तुओंमें लगभग सारी वस्तुएँ शुंग, कुषाण या उसके बादके कालकी हैं। हो सकता है कि देवों द्वारा मूल-स्तूप निर्माणवाली कथाके कारण तथा स्तूपको दैवी शक्तिसे युक्त अथच महत्वपूर्ण दिखलानेके लिये उसके नामके साथ देवनिर्मित विशेषण जोड़ दिया गया हो। इसी अर्थमें 'देव' शब्दका प्रयोग हम उस कालके व्यक्तिगत नामोंके साथभी पाते हैं। कुषाण नृपति अपनेको 'देवपुत्र' कहते थे, अशोकका 'देवानां प्रिय' नाम तो प्रसिद्धही है।

जैनों और बौद्धोंमें कुछ झगड़ा हुआ था इसकीभी पुष्टि पुरातत्वसे होती है। किसी तत्कालीन

---

१९ Smith—The Jain Stupa and other antiquities of Mathura, pl. VI, p. 12.

२० Ibid plates, IX, XII, XV, XVII, XX Mathura Museum Guide Book. Pl Also Lucknow Museum exhibit No. J. 355

२१ Ibid pl XV, page 22

२२. श्रीभागरथी—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. २५२.

व्यक्ति या समूह द्वारा तीर्थंकर प्रतिमाओं तथा जैन कथाओंसे अंकित शिलापट्टोंको भग्न किये जानेके कई उदाहरण हमें प्राप्त हैं। कुछ पर तो लेख लिखे गये हैं[२३] और कुछको काँट-छाँट कर वेदिका-स्तम्भ या सूचिकाओंमें[२४] परिवर्तित कर दिया गया है। हो सकता है कि अनुश्रुतिके कथनानुसार बौद्धोंकाही यह कार्य हो। स्वयं जैनोंद्वाराही उनकी पूजनीय परन्तु भग्न मूर्तियोंका इस प्रकार उपयोग किया जाना-जैसा कि स्मिथ साहबका कथन है[२५]-अधिक उपयुक्त नहीं जान पडता क्यों कि भारत वर्षमें खण्डित प्रतिमा या तो जल-प्रवाहित कर दी जाती है या किसी अन्य सुरक्षित स्थल पर रखी जाती है। उसका पुनरुपयोग नहीं किया जाता।

३ व ४ के विषयमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि किसी समय स्तूप केवल ईंटोंकाही बना हो जैसे अशोककालीन बौद्ध स्तूप पाये जाते हैं। कुछ कालके अनन्तर शुंग और कुषाणकालमें वह प्रस्तराकृत कर दिया गया हो।

दक्षिण भारतमें आचार्य भद्रबाहुके नेतृत्वमें जैन साधुओंकी एक बडी धार इधरके एक भयंकर अकालसे बचनेके लिये गई। श्रवणबेल्गोळा नामक स्थान पर भद्रबाहुकी मृत्यु हुई। चन्द्रगुप्तको छोड कर अन्य साधु दक्षिण पर्यटन एवं 'जिन बिम्बों' के दर्शनके लिये चल पडे। राजावली कथामें इसका उल्लेख मिलता है कि कुछ कालके अनन्तर सिंहसेनके पुत्र भास्कर नामक राजाने श्रवणबेल-गोळामें एक चैत्यालय बनवाया। सम्भवतः यह आचार्य भद्रबाहुकी स्मृतिमेंही बनवाया गया हो।[२६]

धारवाड जिलेसे प्राप्त कुछ शिलालेखोंसेभी अर्हतोंकी निषिदिकाओंका बनना प्रमाणित होता है।[२७] हम पहलेही देख चुके हैं कि निषिदिकाभी स्तूपकाही पर्यायवाची शब्द है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम कह सकते हैं कि जैन स्तूपभी किसी समय भारतवर्षमें अच्छी संख्यामें उपस्थित थे परन्तु परवर्ती कालमें उनका निर्माण बदला हो गया था। इसका एक कारण यहभी हो सकता है कि बौद्ध धर्मके समान जैन धर्म भारतमें चिरकाल तक प्रबल नहीं रहा। फलतः उसके प्रतीकोंका निर्माण या जीर्णोद्धारभी उतनी अधिक मात्रामें नहीं हो सका।

---

२३. Smith—The Jain Stupa and other antiquities, p 3.

२४. लखनऊ संग्रहालयकी प्रतिमाएँ नं. J. 354, 355, J 356, J 357 व J 358.

२५. Smith—The Jain Stupa and other antiquities p 3

२६ B. Lewis Rice—Inscriptions of Śravana Belgola p 3

२७ Jain Antiquary, Vol XII, p 102.

मथुराका 'देवनिर्मित बौद्ध' स्तूप।

(ले. श्री. कृष्णदत्त वाजपेयी, एम. ए., पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा)

सन् १८९० ई० का वह दिन बड़ा भाग्यशाली था जब कि लखनऊ संग्रहालयके क्यूरेटर डा० फ्यूहररको मथुराके प्रसिद्ध कंकाली टीलेकी खुदाई करवाते समय जैन कलाकी विविध वस्तुओंके साथ एक अभिलिखित शिलापट्ट प्राप्त हुआ। यद्यपि दुर्भाग्यसे यह शिलापट्ट भग्नावस्थामें मिला है और उसके ऊपरकी मुख्य प्रतिमा तथा नीचेका लगभग आधा दाहिना अंश उपलब्ध नहीं हो सका तथापि जो अंश प्राप्त हुआ है वह मथुरा क्या, सारे भारतमें जैन धर्म एवं कलाकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये एक महत्त्वपूर्ण अवशेष है। इस शिलाखंड पर ई० द्वितीय शतीमें मथुरामें प्रचलित ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषामें एक अभिलेख उत्कीर्ण है जिससे पता चलता है कि शक संवत् ७९ (= १५७ ई०) में भगवान् अर्हत्की प्रतिमा 'देवताओंके द्वारा निर्मित' बौद्ध नामक स्तूपमें प्रतिष्ठापित की गई। यह स्तूप आधुनिक मथुरा नगरके दक्षिण पश्चिममें वर्तमान कंकाली नामक टीले पर स्थित था। ई० द्वितीय शतीमें इस प्राचीन स्तूपका आकार-प्रकार ऐसा भव्य तथा उसकी कला इतनी दिव्य थी कि मथुराके इस 'स्वर्णकाल' के कला-मर्मज्ञोंकोभी उसे देख कर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ा। उन्होंने अनुमान किया कि यह स्तूप संसारके किसी प्राणीकी कृति न होकर देवोंकी रचना होगी। अतएव उन्होंने उसे 'देवनिर्मित स्तूप' की संज्ञा दी। यहाँ इस महत्त्वपूर्ण शिलापट्ट तथा उस परके लेखकी संक्षिप्त चर्चा की जाती है—

प्रस्तुत शिलापट्ट एक बड़ी आर्हत् मूर्तिका नीचेका भाग है और वहभी केवल आधेसे कुछ अधिक बचा है। शेष अंश नहीं मिल सका।[1] डा० विंसेंट स्मिथका अनुमान है कि मुख्य प्रतिमा खड़ी रही होगी। (स्मिथ—'जैन स्तूप' पृ० १२-१३, फलक ६) परंतु चौकीके ऊपर चरणोंके कोई ऐसे चिन्ह अवशिष्ट नहीं हैं, जिनसे स्मिथके उक्त अनुमानको ठीक माना जा सके। इसके विपरीत प्रस्तुत पाषाण-खंडके काफी चौड़े होनेसे कहा जा सकता है कि प्रधान मूर्ति पद्मासनमें बैठी हुई ध्यानमुद्रामें रही होगी। बचे हुए टुकड़ेके बीचमें कमल पुष्पके ऊपर त्रिरत्न अंकित है और उस पर एक चक्र रखा है। कमलके एक ओर शंख है, उसके दूसरी ओरभी इसी प्रकारका शंख रहा होगा, जो टूट गया है। चक्रके बाईं ओर दाहिने हाथोंमें कमलमालाएँ लिए हुवे तीन स्त्रियाँ खड़ी हैं। वे अपने बाएँ हाथोंसे वस्त्र सँभाले हैं। ये वस्त्र गलेसे लेकर पैरों तक उनका सारा शरीर ढके हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे गलेमें तथा कमरके समीप खोंसे हुए हैं। तीसरी स्त्रीके पीछे हाथ जोड़े हुए एक छोटी लड़की खड़ी है।

1. यह मूर्ति लखनऊ संग्रहालयकी जैन दीर्घामें प्रदर्शित है। इसका नंबर जे. २० है।

पंक्ति १—

पंक्ति १—

पंक्ति १—

मथुरासे प्राप्त 'वोद्वस्तूप' सम्बन्धी शिलापट्टपर उत्कीर्ण लेख।

उसके नीचे बाईं ओरको मुख किए हुए दीर्घकाय सिंह बैठा हुआ है। इसी प्रकारका सिंह पत्थरके दाहिने किनारे परभी चित्रित रहा होगा। त्रिरत्न तथा चक्रके दाईं ओर अपने बाएँ हाथमें वस्त्र डाले हुए एक साधु पूजक खड़ा है। उसके समीपही इसी प्रकारकी अन्य दो या तीन पुरुष प्रतिमाएँ रही होंगी, जो टूट गई हैं। कंकाली टीलेसे मिली हुई तीर्थंकर प्रतिमाओंकी अधिकाश चौकियों पर इसी प्रकार एक ओर पुरुष-पूजक तथा दूसरी ओर स्त्री श्राविकायें अंकित मिलती हैं।

इस शिलापट्ट पर उत्कीर्ण अभिलेख चार पंक्तियोंमें था, परन्तु अब केवल तीन पंक्तियाँ शेष हैं। तीनों पंक्तियोंके अंतिम शब्द पूर्ण हैं परन्तु आदिके अक्षर टूट गये हैं। चौथी पंक्ति, जिसमें चार या पाँच अक्षर रहे होंगे, बिल्कुल टूट गई है। लेखको स्मिथने इस प्रकार पढ़ा है—

(पं० १)...स ७० ९ व ४ दि २० एतस्यां पूर्व्वायां कोट्टिये गणे वईराया शाखाया

(पं० २)..को अय वृधहस्ति अरहतो नन्दि[आ]वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति

(पं० ३)...भार्य्यये श्राविकाये [दिनाये] दान प्रतिमा वोद्दे थूपे देवनिर्मिते प्र...

प्रथम पंक्तिमें 'व' के नीचे रेफ न होकर ऊपर हैं, अतः उसे 'र्व' पढ़ना ठीक होगा। जर्मन विद्वान् डा० ब्यूलर प्रथम पंक्तिमें 'वइराया' पढ़ते हैं (एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृ० २०४, नं० २०)। परन्तु दीर्घ 'ई' स्पष्ट है। दूसरी पंक्तिमें 'को' के पहले 'वाच' शब्द लगा कर वे 'वाचको' पूरा करते हैं। यह असंभव नहीं, परन्तु इस शब्दके पहलेभी एक या दो शब्द रहे होंगे। दूसरी पंक्तिमें 'हस्ति' को 'हस्ति' पढ़ना ठीक होगा, क्यों कि 'सि' के नीचे का वर्ण गोल है और उसके बीचका बिंदुभी दिखाई देता है। इसी पंक्तिमें 'नन्दि' के स्थान पर ब्यूलर 'णन्दि' पढ़ते हैं। मैंने लेखकी छापको ध्यानपूर्वक देखा है और मेरा विचार है कि 'न(ण)न्दि[आ]वर्तस' पाठ ठीक नहीं। पहला अक्षर 'न' न होकर 'म' है। इसके नीचेका त्रिभुज खुला न होनेके कारणही सम्भवतः उक्त दोनों विद्वानोंको भ्रम हुआ और एकने उसे 'न' पढ़ा तो दूसरेने 'ण'। परन्तु उसके ऊपरकी मात्रा जैसी रेखाओंकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। दूसरा अक्षर निर्विवाद 'नि' है। उसके नीचे एक तिरछी रेखा लगी है। स्मिथ तथा ब्यूलर दोनोंने इस रेखाको 'द' मान लिया है, जो छापको देखनेसे ठीक नहीं ज्ञात होता। मेरा अनुमान है कि लेख उकेरने वालेने 'म' के नीचे यह रेखा लगानेके बजाय भूलसे उसे 'नि' के नीचे लगा दिया। अतः अभीष्ट शब्द 'मुनि' के स्थान पर 'मुनि' हो गया, जो अशुद्ध है। तीसरा वर्ण 'अ' या 'आ' न होकर 'सु' है। इसके ऊपर लगे हुए ऊर्ध्व रेफ (ˆ) की ओर उक्त विद्वानोंका ध्यान नहीं गया, पर यह छापमें स्पष्ट है। अतः इस वर्णको 'र्सु' मानना चाहिए। चौथा अक्षर 'व' अवश्य है, पर उसके नीचे रकार लगा है, अतएव उसे 'व्र' पढ़ना ठीक होगा। पाँचवा वर्ण निस्संदेह 'त' और छठाँ 'स' है। इन दोनोंके ऊपर रेफ लगेसे दिखाई पड़ते हैं। स्मिथ तथा ब्यूलरने 'त' के ऊपर तो रेफ माना है पर 'स' के ऊपर नहीं। मेरे विचारसे दोनों वर्णोंके ऊपर के रेफ (यदि वे हैं) अप्रासंगिक हैं, और लेखकके प्रमादवशही आगये होंगे। लेखकी भाषा मथुराके

प्राप्त अनेक कुषाण-कालीन जैन अभिलेखोंकी भाषा जैसी है, अतः इसमें व्याकरणके कई दोषोंका रह जाना आश्चर्यजनक नहीं।

अस्तु, मेरे विचारसे 'व(ण)न्दि[आ]वर्तस' पाठ न होकर 'मुनिर्सुव्रतस' होना चाहिए। यदि 'सु' के ऊपर वाले रेफको लेखककी भूल समझी जाय तो शुद्ध पाठ 'मुनिसुव्रतस' होगा। तीसरी पंक्तिका अंतिम अक्षर 'प्रि' है। संभव है कि चौथी पंक्तिमें 'यता जिनः' या 'अर्हतो' रहा हो। उपर्युक्त पाठ माननेपर लेखका अनुवाद इस प्रकार होगा।

...वर्ष ७९ की वर्षाऋतुके चौथे मासमें बीसवें दिन, इस तिथिमें आर्यवृद्धहस्तिने जो कोट्टिय गणकी वईर शाखाके [आचार्य] थे, अर्हत् मुनिसुव्रतकी प्रतिमाका निर्माण करवाया। [उनकीही प्रेरणासे] यह प्रतिमा, जो .....की भार्या श्राविका [दिना] का दान है, देवोंके द्वारा निर्मित स्तूपमें [प्रतिष्ठापित की गई, अर्हत् प्रसन्न हों]।

लेखका वर्ष ७९ निस्संदेह शक संवत्को सूचित करता है जिसका प्रारंभ ७८ ई. से हुआ। कंकाली टीलेसे मिले हुए अधिकांश लेखोंमें इसी संवत्का प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत अभिलेखका समय (७९+७८) १५७ ई० आता है। यह कुषाण सम्राट् वासुदेवके राज्यकालमें पड़ता है, जिसने शक सं० ७४ (१५२ ई.) से लेकर सं० ९८ (१७६ ई.) तक मथुरामें शासन किया। लेखकी प्रथम पंक्तिके प्रारंभमें अन्य लेखोंके समानही 'स ७०९ के पहले' 'महाराजस्य (या राज्ञो) वासुदेवस्य' शब्द रहे होंगे। उसके पहले संभवतः 'सिद्ध नमो अरहतानं' आदि रहा होगा। कोट्टिय गण तथा वईर शाखाका उल्लेख मथुरासे प्राप्त अन्य अनेक लेखोंमेंभी हुआ है।

अब यह विचारणीय है कि प्रस्तुत शिलापट्ट पर किस तीर्थंकरकी प्रतिमा रही होगी। यदि लेखका 'मुनिसुव्रत' पाठ ठीक है तो अवश्य उन्हींकी मूर्ति रही होगी। परंतु त्रिरत्न चिन्हके नीचे कमलकी बराबर अंकित होनेसे भ्रम हो सकता है कि यह चिन्ह, जो भगवान् नेमिनाथ या अरिष्ट-नेमिका प्रतीक है, सुव्रतमुनिकी प्रतिमाके साथ क्यों दिखाया गया। इस संबंधमें यह कहा जा सकता है कि कमलकी अगल-बगल रखे हुए दोनों शंख (दूसरा पूर्णतया नहीं) तीर्थंकरके प्रतीकरूप नहीं उत्कीर्ण किये गये अपितु जैन धर्मके प्रशस्त चिन्होंके अंतर्गत होनेके कारण कमल, चक्र, त्रिरत्न आदिके साथ यहां चित्रित कर दिये गये हैं। शंखनिधिके रूपमें इनका चित्रण मथुरासे प्राप्त कुषाण-कालीन अन्य कतिपय शिलाखंडों परभी पाया जाता है। यदि यह कहा जाय कि सुव्रतमुनिका चिन्ह विशेष कूर्म यहां क्यों नहीं बताया गया तो कह सकते हैं कि कुषाण तथा गुप्तकालीन कितनीही तीर्थंकर मूर्तियां मिली हैं जिन पर उन-उन तीर्थंकरोंके चिन्ह नहीं मिलते। चिन्हों या प्रतीकोंका चित्रण मध्यकालसेही विशेष रूपमें पाया जाता है। 'नंदिआवर्त' पाठके आधारपर फ्यूहरर, स्मिथ आदिका मत है कि प्रस्तुत शिलापट्ट पर अठारहवें तीर्थंकर अरनाथकी, जिनका चिन्ह नंद्यावर्त है, मूर्ति रही होगी। परंतु उपर्युक्त कथनके आधारपर यह मत निर्विवाद नहीं प्रतीत होता।

इस लेखकी सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात इसमें 'देवनिर्मित बोद्ध स्तूप' का उल्लेख है। इस लेखके मिलनेसे पूर्व लोगोंकी धारणा थी कि भारतमें सबसे पहले बौद्ध स्तूपोंका निर्माण किया गया।

इस प्रस्तुत लेख द्वारा यह धारणा प्रायः सिद्ध हुई और यह प्रमाणित होगया कि बौद्ध स्तूपोंके बननेके कई शताब्दी पूर्व जैन स्तूपों आदिका निर्माण हो चुका था। इस लेखकी पुष्टि साहित्यिक प्रमाणोंसेभी होती है जिन्हें ब्यूलर, स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानोंनेभी स्वीकार किया है। सबसे पहले ब्यूलरने जिनप्रभरचित 'तीर्थकल्प' की ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित किया, जिसमें प्राचीन प्रमाणोंके आधार पर मथुराके देवनिर्मित स्तूपकी नींव पड़ने तथा उसको मरम्मत कराने आदिका वर्णन है।[२] इस ग्रन्थके अनुसार यह स्तूप पहले स्वर्णका था और उस पर अनेक मूल्यवान पत्थर जड़े हुए थे। इस स्तूपको कुबेरा देवीने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथके सम्मानमें स्थापित कराया था। तेईसवें जिन पार्श्वनाथके समयमें इस स्वर्ण-स्तूपको चारों ओर ईंटोंसे आवेष्टित किया गया और उसके बाहर एक पाषाण-मंदिरकाभी निर्माण किया गया। 'तीर्थकल्प' से यहभी पता चलता है कि भगवान् महावीरकी ज्ञान-प्राप्तिके १३०० वर्ष बाद मथुराके इस स्तूपकी मरम्मत बप्पभट्ट सूरिने कराई। भगवान् महावीरका उक्त समय छठी शती ई० पू० का मध्य मानने पर स्तूपकी मरम्मत करानेका काल आठवीं श० के मध्य भागमें आता है। अतः यह निश्चित है कि इस काल तक कंकाली टीलेपर उक्त स्तूपका अस्तित्व था। पाचवीं शतीमें मथुरा पर आक्रमण करने वाले हूणोंने संभवतः इस स्तूपको नष्ट करनेसे छोड़ दिया। दसवीं तथा ग्यारहवीं शतीके दो अभिलेखोंसे पता चलता है कि कमसे कम १०७७ ई० तक कंकाली टीलेपर जैन स्तूप तथा मंदिर बने हुए थे।[३] संभवतः देवनिर्मित स्तूपकाभी अस्तित्व इस काल तक रहा होगा क्योंकि बप्पभट्ट सूरिने लगभग तीन शताब्दी पहलेही उसकी मरम्मत करा दी थी और उसके अनन्तर १०७७ ई० तक आक्रमणकारियोंका विध्वंसक हाथ इधर नहीं बढ़ा था। भगवान् पार्श्वनाथका समय, जब कि 'बौद्ध' स्तूपका पुनर्निर्माण कराया गया, ६०० ई० पू० से पहलेका है, क्योंकि वे भगवान् महावीर (ई० पू० ५९९-५२७) के पूर्वज थे। द्वितीय शती ई० में स्तूपका यही पुनर्निर्मित रूप जनताके समक्ष था, जिसके कला-सौंदर्य पर मुग्ध होकर जनताने उसे 'देवनिर्मित' उपाधि द्वारा अभिहित किया।

"जैन-वचन अंजनवटी, आँजैं सुगुरु प्रवीन।
रागतिमिर तऊ ना मिटै, बड़ो रोग लखलीन॥"

—कविवर भूधरदासजी

---

२. ब्यूलर—ए लीजेंड ऑफ दि जैन स्तूप ऐट मथुरा, पृ० १८९७।
३. देखिए जैन ऐंटिक्वेरी, जुलाई, १९४६, पृ. ४०-४१।

प्रयाग संग्रहालयमें जैन मूर्तियां।

(श्री० सतीशचन्द्र काला, एम. ए., अध्यक्ष, प्रयाग संग्रहालय)

जैन मूर्तिकला एक अति महत्त्वपूर्ण विषय है। गत पिछले ५० वर्षोंके बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मके अवशेषो पर बहुत कुछ शोध हुई तथा अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई; किंतु जैन धर्मके स्मारकोंकी ओर विद्वानोंका किसी कारण कम ध्यान गया। फिरभी जैन धर्मका भारतीय संस्कृतिमें एक विशिष्ट स्थान रहा है। बौद्ध तथा अन्य मतोंकी तरह इस धर्मके अनेक अनुयायी भारतवर्षमें अभीभी वर्तमान हैं। किम्वदंती है कि भारतके विभिन्न क्षेत्रोंमें जैन देवोंकी मूर्तियां स्थापित की गई थी। माऊंट आबू, पारसनाथ आदि स्थानोंके जैन मंदिर स्थापत्य कलाके दर्शनीय उदाहरण हैं।

जैन धर्मके देवी देवताओंकी सूची विस्तृत है। इसमें २४ तीर्थंकर, भवनपति, व्यंतर, नक्षत्र, यक्ष, यक्षी आदि सभी सम्मिलित हैं। किंतु इनमें जैन तीर्थंकरोंकोही प्रधानता दी गई है। कई हिंदू धर्मके देवी देवता गणपति, लक्ष्मी तथा सरस्वतीभी गौण रूपमें जैन मूर्तियोंके साथ अंकित हुये हैं। प्रायः जैन मूर्तियां कायोत्सर्ग तथा पद्मासनमें दीख पडती हैं। बुद्ध भगवान्की तरह तीर्थंकर, महावीर लिएभी कुछ विशिष्ट लक्षण कल्पित किए गए हैं। तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंको पहिचाननेमें ये लक्षण विशेष सहायक हुये हैं। जैन मूर्तिकलाके विषयभी अति सीमित हैं। जैन सूत्रोंसे ज्ञात होता है कि ई० सन् की प्रथम शताब्दीमें श्वेताम्बर तथा दिगम्बर मत उद्भूत हुये। इस मतभेदके संबंधमें नाना प्रकारकी व्याख्याएं प्रचलित हैं किंतु यह सभी मानते हैं कि यह विभाजन महावीरके निर्वाणके ६०९ वर्ष बाद हुआ।

जैन सूत्रों, जिनका निर्माण काल ई० पू० २०० के लगभगसे है, से ज्ञात होता है कि महावीरसे पहिलेभी कई जिन मूर्ति रूपमें पूजे जाते थे। मूर्तिपूजामें दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ७ वीं शताब्दीके लगभग हुआ। इस समय तान्त्र योग तथा तन्त्रयानी सिद्धांतोंका प्रचलन हो रहा था। १० वीं शताब्दीमें कुछ हिंदू देवता जो तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंमें गौण रूपसे अंकित थे, प्रमुख प्रकार स्वतंत्र रूपसे पूजे जाने लगे। ११ वीं शताब्दीके बाद कुछ और देवता स्वतंत्र हुये। मध्यकालका यह प्रारंभ था। जिस प्रकार हिंदू धर्मकी मूर्तियोंमें अलंकरण प्रधान होगया, वैसेही जैन धर्मकी मूर्तियोंमें भी अधिक कौशल तथा अलंकरण आया। दक्षिण भारतमें अनेक पीतलकी सुंदर जैन मूर्तियां बनी।

पुरातत्त्व तथा इतिहासके दृष्टिकोणसे थोडीसीही जैन मूर्तियां अब [illegible] प्राप्त हुई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है, कि जैन मूर्तियां युग २ में दो चारही बनीं। वास्तविक बात तो यह है कि एक क्रमिक व्यवस्थाके अनुसार इस विषय पर आज दिन तक छान बीन नहीं हुई है। खारवेलके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि ई० पू० चतुर्थ शताब्दीमें मगध तथा कलिंगमें जैन मूर्तियां पूजी जाती थीं।

Fig IV कौशाम्बी से प्राप्त तीर्थंकर चन्द्रप्रभकी गुप्तकालीन
खण्डित मूर्ति। (चित्र नं. १)
(Mutilated Image of Tirthamkara Chandraprabha from Kauśāmbī)

कौशाम्बी से प्राप्त भ. महावीरकी मूर्ति।
("प्रयाग संग्रहालयमें जैन मूर्तियां"—लेख से संबंधित)
(Fig V Image of Lord Mahāvīra from Kauśāmbī)

Fig VI जसो से प्राप्त जिन-मूर्ति।
(चित्र स. ३)

Fig VII जसो से प्राप्त तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्ति।
(चित्र स. २)

(" प्रयाग सग्रहालय में जैन मूर्तियां "–लेख देखो)
Images of Jinas from Jaso, Dist Allahabad

किंतु इन शताब्दियोंकी मूर्त्तिया अप्राप्य हैं। जैन मूर्तिपूजाका सबसे महत्वपूर्ण केंद्र मथुरा रहा है। वहा कंकाली टीले पर जो मूर्त्तिया प्राप्त हुई वे अधिक तर कुषाणकालीनही हैं और उनका निर्माण काल ८२ ई० से १७६ ई० के बीचका है। इन मूर्तियों पर प्रायः दाताओंके नामभी अंकित हैं। जैन मूर्तियोंका दूसरा विशाल समूह राजगृहमें प्राप्त हुआ है। स्मरण रहे कि अनेक जैन तीर्थंकरोंने मगधमें या तो जन्म लिया या महाप्रचारभी किया।

जैन धर्मकी दो शाखाओं श्वेताम्बर तथा दिगम्बरकी मूर्तियोंमें भिन्नता थी। श्वेताम्बरोंकी मान्यता हैं कि पार्श्वने तो वस्त्र पहिरनेकी अनुमति दी, परतु वर्धमानने नग्न रहनेका आदेश दिया। १२ वीं शताब्दीके बाद अधिकतर मूर्तियोंमें लिंगको हाथोंके नीचे छिपानेकी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।[1]

प्रस्तुत संग्रहालयमें इस समय अनेक जैनधर्म संबंधी मूर्तिया संगृहीत हैं। इनमें अधिकतर जसो, कौशाम्बी, तथा खजुराहोसे आई हैं। अभी तक इन पर न तो कहीं लिखा गया है और न ये प्रकाशितही हुई हैं। सबसे प्रारंभिक मूर्ति चंद्रप्रभकी (चि. स. १) है। यह मूर्ति १९३७ ई० में कौशाम्बीके खंडहरोंसे प्राप्त हुई थी। इसका निर्माण काल छठी-सातवीं शताब्दीके लगभग जान पड़ता है। मूर्तिका मुख खंडित हो गया है।

तीर्थंकर पल्थी मार कर ध्यान मुद्रामें बैठे हैं। हथेली तथा पैरके तलवों पर कमल तथा वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह अंकित है। कमलके आसनके नीचे अलग दिशाओंकी ओर देखते हुये दो सिंह हैं। इनके बीच लटकते पर्देमें तीर्थंकरका लक्षण अर्द्धचन्द्रका है। सिरके पीछे सुंदर अलंकरण युक्त एक प्रभामंडल है। सिरके ऊपर एक एक छत्रके ऊपर दोलका है और उसके दोनों ओर दो गंधर्व हैं। तीर्थंकरके अगल बगलमें चंवर लिए दो चरमी खड़े हैं।

कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति अद्वितीय है। तीर्थंकरके शारीरिक अवयव अति आकर्षक हैं।

चंद्रप्रभ तीर्थंकरकी एक और मूर्तिभी प्रयाग संग्रहालयमें है। यह इलाहाबाद जिलेमें स्थित जसो नामक स्थानसे प्राप्त हुई है। जसोसे एक दर्जनके लगभग मूर्तिया प्राप्त हुई हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यहा पर इस धर्मका कोई प्रसिद्ध केंद्र था। इस मूर्तिमें तीर्थंकर ध्यान मुद्रामें सिंहों द्वारा उठाये आसन पर बैठे हैं। दायीं ओर कोने पर हाथोंमें कुछ लिए एक देवी तथा बांयीं ओर किसी पुरुषकी आकृति है। तीर्थंकरके दोनो ओर एक २ जिन खड़े हैं जिनके पीछे चवरग्राही अंकित हैं। इनके ऊपर फिर एक बैठे हुये जिन हैं। तीर्थंकरके सिरके ऊपर एक एक छत्र है जिसके दोनों ओर गंधर्व हैं। सिंहासनके मध्यमें एक लटकते पर्दे पर अर्द्धचंद्रमा बना हुआ है। इसके साथ किसी फूलका गुच्छाभी है।

जसोसे नेमिनाथकीभी अनेक मूर्तिया लाल पत्थर पर अंकित प्राप्त हुई हैं। एक उदाहरणमें नेमिनाथ कायोत्सर्गकी मुद्रामें सिंहासन पर खड़े हैं। पैरोंके दोनों ओर एक २ रक्षक खड़े हैं। पैरोंके नीचेसे लटकते पर्दे पर शंख चित्रित है। (चि. स. २).

1. कोई उदाहरण देना चाहिये था। —सं.

इसी स्थलसे प्राप्त एक दूसरी महत्वपूर्ण जिनकी खड़ी मूर्ति (चि. स. ३) प्राप्त हुई है। जिन सिंहासनके ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े हैं। सिंहासनकी दायीं ओर एक पुरुष दो घड़ों पर स्थित आसन पर बैठा है। इसके ऊपर गोदमें बालकको लिए अम्बिका चित्रित है। देवीके ऊपर फिर दो जिन एक दूसरेके ऊपर उभाड़ कर बनाए गए हैं। खेद है कि इस मूर्तिका बायां भाग खंडित हो गया है। जिनके पैरोंके निकट एक रक्षक तथा एक २ उपासक बैठे हैं। पैरोंके नीचे पर्दे पर कोई पशु जिसका पिछला भाग मात्र नष्ट होनेसे बच गया है, दीख पड़ता है। सिरके ऊपर ३ पर्तोंकी छत्री है, और कलशके ऊपर चौंडे पर किए, एक व्यक्ति ढोल बजा रहा है। छत्रीके दोनों ओर गन्धर्व और हाथी पर बैठे तथा हाथमें घट लिए व्यक्ति चित्रित किए गए हैं।

ऋषभनाथकी केवल एक मूर्ति संग्रहालयमें है। तीर्थंकर ध्यान मुद्रामें एक सिंहासन पर बैठे हैं। वक्ष, पैरके तलुवों तथा हाथों पर कमल अंकित हैं। दायीं तथा बायीं ओर चवर लिए एक २ यक्ष खड़ा है। इनके सिरके ऊपर एक २ जिनभी ध्यान मुद्रामें बैठे चित्रित किए गए हैं। पैरोंके नीचे जो पर्दा है, उसके निकटही तीर्थंकरका चिन्ह वृषभ अंकित है। नीचे पीठिकाके एक कोने पर गोमेध यक्ष तथा दूसरी ओर चक्रेश्वरी स्थापित हैं। सिरके पीछे प्रभामण्डल तथा ऊपर एक तीन परतकी छत्री है। छतरीके सिरे पर, एक व्यक्ति पैर पीछे किए ढोलक बजा रहा है। प्रभामण्डलके दोनों ओर हाथी बने हैं।

, , ध्यान मुद्राकी एक दर्शनीय मूर्ति खजुराहोसे प्राप्त हुई है। आसन दो सिंहोंकी पीठ पर स्थित है। तीर्थंकर पलथी मार कर पद्मासनमें बैठे हैं, दोनों बगलमें एक २ जिन खड़े हैं। इनके ऊपर फिर गन्धर्व चित्रित हैं। सिरके पीछे प्रभामण्डल है जिसके मध्यमें छत्रीका डंडा स्थित है। मूर्तिके ऊपरी भागमें कुछ तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बताई गई हैं। पैरोंके नीचे झूलते पर्दे पर एक मृगी या हिरन सदृश पशु अंकित है। यह बतलाना कठिन है कि यह मूर्ति किस तीर्थंकरकी है : हिरन तो शान्तिनाथ का लांछन है, परन्तु अब तक प्राप्त मूर्तियोंमें हिरन आसनके नीचे सिंहोंके साथ चित्रित रहते हैं।

जसोसे प्राप्त एक अन्य ध्यान मुद्रामें अंकित भारी मूर्ति (चित्र स. ४) उल्लेखनीय है। इसमें तीर्थंकर पद्मासनमें बैठे हैं। सिंहासन पर कमल चित्रित है तथा वह दो सिंहकी पीठ पर स्थित है। दो चवरधारी यक्ष दायीं बायीं ओर खड़े हैं। इनके ऊपर फिर दो २ जिन हैं। सिरके पीछे अंडाकृति प्रभामंडल है और इसके दोनों ओर माला लिए तीन गंधर्व हैं, पीठिकाकी दायीं ओर कोने पर गोमुख तथा बायीं ओर दो देवियां अंकित हैं। इस मूर्तिमें दो विशेष बातें दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो इसमें तीर्थंकर विशाल जटा पहिने हैं। इस प्रकारकी जटाएं राजगिर तथा कुछ अन्य स्थानोंकी मूर्तियोंमेंभी दीख पड़ती हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात, चवरधारी रक्षकोंकी टोपियां हैं। इन टोपियोंका रूप वैदेशीकसा लगता है। मथुरासे प्राप्त कुछ मूर्तियोंमेंभी ऐसे तत्व दीख पड़ते हैं। कोईभी लक्षण प्रत्यक्ष न होनेसे इस मूर्तिका रूप बतलाना कठिन है। (जटाधारी मूर्तियां प्रायः प्रथम तीर्थंकरकी मिलती हैं। सम्भव है, यह मूर्तिभी ऋषभदेवकी हो। —का० प्र०)

एक दूसरी मूर्ति, जिसमें कायोत्सर्ग मुद्रामें जिन खड़े हैं,भी महत्वकी है। पैरोंके निकट चवर

Fig VIII
जसो से प्राप्त एक विशाल जैन तीर्थंकर प्रतिमाका खंडित सिर।

जसो (प्रयाग) से प्राप्त एक तीर्थंकर की जटाधारी मूर्ति। (चित्र स. ४)

Fig X An Hair-Plated Jina Image from Jaso

यक्षी महामानसी की चतुर्भुजी मूर्ति। (चित्र सं ६)
Fig XI An Idol of Four Handed Yakṣi Mahāmānasi

लिए एक २ रक्षक हैं। सिरके ऊपर छत्री है जिसके दोनों ओर गन्धर्व उड़ते दिखलाई दे रहे हैं। जिन बायें हाथमें कोई फल लिए हुए हैं। मूर्तिमें कोई ऐसा लक्षण नहीं जिससे उसका ■ बतलाया जा सके।

इसी शैलीकी छोटे आकारकी एक दूसरी मूर्तिभी है। इसमेंभी जटाधारी तीर्थंकर पद्मासनमें बैठे हैं। बगलमें एक २ जिन चित्रित हैं। इनके ऊपर फिर दो ओर सबसे ऊपर तीन खड़े जिन अंकित हैं। आसन तीन भागोंमें बना है। आसनकी दायीं ओर नाग-फणोंके नीचे एक जिन बैठे हैं। बायीं ओर एक देवी बालकको गोदमें लिये हुये है। उसके साथ एक अन्य स्त्रीभी है। मूर्तिका ऊपरी तथा दायीं ओरके भाग खण्डित हो गए हैं।

पार्श्वनाथकी कई मूर्तियां प्रयाग संग्रहालयमें हैं। प्रायः पत्थरके सामने तथा एक ओर यह तीर्थंकर कौसग्ग (कायोत्सर्ग) मुद्रामें खड़े पाये जाते हैं। इनके पैरोंके पीछेसे नाग घुमावमें उठ कर, सिरके ऊपर फणोंका चदोवा प्रस्तुत करते हैं। कुछ मूर्तियोंमें दो रक्षक मात्र हैं, किंतु कुछमें रक्षकोंके साथ एक २ बैठे उपासकभी हैं। (चित्र सं. ५)

जैन देवियोंकी योथीसी मूर्तियां प्रयाग संग्रहालयमें हैं। सबसे महत्वकी एक सुंदर गठित चतुर्भुजी देवीकी मूर्ति है। (चित्र सं. ६) इसके चारों ओर आकारमें अनेक देवी, देवता तथा अलंकरणके उपादान चित्रित हैं। देवीका कोई वाहन नहीं दीख पड़ता। चारों हाथभी खंडित हो गए हैं। भावभंगी सामने यह महमायाजीकी मूर्ति लगती है। पैरोंके नीचे पीठिकाके मध्यस्थ एक नीलोत्पल है जिसके दोनों ओर उपासक बैठे हैं, और अगलबगलमें एक खड़ा तथा दूसरा सिंह पर चढ़ा रक्षक अंकित है। देवीके दोनों ओर आठ २ विद्या देवियां तथा कुछ खड़े जिन चित्रित हैं। इन विद्यादेवियोंके रूप ऊपर खुदे नामोंसे ज्ञात हो सकते हैं। देवीके सिरके ऊपर एक उभरे हुये पटल पर नेमिनाथ तथा एक चतुर्भुजी देवी स्थापित हैं। इनके अगलबगलमेंभी कुछ देवियां बनी हैं।

कौशाम्बीसे कुछ सुंदर आयागपट्टभी प्राप्त हुये हैं। प्रकृतिके नाशकारी तत्वोंसे ये नष्टसे हो गए हैं। एक बड़े पत्थर पर २४ जिन अंकित हैं। पांच पंक्तियोंमें तो जिन ध्यानमुद्रामें बैठे हैं। छटी पंक्तिमें चारही जिन हैं। प्रायः सभी जिनोंके चेहरे जान बूझ कर खंडित किए गए हैं। दूसरा आयागपट्ट आकारमें छोटा है। इसमें दो पंक्तियोंमें आठ २ जिन खड़े हैं। नीचेकी पंक्तिमें बायीं ओरसे अंकित पांचवें जिनके सिरके ऊपर नागफणा है। इन आयागपट्टोंके जिनोंके कोई लक्षण अंकित नहीं है, इसलिए अभी वास्तविक रूप नहीं जाना जा सकता। कुछ उदाहरणोंमें वक्ष पर केवल श्रीवत्स चिन्ह दीख पड़ता है।

जैन ज्योतिषकी व्यावहारिकता।

(ले० श्री० पं० नेमिचन्द्रजी जैन, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न, आरा)

इतिहास एवं विकासक्रमकी दृष्टिसे जैन ज्योतिषका जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक व्यावहारिक दृष्टिसे। जैन ज्योतिषके रचयिता आचार्योंने भारतीय ज्योतिषकी अनेक समस्याओंको बड़ीही सरलतासे सुलझाया है। यों तो समस्त भारतीय ज्योतिष वाङ्मयही धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्थाओंको सुसम्पादित करनेवाला है। इसी कारण भारतीय आचार्योंने इसे नेत्र कहा है। यहाँ नेत्र शब्द केवल रूपक नहीं है, वस्तुतः समस्त ज्ञान विज्ञानको अवगत करने के प्रधान साधनके रूपमें व्यवहृत हुआ है। कहा गया है कि —

> अन्यानि शास्त्राणि विनोदमात्रं न किंचि तेषां तु विशिष्ट मस्ति
> चिकित्सितं ज्योतिष मन्त्रवादः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति॥
>
> अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलम्।
> प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र साक्षिणौ॥
>
> यथा शिखामयूराणां नागानां मणयो यथा।
> तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम्॥

लोकाचार, लोकव्यवस्था और प्रकृतिके रहस्यका परिचय पानेके लिये ज्योतिष शास्त्रकी आवश्यकता भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सर्वत्र बतलाई गई है। जैन ज्योतिषभी भारतीय ज्योतिष वाङ्मयका एक अंग है, अतएव इसकाभी प्रधान उद्देश्य लोक व्यवस्थाको सम्पन्न करनेके लिये व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना है। रिट्ठसमुच्चयकी प्रारम्भिक गाथाओंसे ध्वनित होता है कि छद्मस्थ अल्पज्ञानी ज्योतिष द्वारा अपने उदय और क्षयोपशमको जान कर धर्मसाधनमें प्रवृत्त हो, ताकि उसके कर्मोंकी निर्जरा जल्द हो सके। क्योंकि इस अनित्य संसारमें केवल एक धर्मही नित्य और स्थिर रहनेवाला है —

> पत्तंमि अ मणुअत्ते पिम्मं उच्छी विजीविअं अथिरं।
> धम्मो जिणिंदद्दिट्ठो होइ थिरो निव्विअप्पेण॥

— रि. स. गा० ३

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यताकी दृष्टिसे यह शास्त्र भावी शुभाशुभ फलोंका द्योतक है, परन्तु ये शुभाशुभ फल अवश्यही घटित होंगे, ऐसा इस शास्त्रका दावा नहीं है। प्रत्येक आत्मा कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, वह अपने अद्भुत कार्यों द्वारा असमयमेंही कर्मोंकी निर्जरा कर उसके सहज स्वभाव

द्वारा मिलनेवाले फलका लाभ कर सकता है। इसलिये जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित ज्योतिष भविष्य फल प्रतिपादक होनेके साथ साथ कर्तव्यकी ओर सावधान करनेवालाभी है। जैन मान्यताका एक मात्र ध्येय आत्मिक विकास है, अतः ज्योतिष इस विकासमें सब प्रकारसे सहायता प्रदान करता है।

यद्यपि प्रारम्भमें जैनाचार्योंने वैदिक ज्योतिषके समानही केवल समयशुद्धिको अवगत करनेके लिये इस शास्त्रके बीज मूलतत्त्वोंका विकास किया था। पर आगे जाकर जीवनका क्षेत्र जितना बढ़ता गया ज्योतिषके विषयोंमेंभी उत्तरोत्तर परिष्कार एवं विकास होता गया तथा मानव जीवनके विभिन्न आलोच्य विषयोंका संकलनभी इस शास्त्रके अन्तर्गत माना जाने लगा।

जैन ज्योतिषमें व्यञ्जन, अंग, स्वर, भौम, छिन्न अन्तरिक्ष, लक्षण और स्वप्न इन आठ निमित्तों द्वारा भूत, भविष्यत और वर्तमानकालीन सुखदुःख, जीवन-मरण प्रभृति अनेक रहस्योंका उद्घाटन किया गया है। व्यावहारिक पक्षको पुष्ट करनेके लिये जैन ज्योतिर्विदोंने फलित अंग पर अत्यधिक रचनाएँ की हैं। अभी तकके उपलब्ध जैन ज्योतिषमें मुहूर्त, प्रश्न, जन्मकुण्डली, वर्षफल एवं संहिता सम्बन्धी अन्य जीवनके आलोच्य विषयोंका प्रतिपादन सरल और विस्तृत रूपमें मेरे देखनेमें आया है। जैन ज्योतिषकी प्रतिपादनशैली इतनी सरल और आशुबोध करानेवाली है कि मंगलाचरणके पश्चात् प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमेंही सारे लौकिक वर्ण्य विषयको दो चार गाथाओं या श्लोकोंमें बता दिया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ ग्रन्थोंकी व्यावहारिक शैलीका नीचे विवेचन किया जाता है।

व्यवहारचर्या नामक ग्रन्थमें रचयिताने ग्रन्थारम्भमें ग्रन्थ निर्माणके उद्देश्य और विषय प्रतिपादनका निर्देश एकही श्लोकमें कर दिया है —

दैवज्ञदीपकलिकां व्यवहारचर्या-
मारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेव एताम्।
शास्तिक्रमेण तिथि[1]-वार[2]-भ[3]-योग[4]-राशि[5]-
गोचर्य[6]-कार्य[7]-गम[8]-वास्तु[9]-विलग्न[10]-मिश्रैः[11]

व्याख्या—दैवज्ञानां गणकानां दीपकलिकामिव स्पष्टार्थप्रकाशकत्वात् व्यवहारः विद्वज्जन समाचारः शुभतिथिवारादिषु शुभकार्यकरणादि रूपस्तस्य चर्या इति कर्तव्यता क्याऽभिधेयतया यस्याः सा ताम्। प्रयोजनं च द्विधानन्तरं परपरंच। तत्रानन्तरमारम्भसिद्धिग्रन्थस्य प्रयोजनेश्रोतॄणां व्यवहारकौशलसिद्धिः, परपरं तु यथावद्व्यवहार प्रवृत्या धर्मार्थकामरूपाणां पुरुषार्थानां सिद्धिः, क्रमान्मोक्षपुरुषार्थस्यापीति।

अर्थात् आचार्यने व्याख्यामें बतलाया है कि व्यवहारको सम्पन्न करनेके लिये शुभ तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, राशि आदिको अवगत कर प्रत्येक कर्त्तव्यकर्मको उचित समय पर सम्पादित करना चाहिये। इन कर्तव्योंको यथासमय समाप्त करनेसे लोकाचारका पालन ठीक होताही है, साथ ही धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थोंके सेवनमें प्रवीणता प्राप्त होती है। इनके हेयोपादेयकी विवेकशीलतासे मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिमें सहायक होती है। अतएव तिथि, वार, नक्षत्र प्रभृति ग्यारह

अध्यायोंमें समयके शुभाशुभत्वका निरूपण कर सांसारिक प्राणियोंको चतुर वर्गके सेवनके लिये आवश्यकताका निरूपण किया गया है।

ज्योतिषसारमें निरूपित विषयोंका कथन करते हुए लिखा है कि लौकिक ज्ञानको समझ करनेके लिये निम्न बातोंका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इनके ज्ञात हो जानेसे व्यक्ति शिष्टजन समुदायमें अपने कृत्योंको सुन्दर ढगसे सम्पन्न कर आदर प्राप्त करता है—

तिहि वार रिक्ख जोगं, होराचक्कम्मि रासि दिणसुद्धी।
वाहण हंसो वच्छो, सिवचक्कं जोगिणी राहो॥

सिसु कील परिघ पंचग, सूलं रविचार थिवर सव्वंकं।
रवि राजकुमार जाला, सुभ असुभं जोग अमियाय॥

अधंपुहर कालवेलं कुलकं अवकुलकं कंटकं जोगं।
ककडं यमघंटा यं, उप्पाय मिच काण सिद्धं॥

संवो यमल संवत्त, सूलं सत्तू य भसम दंडाय।
कालमुही वज्जमुसलं, भद्दा कुंभोइ जिमदाढं॥

चरजोग कालपासं, छीया विजया य गमनं तारबलं।
गह सिसिअवथा गुणसट्ठि, भणियं बोलेहिं अणुकमसो॥

अर्थात्—तिथि, वार, नक्षत्र, योग, होराचक्र, राशि, दिनशुद्धि, वाहन, हंस, वत्स, शिवचक्र, योगिनी, राहु, मृगु, कीलक, परिघ, पचक, शूल, रविचार, स्थिरयोग, सर्वांकयोग, रवियोग, राजयोग, कुमारयोग, ज्वालामुखीयोग, शुभयोग, अशुभयोग, अमृतादियोग, अर्धप्रहर, कालवेला, कुलिक, उपकुलिक, कटकयोग, कर्कटयोग, यमघटकयोग, उत्पातयोग, मृत्युयोग, काणयोग, सिद्धयोग, संवतयोग, यमलयोग, सवर्तकयोग, शूलयोग, शत्रुयोग, भस्मयोग, दडयोग, कालमुखीयोग, वज्रमूसलयोग, भद्राफल, कुम्भचक्र, यमदाढचक्र, चरयोग, कालपाश, छींकफल, विजयमुहूर्त, गमनफल, तारावल, नवग्रहचक्र और चन्द्रावस्था ये ५९ द्वार—प्रकरण इस ग्रन्थमें कहे जायगे। ज्योतिषके इन पारिभाषिक प्रकरणोंके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे सभी व्यावहारिक कार्य अच्छे ढंगसे सम्पन्न किये जा सकेंगे। समयानुसार कर्ताकर्तव्योंका परिज्ञान उपर्युक्त ज्योतिषकी चीजोंके ज्ञात हो जाने पर अवश्य हो जायगा। समयके शुभाशुभत्वका जानना इस लिये आवश्यक है कि ससारके समस्त कार्यों पर इसका प्रभाव पड़ता है। भारतीय संस्कृतिमें इसी कारण समय विज्ञानको विशेषता प्रदान की गई है। जैन ज्योतिषके रचयिताओंने इसी कारण अपने समय विज्ञानवाले ग्रन्थोंमें समय शुद्धिके साधक और बाधक कारणोंका विस्तारसे वर्णन किया है।

मुहूर्त विषयके अलावा जन्मपत्र निर्माण, उसका फलादेश, वर्षपत्र एवं उसके फलादेशका चमत्कारपूर्ण वर्णन जैन ग्रन्थोंमें है। मानसागरीमें जन्मपत्रके बनानेकी और फल कहनेकी सारी विधियाँ सरलतापूर्वक रोचक ढगसे बताई गई हैं। इसी कारण आज यह ग्रन्थ समस्त जैना-जैन

ज्योतिर्विदोंका कण्ठहार बना हुआ है। शायदही ऐसा कोई भारतीय ज्योतिषी होगा, जो फल कहनेके लिये इसका उपयोग न करता हो। जन्मपत्र निर्माण विधिसे प्रतिपाद्य विषयसूची निम्न प्रकार दी है। पाठक इस सूचीके आधारसे ज्ञात कर सकेंगे कि एकही ग्रन्थमें कितने आवश्यक और उपयोगी विषयोंका समावेश किया गया है —

अथ जन्मकुण्डली—कलियुगफल संवत्सर फलायन फलगोलफल— ऋतुफल मासफल पक्षफल तिथिफल वारफल दिनजातफल रात्रिजातफल योगफल करणफल गणफल योनिफल वारायुर्लग्नफलाद्य फलानामध्ये चन्द्रकुण्डलिकाचक्रं चन्द्रकुण्डलीफलम्। चन्द्रात्फलान्यायुर्मेषसाधनार्थं सूर्यादिकमध्यमसूर्यादिक स्पष्ट सूर्यादिकतात्कालिक भावचक्रविधि फलद्वादश भवने नवग्रहाणां द्वादशभवननिरीक्षणविधि द्वादशभवने नवग्रहाणां फल द्वादशभवनेशफल द्वादशभवने द्वादश लग्नफल द्वादशलग्नानां स्वामिफलं षड्वर्गं मैत्रीचक्र षड्वर्गा कुण्डलीचक्र पञ्चमहापुरुष योगफल सुनफाअनफादुर्धराकेमद्रुमयोगेषु मयचरी योगिनीफल राजयोग द्वादशायुर्गति नवग्रहफलदीप्त स्वस्थ नव प्रकार ग्रहफलम् अरिष्टभंग राजयोगचक्रम्, अश्वचक्रम्, शतपदचक्रम्, सूर्यकालानल चन्द्रकालानल समर्घद्वाभिनाडी यन्त्र, सर्वतोभद्रचक्रम्, चन्द्रावस्थाचक्र रश्मिचक्र रश्मिफल।....

अर्थात्—जन्मपत्रीमें जन्मकुण्डलीचक्र, जन्मकालीन युग-तिथि-वार-नक्षत्र-योग-करण-अयन-मास-ऋतु-समय-योनि-गण, इत्यादिका आदिका फल, पश्चात् चन्द्रकुण्डलीचक्र और उसका फलादेश, नवग्रह स्पष्ट चक्र, द्वादशभाव स्पष्ट चक्र, तात्कालिक चक्र, द्वादश स्थानोंमें ग्रहोंका फल, ग्रहोंकी दृष्टियोंका फल, नवांश, द्वादशांश, त्रिंशांशका फल, बारह भावोंमें लग्नेश आदि द्वादश घरोंके स्वामियोंका फल, षड्वर्गचक्र, अनफा, सुनफा, दुर्धरा, केमद्रुम, आदि पोडश योगोंका फल, बारह प्रकारसे आयुका साधन, ग्रहोंकी दीप्त, स्वस्थ आदि दस अवस्था हैं उनका फल, अरिष्ट योग, अरिष्टभंग योग, द्रव्यप्राप्ति योग, विद्या सन्तान-विवाह आदि योग, अष्टोत्तरी, विंशोत्तरी और योगिनी दशाओंका गणित और उनका फल, एव इन दशाओंकी अन्तर्दशाओंका गणित, और उनका फलादेश इत्यादि विषयोंका सन्निवेश किया जाता है।

इस प्रकार अकेले इसी ग्रन्थसे कोईभी व्यक्ति अच्छा ज्योतिषी बन सकता है। त्रैलोक्यप्रकाश नामक ग्रन्थमें सारा भूत, भविष्यत और वर्तमानकालीन फल लग्नाधीन बताया है, इसलिये लग्नको ज्ञान, दीप, तत्व, माता, पिता, बन्धु, सरस्वती, देवी, सूर्य, चन्द्रादि नवग्रह, जल, अग्नि, वायु, आकाश सब कुछ बताया है। लग्न और ग्रहोंके सम्बन्धसे सुन्दर फलाफल बताया गया है —

लग्नं देवः प्रभुः स्वामी लग्नं ज्योतिः परं मतम्।
लग्नं दीपो महान् लोके लग्नं तत्त्वं दिशन् गुरुः॥
लग्नं माता पिता लग्नं लग्नं बन्धुर्निजः स्मृतम्।
लग्नंबुद्धिर्महालक्ष्मीर्लग्नं देवी सरस्वती॥

इस ग्रन्थमें आगे लग्नादि द्वादश भाव तथा उनमें रहनेवाले ग्रहोंके सम्बन्धसे लाभालाभ,

विवाह, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, सन्तानप्राप्ति, रोगारोग, गमनागमन, राष्ट्र और देशकी शान्ति-अशान्ति, जय-पराजय, सन्धि-विग्रह, वृष्टि-अतिवृष्टि-अनावृष्टि, धान्योत्पत्ति, समर्घ-महर्घ, ईति-भीति इत्यादि विभिन्न जीवनोपयोगी विचारणीय विषयोंका विवेचन किया है। इस ग्रन्थमें ऐसा एकभी लौकिक विषय नहीं है, जिस पर ग्रन्थकर्त्ताने विवेचन न किया हो।

प्रश्न विषय तो जैन ज्योतिषका औरभी महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नानुसार बिना जन्मकुण्डलीके फल बताया गया है। तात्कालिक फल बतलानेके लिये इस अंगकी बड़ी महत्ता है। प्रश्नोंका फल ज्योतिषमें तीन प्रकारसे कहा गया है—

१. प्रश्न समयकी लग्नकुण्डली बना कर उसके द्वादश भावोंमें स्थित ग्रहोंके शुभाशुभानुसार फल कहना। इस प्रक्रियामें फलादेश सम्बन्धी समस्त कार्रवाई समयके ऊपर अवलम्बित है। यदि समयमें तनिकभी हीनाधिकता हुई तो फलादेशमें बड़ाही अन्तर पड़ जाता है। जैनाचार्योंने इस प्रक्रियाका प्रयोग बहुत कम किया है। दो-चार ग्रन्थोंमेंही यह विधि मिलती है।

२. स्वर सम्बन्धी सिद्धान्त है। इसमें फल बतलानेवाला अपने स्वर (श्वास) के आगमन और निर्गमनसे इष्टानिष्ट फलका प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्तसे फल बतलानेमें अनेक त्रुटियोंकी संभावना है क्योंकि स्वरका वास्तविक ज्ञान योगी व्यक्तिही कर सकता है। सर्वसाधारणके लिये स्वरका साधन नितान्त कठिन है। इसी लिये जैन ज्योतिषमें इस सिद्धान्तका प्रयोग केवल नाममात्रकोही मिलेगा। कारण स्पष्ट है कि जो योगी हैं वे तो वातावरणको देख करही भविष्यत् या भूत कालकी घटनाओंको समझ जाते हैं। किन्तु साधारण व्यक्तिका ज्ञान उतना विकसित नहीं होता है जिससे वह ग्रन्थ पढ़ करभी उस चीजको समझ सके। इस योगज्ञानकी प्राप्ति साधनासे होती है, अतएव इसे जैनाचार्योंने ज्योतिषमें स्थान नहीं दिया है।

३. प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नाक्षरोंसे फल बतलाता है। इस सिद्धान्तका मूलाधार मनोविज्ञान है, क्योंकि विभिन्न मानसिक परिस्थितियोंके अनुसार प्रश्नकर्त्ता भिन्न भिन्न प्रश्नाक्षरोंका उच्चारण करते हैं। यह सिद्धान्त अत्यन्त सरल और व्यावहारिक है; क्योंकि कोईभी साधारण व्यक्ति पृच्छकके प्रश्नाक्षरोंको लिख कर जैनाचार्यो द्वारा प्रतिपादित विधिसे विश्लेषण कर फल कह सकता है। जैन ज्योतिषमें इसी सिद्धान्तको लेकर दर्जनों ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है।

इस प्रक्रियाकी मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके अनुसार समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंके आधीन मानव मनकी भीतरी तहमें जैसी भावनाएँ छुपी रहती हैं वैसे प्रश्नाक्षर निकलते हैं। क्योंकि शरीर एक यन्त्रके समान है जिसमें किसी भौतिक घटना या क्रियाका उत्तेजन पाकर प्रतिक्रिया होती है। यही प्रतिक्रिया मानवके आचरणमें प्रदर्शित हो जाती है। कारण अबाध भावानुषङ्गसे हमारे मनके अनेक गुप्त भाव भावी शक्ति, अशक्तिके रूपमें प्रकट हो जाते हैं तथा उनसे समझदार व्यक्ति सहजमेंही मनकी धारा और उससे घटित होनेवाले फलको समझ लेता है।

प्रश्नोंका विश्लेषण करनेके लिये अ ए क च ट त प य श अक्षरोंका प्रथम वर्ग, आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष अक्षरोंका द्वितीय वर्ग, इ ओ ग ज ड द ब ल स अक्षरोंका तृतीय वर्ग, ई औ घ झ ढ ध भ व ह अक्षरोंका चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ङ ञ ण न म अं अः का पञ्चम वर्ग बताया है। इन अक्षरोंको एक स्लेट या कागज पर लिख कर प्रश्नकर्तासे स्पर्श कराना चाहिये, वह जिस अक्षरका स्पर्श करे, उसीके अनुसार आलिंगित आदि संज्ञाएँ ज्ञात कर फल कहना चाहिये। अथवा प्रश्नकर्ता आतेही जिस वाक्यका उच्चारण करे, उसी वाक्यके अनुसार अक्षरोंकी संज्ञाएँ ज्ञात कर फल कहना चाहिये।

प्रश्नोंके प्रधानतः दो भेद बताये हैं —वाचिक और मानसिक। वाचिक प्रश्नोंके उत्तर अक्षरोंकी उत्तरोत्तर,[1] उत्तराधर, अधरोत्तर, अधराधर, वर्गोत्तर, अक्षरोत्तर, स्वरोत्तर, गुणोत्तर और आदेशोत्तरके द्वारा दिये गये हैं। और मानसिक प्रश्नोंके–शब्दोंका उच्चारण बिना किये केवल प्रश्नोंको मनमें सोचनेसे, यानी कोई व्यक्ति अपने प्रश्नके सम्बन्धमें नहीं बताना चाहता है कि उसे कौनसी बात पूछनी है, ऐसे गुप्त रहस्य सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर उससे किसीभी नदी, तालाब, देवता, फल, फूल आदिका नाम उच्चारण कराके उच्चारित अक्षरों परसे जीव, धातु और मूलमूल तीन प्रकारकी योनियोंकी संज्ञाओं द्वारा देने चाहिये। प्रश्न ग्रन्थोंमें अ आ इ ए ओ अः क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये इक्कीस वर्ण जीवाक्षर; उ ऊ अं त थ द ध प फ ब भ व स ये तेरह वर्ण धात्वक्षर एवं ई ऐ औ ङ ञ ण न म ल र ष ये ग्यारह वर्ण मूलाक्षर संज्ञक कहे हैं। प्रश्नाक्षरोंमें जीवाक्षरोंकी अधिकता होनेसे जीवसम्बन्धी प्रश्न धात्वक्षरोंकी अधिकता होनेसे धातु सम्बन्धी प्रश्न और मूलाक्षरोंकी अधिकता होनेसे मूल सम्बन्धी प्रश्न अवगत करना चाहिये। सूक्ष्मताके लिये जीवाक्षरोंके द्विपद, अपद, चतुष्पद और पादसंकुल ये चार भेद बताये हैं। द्विपदादिकेभी अनेक भेद-प्रभेद करके प्रश्नोंका विचार किया गया है। इस प्रकार जैन प्रश्न शास्त्रमें अनेक विशेषताएँ हैं।

जैन संहिता ग्रन्थोंमेंसे प्रधान भद्रबाहु संहिता, केवलज्ञान होरा आदिमें अनेक व्यावहारिक विषयोंका सन्निवेश है। इन ग्रन्थोंमें पग-पग पर काम आनेवाली बातों पर प्रकाश डाला गया है। सामुद्रिक शास्त्र पर अनेक जैन रचनाएँ सरल और सुबोध रूपमें मिलती हैं। इनमें स्त्री और पुरुषोंकी शकल-सूरतके आधारसे शुभाशुभ फलोंका निरूपण किया गया है। हाथ, मस्तिष्क और पैरकी रेखाओं परसेभी जीवनोपयोगी विषयोंकी मीमांसा की गई है। निमित्तशास्त्रोंमें भौम, अन्तरिक्ष और दिव्य इन तीन प्रकारके निमित्तों द्वारा फलोंका निरूपण किया गया है। संहितासम्बन्धी रचनाएँ केवल ज्योतिष विषयकही नहीं कही जा सकती हैं, किन्तु इनमें आयुर्वेद, मन्त्रशास्त्र, रासायनिकशास्त्र आदि लोकोपयोगी अनेक विषयोंका संग्रह है। अकलंक संहितामें आयुर्वेदके सुन्दर और अनुभूतनुस्खे विद्य-

---

१. देखें–केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि।

२. संज्ञाओंकी परिभाषा जाननेके लिये देखें–केवलज्ञान प्रश्न चूडामणिका प्रारम्भिक भाग तथा चन्द्रोन्मीलन प्रश्न।

मान हैं। इस प्रकार जैनाचार्योंने ज्योतिष विषयका क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया है, जीवनके आलोच्य सभी लोकोपयोगी विषय इस शास्त्रके प्रतिपाद्य माने गये हैं।

गणित विषयकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए महावीराचार्यने अपने गणितसार संग्रहमें बताया है कि—

लौकिके वैदिके चापि तथा सामायिकेऽपि यः।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपयुज्यते॥

कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च गान्धर्वे नाटकेऽपि वा।
सूपशास्त्रे तथा वैद्ये वास्तुविद्यादि वस्तुषु॥

सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसंयुतौ।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्राङ्गी कृतं हि तत्॥

बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना नहि।

इससे स्पष्ट है कि गणितका व्यावहारिक रूप प्रायः समस्त भारतीय वाङ्मयमें व्याप्त है। ऐसा कोईभी शास्त्र नहीं है जिसकी उपयोगिता गणितके बिना अभिव्यक्त हो सके। जैन ग्रन्थोंमें गणितके परिकर्म, व्यावहारगणित, रज्जुगणित, राशिगणित, कलासवर्णगणित, याव-तावगणित, वर्ग, घन, वर्ग-वर्ग और कल्प, इन दस भेदों द्वारा समस्त व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जैनाचार्योंने प्रयत्न किया है। जैन गणितमें नदीका विस्तार, पहाड़की ऊँचाई, त्रिकोण, चौकोन क्षेत्रोंके परिमाण इत्यादि अनेक व्यावहारिक बातोंका गणित बिना नाप-तौलके रेखागणित और त्रिकोणमिति के सिद्धान्तों द्वारा बताया है। इस प्रकार समस्त जैन ज्योतिष व्यावहारिकतासे परिपूर्ण है।

विदेशोंमें प्राकृतका प्रचार।

(ले० श्री० डा० बनारसीदास जैन, एम.ए., पी-एच.डी.)

अपने व्यापक अर्थमें "प्राकृत" शब्द आर्य-भारतीकी एक अवस्था विशेषका नाम है जो प्राचीन आर्यभारती अर्थात् संस्कृत और वर्तमान आर्यभारती अर्थात् हिंदी, गुजराती आदिके मध्यवर्ती है। इसीलिये आर्य-भारतीकी मध्यम-अवस्थाकोभी प्राकृत कहते हैं। इसके साहित्यिक रूपके अंदर एक दूसरेसे कुछ २ विशेषताओंको लिये हुए अनेक भाषाएं शामिल हैं। जैसे—पाली, अशोककी धर्मलिपियोंकी भाषा, जैन साहित्यकी भाषाएं (अर्धमागधी, जैनमाहाराष्ट्री, जैन शौरसेनी), शिलालेखोंकी प्राकृत, संस्कृत नाटकोंमें व्यवहृत प्राकृतें, गाथा सप्तशती, रावण वहो आदि काव्योंकी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा।

पूर्वकालमें प्राकृतका व्यवहार केवल जैनों और बौद्धों तक सीमित नहीं था। ब्राह्मण पण्डितभी इसको प्रयोगमें लाते थे जैसा कि उनकी रचनाओंसे सिद्ध होता है। पिछले कुछ वर्षोंसे भारतमें प्राकृतका पठन-पाठन जैनों तकही सीमित होगया था। "प्राकृत" और "जैन" शब्दमें ऐसा घनिष्ठ संबंध स्थापित होगया कि अब जैन कहनेसे प्राकृतका और प्राकृत कहनेसे जैनका स्वतः स्मरण हो जाता है।

यद्यपि प्राकृत कहलानेवाली भाषाओंमेंसे पाली अब पृथक् हो गई है और पठनपाठनमें उसने एक स्वतंत्र स्थान ग्रहण कर लिया है, तथापि वास्तवमें यह सबसे प्राचीन साहित्यिक प्राकृत है। इसमें प्राकृत अवस्थाके सभी लक्षण विद्यमान हैं। अतः पालीही वह प्राकृत है जिसने सबसे पहले भारतसे बाहर अपना पाव रखा। विक्रम संवत्से [illegible] सौ वर्ष पूर्व बौद्ध धर्मके साथ यह लंका-(सिंहल-) द्वीपको गई और इसने बड़ी उन्नति की। यहां इसमें विशाल साहित्यकी रचना हुई। विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें सिंहलराज वट्टगामणीके समयमें पाली त्रिपिटकको यहां लिपि-बद्ध किया गया। लंकाके बौद्ध भिक्षुओंमें पालीका दूसरा नाम मागधी अब तक प्रचलित है। लंकामें पालीका पठनपाठन बराबर होता रहा है। वहां इसका वही स्थान है जो भारतमें संस्कृतका है। लंकाकी वर्तमान भाषा पर प्राकृतका इतना प्रभाव है कि लंकाद्वीपके उत्तर भागकी भाषा आर्यभारतीके अंदर गिनी जाती है।

भारतकी अपेक्षा लंकाको तो कोई विदेश कहे या न कहे परन्तु ब्रह्मदेश तो विदेश कोटिमें समझाही जायगा। ब्रिटिश सरकारने कुछ समय तक ब्रह्मदेशको भारतका प्रान्त बना दिया [illegible] लेकिन अब वह फिर पृथक् हो गया है। लंकासे पालीने ब्रह्मदेशको गमन किया और वहां जाकर साहित्यिक वृद्धि की। वहांभी अब तक इसका पठनपाठन चलता है। वहांकी सामान्य भाषा पर पालीका कुछ

अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। ब्रह्माके अतिरिक्त पालीका प्रचार स्याम देशमें जिसे अब "थाइलैंड" कहते हैं खूब हुआ है। लंका, ब्रह्मा और स्यामसे अपनी २ लिपिमें पाली त्रिपिटकके संस्करण निकले हैं जो भारतकी कई यूनिवर्सिटियोंको भेंटरूप दिये गये हैं। इन देशोंके साथ भारतके दाक्षिणी विभागका व्यापारिक और धार्मिक संबंध चिरकालसे स्थापित हो चुका था। अतः पाली या प्राकृतका वहां चले जाना आश्चर्यकी बात नहीं। विदेशमें पाली-प्राकृतके प्रचारका मुख्य कारण बौद्धधर्म रहा है। इन देशोंके साथ २ पालीका प्रचार तिब्बत तथा चीनमेंभी हुआ था यहां त्रिपिटक आदि ग्रंथोंके तिब्बती और चीनी भाषामें अनुवाद किये गये। इनके अतिरिक्त पालीका थोड़ा बहुत प्रचार इंडोनीशिया (विशाल भारत) मेंभी हुआ होगा। परंतु महायानकी ओर हो जाने पर वह घट गया। अब इन देशोंमें इसका पठनपाठन फिरसे जारी होने लगा है। मलायाके प्रदेशमें अब तक प्राचीन देवनागरीके अक्षर सिखाये जाते हैं।

लेकिन आश्चर्य तो यह है कि एक समय प्राकृतका प्रयोग चीनी तुर्किस्तान जैसे सुदूर देशमें होता था और वहभी तत्कालीन राज-कार्यमें। पचास वर्ष पहले कोई व्यक्ति इस बातके तथ्यकी कल्पना नहीं कर सकता था क्योंकि अब वहां कोईभी पाली-प्राकृत और भारतीय संस्कृतिका नाम तक नहीं जानता। परंतु धन्य है पाश्चात्य विद्वानोंकी जिज्ञासा, सतर्कता, धैर्य और साहसको जिनके द्वारा उन्होंने संसारसे लुप्त हो गई हुई अनेक संस्कृतियोंका पुनर्निर्माण किया है। चीनी तुर्किस्तानमें प्राकृत लेखोंकी उपलब्धिभी इन्हीं गुणों और प्रवृत्तियोंकी ऋणी है। इस उपलब्धिकी कथा बड़ी रोचक है। अतः संक्षेपमें यहां दी जाती है।

सन् १८८१ में कूचा (तुर्किस्तान) से कर्नल बावरको भोज पत्रों पर लिखा हुआ वैद्यकका एक ग्रंथ प्राप्त हुआ जिसके अक्षर गुप्तकालीन लिपिसे मिलते जुलते थे। इसकी भाषा संस्कृत थी। इस एक साधनसे सर आरॅल स्टाइनने जो ओरियंटल कालिज लाहौरके प्रिन्सिपल थे यह अनुमान किया कि किसी समय तुर्किस्तानमें भारतीय सभ्यताका प्रचार रहा होगा। फिर सन् १८९० में काशगरसे खरोष्ठी लिपिमें लिखा हुआ पाली "धम्मपद" का प्राकृत अनुवाद मिला। इससे सर आरॅल स्टाइनका अनुमान औरभी दृढ़ हो गया। अब उन्होंने भारतीय सरकारको लिखकर प्राचीन अवशेषोंकी शोध खोजके लिये चीनी तुर्किस्तानमें जानेका प्रबन्ध कर लिया जिसके फलस्वरूप वे सन् १९००, सन् १९०६ और सन् १९१३ में चीनी तुर्किस्तान गये। उन्होंने अपनी यात्राओंका विस्तृत वर्णन बड़े सरस ढंगसे किया है और प्राचीन अवशेषोंके सैंकड़ों चित्र दिये हैं जिनमें प्रस्तुत लेखसे संबंध रखनेवाले लकड़ी और चमड़े पर स्याहीसे खरोष्ठी लिपिमें लिखे हुए प्राकृतके बहुतसे लेख हैं। कुछ लेख लकड़ीके कीलाकार टुकड़ों पर हैं और शायद इसी लिये इन लेखोंमें इनका निर्देश "कीलमुद्रा" शब्दसे किया गया है। ये कीलमुद्राएं देशके राजाकी ओरसे सरकारी कर्मचारियोंके नाम लिखी गई हैं। इनमें किसी मुकद्दमे या सरकारी मामलेकी चर्चा है।

कुछ लेख लकड़ीके चौरस टुकड़ों पर हैं जिनका निर्देश "प्रवनक" संस्कृत=प्रमाण, प्रापण,

प्रपत्र शब्दसे किया गया है। ये एक प्रकारकी रसीदें या प्रमाणपत्र हैं जिन्हें अधिकारी व्यक्ति साक्ष्य प्रमाणके लिये अपने पास रखता था।

अनधिकारी पुरुषसे कीलमुद्राओं और प्रबन्धोंके पाठकी रक्षाके लिये इनके ऊपर उसी परिमाणका एक दूसरा टुकड़ा रख कर उन पर रस्सी लपेट दी जाती थी। फिर रस्सीके दोनो सिरे ऊपर वाले टुकड़े पर रख कर उनको गीली मिट्टीसे दाब दिया जाता था और मिट्टी पर प्रमाण पुरुषकी मोहर लगा दी जाती थी। इन लेखोंका काल विक्रमकी छठी सातवीं शताब्दी हो सकता है।

यह तो हुई प्राचीन समयमें प्राकृतके विदेश-प्रचारकी कथा। आधुनिक युगमें सोलहवीं शताब्दीसे पाश्चात्य (यूरपीन) लोग भारतमें आने लगे। तबीसे उन्होंने भारतकी नवीन तथा प्राचीन भाषाओंको सीखना शुरू कर दिया था जिसके फलस्वरूप उन्होंने पिछले सौ डेढ सौ बरसमें प्राकृत-सबंधी अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सराहनीय अनुशीलन किया है। इसका सविस्तर वर्णन करनेके लिये एक विशाल ग्रथकी आवश्यकता होगी। अतः यहां कतिपय मुख्य प्रकाशनोंकी सूची दी जाती है।

पाली—पाश्चात्य विद्वानोंने पालीका बड़ा गहरा और सूक्ष्म अध्ययन किया है। लदनकी "पाली टैक्स्ट सोसायटी" द्वारा रोमन अक्षरोंमें समग्र पाली त्रिपिटक तथा बहुतसी विशाल टीकाएं मुद्रित हो चुकी हैं।

जर्मनीके प्रोफेसर गाइगरने जर्मनमें पालीका व्याकरण रचा जो रोमन अक्षरोंमें मुद्रित हुआ है।

चिल्डरका पाली कोष तथा डेविड और स्टीडका पाली कोष बडे उपयोगी ग्रथ हैं।

अशोककी धर्मलिपियां। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियोंके पढे जानेकी कथा बड़ी रोचक है। धर्मलिपियोंके सपादनमें कनिंघम, सेनार(ट) हुल्त्श, ब्यूलर और वूल्नरने अच्छा काम किया।

प्राकृत—प्राकृतका सबसे पहला स्वतत्र व्याकरण लैटिन भाषामें प्रो० लास्सनने रचा जो सन् १८३७ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद सन् १९०० में रिचर्ड पिशलने जर्मन भाषामें विशालकाय प्राकृत व्याकरणकी रचना की जो विद्वत्ता और धैर्यका नमूना है। सन् १९१७ में ए. सी. वूल्नरने प्राकृत प्रवेशिका "Introduction to Prakrit" बनाई जिससे योरप तथा भारतमें प्राकृत अनुशीलनका खूब प्रचार हुआ। खेद है कि प्राकृतके कोष निर्माणका काम अबतक किसी पाश्चात्य विद्वान्के हाथसे नहीं हुआ। प्रस्तुत लेखकके विद्यागुरु डा० ए. सी. वूल्नरने प्राकृत कोषके लिये सामग्री इकट्ठी करनी शुरू कर दी थी और वे अपने जीवनके अंतिम दिनों तक ऐसा करते रहे। उनकी यह सामग्री एक बडे रजिस्टरके रूपमें जिसमें १२,००० सेभी अधिक प्राकृत शब्दोंकी सूची तथा स्थान-निर्देश है अब कदाचित् पजाब यूनिवर्सिटी लाहौरके कब्जेमें है।

चीनी तुर्किस्तानसे मिले प्राकृत लेखोंका पाठ-निर्माण, उनका अनुवाद, उनकी भाषाका व्याकरण इत्यादि सब पाश्चात्य देशोंमें हुए हैं।

प्राकृतके अनेक ग्रन्थोंका संपादन तथा अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुआ है, जो बहुधा इग्लैंड, जर्मनी, फ्रान्स, इटली और अमरीकासे प्रकाशित हुए। इन विद्वानोंमेंसे वेबर, ब्यूलर, याकोबी, हर्नेले, वार्नेट, ल्यूमन, शूब्रिंग, ह्वर्टेल, नार्मन ब्राउनके नाम प्रसिद्ध हैं।

प्राकृतसे संबंध रखनेवाला एक और कार्य है, अर्थात् प्राकृतकी प्राचीन प्रतियोंकी सूची। इसका प्रारंभभी ब्यूलर, वेबर, पिटर्सन आदिके हाथोंसे हुआ।

अभी सन् १९३७ में लुइज्या-नित्ति दोल्ची नामक एक इटालियन विदुषीने प्राकृत संबंधी दो पुस्तक फ्रेंच भाषामें प्रकाशित किये हैं। इनमेंसे एक तो अभावपूर्व पुरुषोत्तमकृत प्राकृतानुशासन का संपादन है। इस व्याकरणकी ताडपत्रों पर लिखी हुई केवल एकही प्रति उपलब्ध हुई है जो नेपाल देशके खाटमंडू भंडारमें सुरक्षित है। यह प्रति नेवारी अक्षरोंमें विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीकी लिपिकृत है। दूसरे पुस्तकका नाम प्राकृत वैयाकरण "Les Grammairiens Prakrit" है। इसमें प्राकृतके प्रमुख वैयाकरणोंके समय, उनकी रचनादिके विषयमें चर्चा की गई है।

उपर्युक्त लेखको पढ कर हम भारतवासियोंको एक ओर तो पाश्चात्य विद्वानोंका धन्यवाद करना चाहिये और दूसरी ओर उनके द्वारा आरंभ किये गये प्राकृत-अनुशीलनको अंत तक पहुंचाना चाहिये।

Māgadhī, Ardhamāgadhī and Sanskrit

By Dr. S. K. Belvalkar, M. A., Ph. D., F. R. A. S., Poona.

[श्रीमान् डॉ० बेल्वल्कर सा० संस्कृत भाषाके सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। इस लेखमें आपने भारतकी राष्ट्रभाषाके प्रश्न पर एक नया प्रकाश डाला है। आप लिखते हैं कि यह प्रश्न अबसे बहुत पुराना है। भ० महावीरके समयमेंभी राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था — भ० महावीरने वेदोंकी मूल भाषा संस्कृतको त्याग कर अर्द्धमागधी भाषाको अपने धर्म प्रचारका माध्यम बनाया था। उनके धर्माख्यानोंको आर्य अनार्य, सभी मानव (और पशुभी) अपनी २ भाषामें समझ लेते थे। यौगिक चमत्कारकी बातको यदि छोड़ दिया जावे, तो भी यह संभव नहीं दिखता कि भ० महावीरके व्याख्यानोंको तत्क्षण अन्य भाषाओंमें अनूदित कर दिया जाता होगा। डॉ० सा. का यह अनुमान ठीक भासता है, यद्यपि शास्त्रीय उल्लेख यहभी है कि भागवदेव अपनी विशेष विज्ञान-कला द्वारा भगवान्‌की निरक्षरि वाणीको प्रत्येक जीवके लिये उसकी स्वभाषामें परिणत कर देता था, जिससे हर कोई उसे समझ लेता था। संभव है, आजकलके ध्वनिप्रसारक यंत्रोंकी तरह उस समय कोई विशेष यंत्र-माध्यम बना लिया गया हो जो एक भाषाका विस्तार भिन्न २ भाषाओंमें कर देता हो। किन्तु डॉ० सा० का सुझाव रहस्य है। वह कहते हैं कि भ० महावीरने धर्मकी सीधीसादी बातें बताईं जो शीघ्र हर किसीके मन चढ़ जातीं थीं। इस लियेही उनकी वाणी 'सार्वभाष्य' मानी जाती थी। उसका प्रकट "वैखरी" और "मध्यमा" रूपोंमें न होकर केवल 'पश्यन्ती' रूपमें हुआ था, ऐसा मानना ठीक जचता है। बौद्ध भिक्षुओंनेभी एक 'सार्वभाषा' का प्रश्न म० बुद्धके सम्मुख उपस्थित किया था और कहा था कि 'छन्दभाषा' (संस्कृत) में पिटकग्रंथ अनूदित किये जावें, किन्तु म० बुद्धने उनकी यह बात स्वीकार नहीं की थी। इसपरसे डॉ० सा. का अनुमान है कि उससमय बोलचालकी संस्कृतभाषा सारे भारतमें प्रचलित थी। संस्कृत भाषाके बहुप्रचारने जैनों और बौद्धोंकोभी संस्कृत अपनानेके लिये बाध्य किया। उनकी कई रचनायें व टीकायें संस्कृतमें हैं। इस समय हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका आन्दोलन चल रहा है; पर डॉ० सा० बोलचालकी संस्कृत भाषाको सार्वभाषा होनेके योग्य मानते हैं, क्योंकि अधिकांश जनताके हृदयमें उसके प्रति सद्भाव है और बंगाली, मराठी, तामिली, तेलगू आदि प्रान्तीय लोगोंके लिये वह सुबोध है। अंग्रेजी और उर्दूका प्रचार खूब हुआ, परन्तु फिरभी वे सार्वभाषा नहीं हो पाईं — शहेरी नागरिकों तकही वे सीमित रहीं। संस्कृत भाषाको धारा प्रवाह बोलनेवालोंका अबभी अभाव नहीं है। अतः संस्कृत राष्ट्रभाषा होनेकी अधिकारिणी है। डॉ० सा० का यह अभिमत श्लाघ्य और ऐतिहासिक आधार लिये हुये है, फिरभी यह संशयात्मक है कि संस्कृत भाषा हमारे देहातके निवासी ग्रामीणोंके लिये सुबोध और बोलचालकी भाषा हो सकेगी। अशोकने भारतके भिन्न २ भागोंमें धर्म लेख उस २ प्रान्तकी भाषामें खुदवाये थे — वे सब प्राकृत भाषाके भिन्न रूप हैं। अतः यह प्रश्न विचारणीय है। — का. प्र.]

The problem of a common language in India that "the Āryans and Non-Āryans" would alike understand is by no means a modern problem. It was present in the days of Lord Mahāvīra who discarding Sanskrit, the autho-

rised language of Vedic Religion, essayed to propagate his own Gospel through the medium of the Ardhamāgadhi. The *Aupapātikasūtra* No 56 tells us

> Bhagavam Mahāvīre .... .Addhamāgahāe bhāsāe bhāsai, arihā Dhammam parikahei Tesim savvesim Āriyamaṇāriyāṇam .... Dhammam āikkhai.

That language, the *Sūtra* goes on to say, had the miraculous virtue of being understood by the entire Congregation—Āryan as well as Non-Āryan—as though the sermon was preached through the individual Mother-tongues of the diversified audience :

> Sā vi ya ṇam Addhamāgahā bhāsā tesiṃ savvesim Āriyamaṇāriyāṇam appano sabhāsāe pariṇāmeṇam pariṇamai.

There could not here of course be any question of the Canon being actually rendered into the diverse current languages of the day. There is no evidence, nor much likelihood, of this having ever happened Barring an appeal to miracle, all that this, in soberness, can mean is that the 'subjects' that Lord Mahāvīra essayed to discuss in his sermons (and a list whereof he immediately gives) were—as distinguished from the "arid profundities" of the Vedic Religion—so simple and of such a direct appeal that they went straight into the hearts of all listeners. In a somewhat technical (or mystic) sense this can mean that although the "Vaikharī" and the "Madhyamā" forms of the various languages current in the audience differed, their "Paśyantī" forms agreed, and it was to that common form that the Lord Mahāvīra made his appeal and thereby succeeded in making his teaching fully comprehended by all

Curiously enough the same problem was raised by the Buddhist disciples of Gotama Buddha In the *Cullavagga* (V. 33) we read :

> Te bhikkhū Bhagavantam etad avocum: "Etarhi Bhante bhikkhū nānānāmā nānāgottā nānājaccā nānākulā pabbajitā, te sakāya niruttiyā Buddhavacanam dūsenti, handa mayam Bhante Buddhavacanam Chandaso āropemā" ti.

The diversified Buddhist Congregation, hailing from all ranks and castes, high and low, felt the need of a common medium of communication and instruction, and the bhikkhus who, in the present case, were "Brāhmaṇajātikā kalyāṇavācā kalyāṇavākkaraṇā" proposed the rendering of the Canon into Sanskrit[1] so as to prevent the possiblity of its being misunderstood and

1 Buddhaghosa explains: Chandaso āropemā ti., Vedam viya Sakkatabhāsāya vācanāmaggam āropema [Sakkata = Sanskrit]

misinterpreted under the influence of the diversified contemporary tongues and idioms. The Buddha, however, gave his ruling flat against the proposal:

> Na bhikkhave Buddhavacanam Chandaso āropetabbam. Yo āropeyya, āpatti dukkhatassa. Anujānāmi bhikkhave sakāya niruttiyā Buddhavacanam pariyāpunitum ti.

This passage unfortunately has been wrongly interpreted, and that by no less ■ scholar than ■ Oldenberg, who says that the Buddha here decrees that every one should learn the sacred texts in his own language. Oldenberg imagined that as the holy texts of the Buddhists spread all over India, "they were certainly not handed over to the different parts of India in the Māgadhī language, but in the Vernacular dialects peculiar to the several districts." But, surely, grammar requires that the 'sva' in *sakāya niruttiyā* refer to the language in which the Buddha himself preached. In his commentary on the passage, Buddhaghosa makes this quite explicit:

> Ettha *sakā nirutti* nāma Sammāsambuddhena vuttapakāro Māgadhiko vohāro

This in fact is the reason why the Māgadhī was designated the Mūlabhāsā, the basic or mother tongue of Buddhism; and it is the study of the Canon in this basic language that the above passage from the *Cullavagga* enjoins. This, however, did not solve — even after the fashion of the Jain *Aupapātika-sūtra* — the difficulty raised by the Bhikkhus. The Buddha calls upon his disciples to study the original Māgadhī of the Canon just as Lord Mahāvīra emphasises the study of the Addhamāgadhī, but that could not have guaranteed — apart from the miracle — that the words of the Canon would be easily and correctly understandable throughout the length and breadth of Bhāratavarsa. As a matter of fact, at the time we are speaking about, Sanskrit would have been understood by a much larger proportion of the peoples of India than the language of a small province such ■ the Māgadhī or the Ardhamāgadhī. These two languages were, like most other provincial Prākrits, derived from Sanskrit and had considerable common vocabulary. A Sanskrit-knowing person would have been able ■ understand, with a little effort, most of the provincial Prākrits, but not so the exclusively Māgadhī or Ardhamāgadhī speaking commoner (assuming for the moment that the latter was, in its Canonical form, an actual spoken language) There was, therefore, something in the proposal of the Bhikkhus to convert the Buddhist Canon into Sanskrit.

Curiously enough, in course of time and as Jainism and Buddhism grew ■ attain an All-India status, they both of them did actually adopt Sanskrit as the medium for learned, disquisitive and commentorial writings intended ■ be read by the élite thinkers of Bhāratavarṣa. In the seats of learning like

Nālandā that had gained a national and even international reputation, Sanskrit was adopted as the medium of instruction and learned compositions Nay, in some of the advanced old-type Pāthaśālās of Banares, Calcutta, Madras, Mysore and Tanjore, even to the present day, Sanskrit continues to be the natural medium of instruction in Śāstric subjects. Having had to visit almost all the parts of India in connection with the Sessions of the All-India Oriental Conference, I have had many occasions to watch scholars from different Provinces, having no other language in common, trying to make one another tolerably well understood by means of Sanskrit. When, some twenty years ago, Rajaguru Hemaraj Pandit, C. I. E., of Nepal visited the Bhandarkar Oriental Research Institute of Poona, he had with him a youth of 14 or 15 who used Sanskrit for ordinary conversation with a fluency that could well have become the object of envy for many a Professor of Sanskrit. The explanation for this is naturally to be found in the circumstance that for the vast majority of Indians Sanskrit is still the language of their sacrament and worship, the repository of their outstanding literary heirlooms and their cultural and architectural monuments scattered all over the country, a language so- to- say which surcharges and enlivens the very atmosphere in which an orthodox Hindu child is reared up into adolescence And this is true irrespective of the mother-tongue to which the child may happen to be born. For, Sanskrit is at least as dear to the speakers of the modern Dravidian languages of India as to the speakers of the Sanskrit-derived languages of the other parts of India. A Mahārāstrian, a Bengāli, a Telugu or a Tāmilian may not possess the same intensity of love and loyalty for Hindī, our proposed *Lingua Franca*; but they would out-rival one another in their study and reverence for the holy language of the Vedas, the Epics, the Purānas and the Dharmaśāstras.

The case is not much altered when we turn to Jainism and Buddhism. It is true that Sanskrit is not the actual language of their Canon; but there is a vast amount of common mythology and folklore, besides belief in doctrines such as those of Karman and Transmigration, which all make them so intimately related to Hinduism. There also has been much mutual borrowing and assimilation between these three religions as regards beast-fable and ascetic and moral poetry. So that in ideology and phonology Sanskrit is not such an unfamiliar language to Jainism and Buddhism, even ignoring for the moment the fact that much of their later-canonic, secular and scientific literature is in Sanskrit. The Buddhist Bhikkhus' proposal in favour of the "Sakkata-bhāsā" was not so absurd a proposition after all, and it has actually found its justification in the later history of the Church

We must, however, guard against one inevitable but fatal misunderstanding. The Sanskrit that was to be the common means of communication in Hinduism and in the two allied Churches was not the same as the dread night-mare of the Pāniniya schoolmen. It was a very much simplified

affair with a limited and selected vocabulary, divested of all optional and out-of-the-way paradigms, possessing a simplified syntax and a definite tendency towards participial construction, thereby eliminating the use of too many verbs. It was, in other words and on the analogy of the modern Basic English, a "Basic" Sanskrit specially designed to facilitate intercommunication and so avoiding all parade of learning as such. And there were specially prepared conversational grammars in existence—like the *Gīrvāṇapadamañjarī* of Dhundirāja[2]—which made the acquisition of average facility in the use of the language not a very difficult job for men and women of average intelligence. The beginnings of this attempt to provide India with an adequate inter-provincial means of communication belong to an age much earlier than that of the advent of the Urdu and the English, and our language possessed this great advantage over the Latin in Mediaeval Europe that there was no disharmony between the religious and mythological background of the proposed *Lingua Franca* and of the contemporary Vernaculars of the land, as there was between Latin and the growing Vernaculars of Christian Europe. The need of special State patronage for the proper development of such a "Sarvabhāṣā" was realised and fully acted upon, of which the Dakshina Fund of the Peshwas is only one of the latest and most widely known example. History, unfortunately, stepped in and intercepted the further progress of the experiment and the consequent attainment by Sanskrit of its legitimate position as a common All-India language.

There were of course two inevitable dangers against which the experiment had to be carefully guarded. The first of these is the natural vanity of the learners which, unless severely and systematically checked, delights in parading one's scanty and newly acquired learning thereby defeating the very life purpose of a "Sarvabhāṣā"[3] The second and the more real danger lay in the imposing and inculcating, along with the *Lingua Franca*, of certain socio-religious standards once formulated and preached by the original literature of that language, which, however, might not be exactly suited to the standards and requirements of the current times When, for instance, the Christian Schoolmen of Mediaeval Europe, in their Latin perorations, occasionally brought in the Classical Divinities, that was understood as merely a stylistic flourish intending no harm to the established dogma. But if, with the introduction of Sanskrit as India's *Lingua Franca*, there were to follow an attempt to reintroduce, without an antecedent rigorous examination of their suitability to the changed conditions of

2 See P K Gode's paper in the Tanjore S M Library Journal for 1946-47

3 This can happen and has happened in the case of the too much Sanskritised Hindī, just as much as in the case of the too much Persianised Hindustānī.

modern times, the old *Cāturvarṇya* foundations of society, there is much danger of the experiment achieving not a cementing of the union, but a fomenting of disunion.

This race for India's *Lingua Franca*, as it turned out, was almost won by a rank outsider, viz. the English of the British conquerors of the Country. In its linguistic, cultural and religious background, English was of course utterly unsuited to be India's *Sarvabhāṣā* The times were, however, propitious for it, and they were aided both by an insiduous Missionary propaganda and a sordid appeal to the lucre of employment which do not reflect much credit upon the moral and political stamina of the people. The race, as I said, was almost won ; but the fifteenth of August 1947 suddenly (and may we hope, permanently) upset the win. India certainly owes much to her English contact ; but culturally and otherwise, English is too alien a language to become in India the common man's *koiné*. With the English having become, let us hope, *hors de combat*, the race ought to be now won legitimately by our "Basic" Sanskrit, if we could effectively counteract the two-fold danger mentioned above that seems to be menacing its success In that case, for the India of Tomorrow, our " Basic " Sanskrit has all the qualities demanded from a medium of inter-provincial communication and a vehicle for the dissemination of advanced thought. Hindi, its only serious rival, has admittedly a narrower literary range, to say nothing of its linguistic disaffinity with the languages of Southern India, which has been, after centuries of persistent efforts, overcome in the case of Sanskrit, but not yet in the case of the Hindi. May we therefore hope that the proposal of the Buddhist Bhikkhus, already endorsed as it had been by the ancient seats of learning like the Nālandā, is yet to find, in the fulness of time, its fullest realisation and completest justification ?

The Contribution of Jainism to Indian Culture

By Shri T. K. Tukol, M.A., LL. B., Special Officer, Political Dept. Secretariat (Bombay)

[श्री तुकोल महोदय उच्च राजकर्मचारी और न्यायाधीश रहे हैं। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने भारतीय संस्कृतिको जैन धर्मकी देनका प्रमाणिक दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने पहलेही सिद्ध किया है [illegible] जैन धर्म एक स्वतंत्र और अति प्राचीन धर्म है। जैन धर्मकी विचारसरणीका प्रभाव भारतीय धर्मोंकी विचारधारापर पडा है। धर्मके साथ जैन संस्कृतिभी निराली रही है। भारतके दैनिक लोक जीवनपर उसका प्रभाव भुलाया नहीं जा सकता — लोकजीवनको जैन संस्कृतिने ऊंचा उठाया है। जैन धर्मके आदि संस्थापक ऋषभदेव थे। आधुनिक इतिहासज्ञ पार्श्व और महावीर-इन दो अन्तिम तीर्थंकरोंको ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। किन्तु अब तो ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधारसे [illegible] मानना ठीक है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म (वैदिक धर्म) इतना प्राचीन अवश्य है। जैन धर्मके सैद्धान्तिक मन्तव्योंमें आदिकालीन विचारोंका अस्तित्व मिलता है-(जैनोंका अणुवाद अति प्राचीन है) जिनका प्रभाव भारतीय दर्शन शास्त्रमें दृश्य है। जैन धर्मका प्रचार उत्तर और दक्षिणभारतके दोनों भागोंमें रहा है। उत्तर भारतके शिलालेखोंसे एव अनुश्रुतियोंसे उन राजाओंकी कीर्ति गाथाओंका पता चलता है, जो जैन धर्मके अनुयायी या उसके संरक्षक थे। गुजरातके-प्रसिद्ध सम्राट् कुमारपाल जैन धर्ममें दीक्षित किये गये थे। दक्षिण भारतकी जैन कीर्तियां इतिहासके पृष्ठपृष्ठ पर अंकित हैं। सम्राट् अशोकके समयसे वहां जैनका प्रभाव स्पष्ट है। दक्षिणमें १२ वी शताब्दिक तक ऐसा कोई राजवंशाही न हुआ जिस पर जैनधर्मका प्रभाव न पड़ा हो। दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब, गंग, राष्ट्र, राष्ट्रकूट और कलचूर्य प्रमुख थे। इन सबका राष्ट्रधर्म जैन था। जनकी प्रजाभी जैन थी। इस प्रकार राज्याश्रय और राजनैतिक महत्व प्राप्त करके जैनाचार्यों और जैन नेताओंने जनताका मनोवैज्ञानिक [illegible] प्रदर्शन किया। परिणामतः जनताको प्रत्येक धार्मिक विषय वैज्ञानिक दृष्टिसे समझनेका बोध प्राप्त हुआ। जैनधर्म ईश्वर कर्तृत्ववादको नहीं मानता, बल्कि [illegible] तो कहता है कि प्रत्येक प्राणी स्वयं परमात्मा बन सकता है। वह स्वयं अपने जीवका निर्माता है। दूसरेकी कृपा [illegible] मानव को जीवित नहीं रहना चाहिये। जैनधर्मकी इस शिक्षासे भारतकी धार्मिक विचारधारामें विचार-स्वातंत्र्यकी सृष्टि हुई और वह उसकी अपूर्व देन है। पुरोहितवादके ,गढकी नींव इससे हिल गई थी। जैनधर्मने यज्ञ, श्राद्ध, तर्पण आदिको निरर्थक घोषित किया और याज्ञिकी हिंसाका अन्तही कर डाला। जीव-अजीवका भेद जैनका निराला है। एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादि जीव व्यवस्थाको अन्य मतवाले हेय समझते थे, किन्तु आज विज्ञानसे जब वनस्पतिमें प्राण सिद्ध कर दिये गये तो जैन मान्यता स्वतः प्रमाणित हो गई। जैन पुद्गलवादभी आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु है। भारतीय दर्शनवादमें इस प्रकार जैनधर्म द्वारा एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोणका समावेश हुआ। न्याय-शास्त्रमें जैनोंका स्याद्वाद सिद्धांत अद्वितीय है। उससे मतमतान्तरोंके प्रति समन्वय भाव जागृत होता है। अन्य मतोंको अनेकान्तवादका पताभी नहीं था। जैनोंका कर्मसिद्धान्तभी विलक्षण है। ब्राह्मण तो वैदिक क्रियाकाण्डको करने और न करनेकोही कर्म मानते हैं। किन्तु जैन प्रत्येक प्राणीके

अपने कर्मका उत्तरदायी ठहराता है। कर्म जैनके निकट साधारण क्रियासे अधिक है। सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं-कर्म वर्गणाओंका जीवके साथ बंधको प्राप्त होनेसे प्राणीका मनोवैज्ञानिक और शारीरिक जीवन निर्धारित होता है। प्राणिका जीवनक्रम उसके संचित कर्मोंके अनुसार बनता है। सुख-दुखके अनुभव इसके रूपी हैं। कर्म पुद्गलसे मुक्त होने पर आत्मा स्वतंत्र हो जाता है। आधुनिक मनोविज्ञानसे इसकी पुष्टि होती है। ब्राह्मणोंके आधिपत्यका अन्तमी जैन तीर्थंकरोंकी क्रान्तिमई शिक्षा से हुआ, जिसमें प्रत्येक प्राणीके लिये धर्म पालनेका द्वार खोल दिया गया था। समाजमें एक निराली लोकतंत्रात्मक विचारधारा बह निकली थी। दलितवर्गके लोगोंने जैनधर्मको प्राणदाता पाया, इसके ऐतिहासिक उदाहरण उपलब्ध हैं। महावीरके पश्चात् एक हजार वर्षोंतक अहिंसाका बोलबाला भारतके शासनचक्रमें रहा। सबही भारतीय नरेशोंने वर्ण और जातिका भेद रक्खे बिना ही शिक्षा, कला और साहित्यकी उन्नतिको प्रोत्साहन दिया। खेद है कि इस अहिंसा पर कायरता लानेका आरोप लगाया जाता है, किन्तु गांधीजीने अहिंसाकी व्यवहारिक महत्ताको स्पष्ट कर दिखाया है। जैनधर्ममें अहिंसाका नियमित विवेचन मिलता है। जहां अन्य मतोंमें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रमेंसे किसी एक पर जोर दिया गया मिलता है; वहां जैनधर्ममें तीनोंका ग्रहण किया गया और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रके मिलनेसे मुक्तिमार्ग बनता बताया गया है। इससे भारतीय विचारधारा प्रौढ़ हुई। इसके अतिरिक्त जैनोंकी साहित्य और कला सम्बन्धी देनभी अपूर्व है। जैनने भारतीय संस्कृतिमें एक नया जीवन सिरजा, [illegible] मान्य करना पड़ता है। का० प्र०]

1. "Let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India." Thus concluded Dr Hermann Jacobi his article on the "Metaphysics and Ethics of the Jainas." These observations of a pioneer savant who made signal contributions to the study of the Jain Philosophy bear ample testimony to the indelible marks and influence which Jainism has left on the growth and evolution of religious thought in India. India [illegible] regarded [illegible] the home of all religions, not merely because the different systems of philosophy which are now holding the field of human thought took their seeds from our soil but also because at a time when all the West was in a state of blissful ignorance of the life that matters, India had long before the Christian era drunk deep into that sweetness and light which dawned upon Europe only in the 19th Century. Every religion has something distinct [illegible] say about the meaning and value of life and to answer in a reasoned and comprehensive manner all problems that meet a wayfarer every moment in his long pilgrimage.

2. The life of Culture is really such a pilgrimage and the whole history of Indian culture is permeated with thoughts of different faiths. For ages religion has been a fountain of solace to afflicted minds and has afforded peaceful solutions [illegible] bewildered souls. But Jainism, in which was found a satisfactory teaching by [illegible] great scholar and thinker like Herbert Warren after a period of search and cogitation, has received little or no attention from the

non-Jain philosophers and scholars. It is misunderstood and misrepresented by those who have written or spoken about it. Writers like Mrs. Sinclair Stevenson stigmatised its principle of "ahimsā as grotesque exaggeration" and its philosophy as possessing an "empty heart." It needs a big volume to meet such misrepresentations. The present article has no such ambition but is imbued with a modest motive of giving a brief exposition to changes that Jainism has brought about in Indian culture.

3. What is culture? It is difficult to define the word "culture" and its exact connotations, it is hard to understand. Culture may be defined as an essence of human experience of a group of people in any country or nation. It is a spontaneous and free assimilation of what is best in human thought, tradition and action. The Earth, the Universe and the Life have created "an accumulated tradition of human feeling for thousands of years and culture represents the power to realise this tradition and nourish it with a peculiar vision. It necessarily varies with climes and countries, though the substratum of all cultures may be based on the same ultimate spiritual sensibility. The characteristics of each culture can best be understood from the literature, the folklore, tales, proverbs, dress and many other numerous modes of conduct and thought" "The whole purpose of culture," as John Cowper Powys said in his book 'The Meaning of Culture', "is to enable us to enjoy life with a consciousness that has been winnowed, purged, directed made airy and porous, by certain mental habits" I remember having read some writer saying that culture consists in unlearning what you have learnt in schools and colleges. The humorous sally only points out that the academic paraphernalia of book-learning is not to be given undue emphasis in judging the standard of any particular culture. And so far as religion is concerned, culture aims at a free spirit in the deepest sense and is free from the fanaticisms of any dogma or creed.

4. Viewed in this light, Jainism contributed immensely towards the enrichment of the general life in India, not only amongst its followers but also amongst the laity whose thought and conduct had been circumscribed by the ritualistic teachings of the Vedas and Upanishads. It is idle to speculate about the antiquity of Jainism There were days when Professors like Wilson, Lassen and Weber spoke of it as an off-shoot of Buddhism. It is now historically established that Pārshwanāth, the 23rd Tīrthankara who attained 'nirvāna' 250 years prior to Lord Mahāvira was a historical personality and it would be wrong to argue that a faith propagated by Him could be an off-shoot of what was preached by Buddha 300 years later. In the Ādi Parva and the Ashwa-Medha Parva of the Mahābhārata there are references to "sapta-bhanginayajñāna" which admittedly apply to the Jains. Much of the confusion sprang from the apparent similarity in the popular doctrines of the two religions and as Buddhism went on gaining more power and strength after the Christian era certain kinds of prejudices also appear to

have crept in the appreciation of the two religions to claims of antiquity. Similarly there is ample material in the writings of the Western scholars who partly on acccount of the scantness of material about Jainism and partly on account of their meagre study of the Hindu Shāstras drew hasty conclusions from the similarity of some rules of conduct and principles of faith and argued that Jainism was an offshoot of Hinduism According to the Jain tradition the founder of the Jain religion was Lord Vrishabhadeva who lived millions of years ago. In his lecture on Jainism published by the Jain Itihās Society in 1902, Lala Benarsi Dass has quoted in detail from Mahābhārata (Shānti Parva) and Bhāgwata Purāna Skandha 5 to show that these scriptures contain references to Lord Vrishabha as the founder of Jainism. He has also quoted from the inscriptions found at Muttra by Dr. Fuhrer in support of the propositions. The Inscriptions are ascribed to be 2000 years old and if further research brings out some historical material to bear out these vital details of tradition from different sources, there cannot be any doubt in concluding that Jainism was as old as Hinduism. Apart from these references, Dr. Jacobi said that "the interest of Jainism to the student of religion consists in the fact that it goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise also to the oldest philosophies—Sānkhya and Yoga—and to Buddhism."

5. Whatever may be the divergent views about the antiquity of Jainism, there cannot be any difference of opinion about the influence that it had both in the North and the South of India. In the North there are inscriptions and legends which sing of the glories of kings that were either Jains or had embraced Jainism. The conversion of Kumārpāla, the King of Gujerāt is regarded as a great event of historical importance. Events during the earlier period of the rule of Asoka, the great Emperor are not wanting. But the tangible and at the same itme historical proof of the sway that Jainism had in Southern India is a matter of common history. Till the 12th century, there was not a single dynasty in the South that did not come under the influence of Jainism. The Kadambas, the Gangas, the Rāshtrakūtas, the Rattas and the Kalachūryas are some of the influential and powerful dynasties that either followed Jainism as the religion of the state or had innumerable followers within their fold.

6. The support of the political power and the status accorded to Jain priests, philosophers and writers naturally influenced every field of human activity and thought. The most fundamental contribution of Jainism is the introduction of a really scientific outlook in approaching all religious problems, particularly in the field of Metapsysics. Though the Jain doctrine, that to attribute the qualities of creation, protection and destruction to some external agency like God is the negation of the Supreme Being was ridiculed by many as a doctrine of athiests, as times passed on and intellectual

rationalism came to hold sway in philosophy as in religion, the doctrine of a kind and almighty creator governing the Universe is fast losing hold. I was amused to find Mrs. Stevenson writing that "the Jain believe strongly, in the duty of forgiving others, and yet have no hope of forgiveness, from a Higher Power for themselves" It is indeed regrettable to find this observation in the last chapter of her book. "The Heart of Jainism", which indicates that she had approached the subject without any heart to find out the truth about the religion. While Jainism refuses to recognise a Creator God and a Protector God, it has offered the highest and the most potent solution for evils of living beings by propounding that each soul possesses the inherent power of attaining to that state of liberation where omniscience and infinite bliss would eternally mark out the destination (moksha). "Thou art thine own master" is a doctrine of supreme potentiality and consolation. I cannot see whether there could be better "grace" or stronger heart in any religion. This teaching of the Jain religion must have come to the Indian people as bringing in the freedom of thought even in the field of religion which hitherto had been blocked and monopolised by the Brahmanical priesthood as their special province.

7. In ancient India, "whoever desires paradise, should sacrifice" was a common preaching and sacrifices and slaughter in the name of religion were very common. Jainism raised a revolt against this misnomer of a religion popularised by a selfish priestly class, and established equality and sacredness for all lives and in all states. Probably the old ideas had been based on a wrong concept of the soul. The Aryans appear to have believed that after death every soul exists in the same shadowy form in some higher region and the same idea seems to have dominated the ritualistic part of the Vedic religion which preached the performance of Shrādha or the offering of oblations to the departed as a primary duty of a house-holder. As Dr. Jacobi concluded one of his learned discussion, "the concept of immortal souls is entirely absent in the Brāhmanas and the oldest Upanishads." A clear concept of the Jīva and Ajīva was given by Jainism. The Jainas recognised that while jīva was essentially intelligent and free, its contact with matter was responsible for the various bodies that keep it in bondage. The classification of the jīvas into ekendriya, dwi-indriya etc. was not easily appreciated by the other religions until modern science demonstrated that even plants have a sensient life resembling our own. Still more astounding is the analytical theory of pudgala or matter existing in atomical state, either bādara (gross) or sukhsma (subtle) each occupying some pradesh or space. It is worth a detailed study to compare the modern theories of electróns with the minute classification which this religion formulated long ago.

8. To my mind, this scientific and analytical approach to the study and in the propagation of religion was the most significant contribution

which heralded a new era in the field of Indian philosophy. It is indeed a matter of common knowledge that the Jainas reached a very high sense of perfection in the field of logic by their introduction of the doctrine of Syādvāda. Besides assisting in the development of deductive and inductive thinking, it helped immensely in the cultivation of an impartial and all-round approach to every object or problem. In fact, Anekantawāda or the method of all-sided approach was a principle unknown to many other systems Hegel's idea of the identity of being and non-being comes very near our branch of logic.

9. The singularity of Jainism is to be found yet in another field which has escaped the attention of some Western and Eastern scholars. The rationalistic idealism of the Jainas existed not only in their metaphysics but also in their ethical teaching. The doctrine of Karma is common to all religions in India but a distinct stamp of scientific and analytical classification is to be found in the Jain interpretation of it. The performance or the omission to perform certain rituals is regarded as a source of Karma amongst the Brahmins The Jains however recognised the responsibility of each being for his or its karma. While other philosophies attributed the various antecedents and accidents of life to a divine power far beyond the control of human vision and thought, Jainism emphasised that the law of cause and effect permeated not only the physical aspect of our existence but also the psychical or mental make-up of all souls. The contact of matter with the soul produces new energies which in relation to their space, duration, intensity and nature produce myriads of changes in the living beings. The characteristic which any being possesses at any given moment is the natural result of the various karmas or energies which are generated by his past and present contact with the atoms of matter. Every moment a person attracts to himself and assimilates different particles or atoms of matter and it is common experience that accumulation of matter means some change. This law of moral causation brings about into existence different waves of feeling, either of sorrow or joy, merit or demerit and the attainment of complete perfection necessarily means a liberation from the foreign matter of karmic atoms It is an imperceptible victory of the Jain doctrine that modern science and rationalism have demonstrated beyond doubt that this explanation offered by Jainism was true and conformable to known theories of acceptable doctrinaire.

10. It is common experience that the ideal of original founders often lose their spirit and retain only the form with the progress of times. The selected class which is first intended for safeguarding the rights of the masses ordinarily appropriates to itself all power and position which such selection brings with it. That is what exactly happened in the case of Brahmins To them was first assigned the spiritual guardianship of the other three classes: but as times went on, the intellectual field was so much

monoplised by them that the others began to feel that aristocracy in religion created by priests was an artificial and suffocating barrier. The fact that all the Tirthankaras were Kshatriyas by birth and that the religion that they preached threw the portals of religious knowledge and the attainment of spiritual perfection through it open to every soul irrespective of its antecedents of birth was really an unexpected revolution in those times. The wave of this religion fostered such enlightenment and change in outlook that all people must have felt a relief from the tyrrany of the priesthood. In fact the movement must have democratised the whole social system and showed to the people that to know it was to study it well and that to live it was not merely to love it as an object of reverence but to regard it as an essential element of life. Historical instances may be quoted from the South to point out that many people from the lower classes felt that Jainism was regarded by them as a Saviour from the thraldrom of priesthood and ritualism, and practised the principles with pride and reverence. I may only draw the attention of inquisitive students to Prof. S. R. Sharma's book on "Jainism and Karnatak Culture" for examples on this point. For a student of Indian Social History, it is absolutely necessary to note that Jainism brought with it and sowed the seeds of religious toleration to such an extent that for nearly a thousand years after the death of Lord Mahāvīra the principle of Ahimsā which was another form of universal respect for the life of every living object held sway in all activities of Kings and rulers in India. We know that all kings that came after the Christian era patronised learning, art, and literature regardless of class and creed.

11 It is unfortunate that this principle of Ahimsā which brought into the Indian life a new spirit of humanism and enhanced respect for all lives was subjected by different writers to unmerited criticism, if not hatred. Till Gandhiji demonstrated that the use of ahimsā as a weapon against an opponent was possible only amongst those who were great in spirit and moral strength, the Jains were often charged with cowardice and as having brought about the downfall of many empires. Such critics forget that while laying down that the practice of non-killing physically and mentally was an idealism of the highest degree attainable by supremely spiritualised souls, Jainism did not forget to prescribe a code of conduct for an ordinary householder whose lapses in that field could be excused owing to the disabilities induced by his profession, calling, age or other circumstances. When Mrs. Stevenson characterised the doctrine as "grotesque exaggeration" she was oblivious to the principles that classified a house-holder into different classes or stages according to the standard of his mental make-up. The triumph of Gandhiji was the triumph of Ahimsā, nay of that religion which preached it as a stepping stone for divine perfection. As Gandhiji often emphasised we should remember that it is this "ahimsā" which has kept the

banner of Indian life much above the materialistic outlook of the West and has secured an ever green corner for our religion in the hearts of the great.

12. Lastly, it is to be noticed that the different philosophies that flourished in our country have emphasised either on the importance of devotion, or conduct or knowledge as the basis of liberation. Jainism was singularly vocal in insisting that the right path of liberation lay through a unity of all the three and the non-development of any one of them meant a step away from the true path of liberation. How true it is to say that a man of devotion, not backed up by right knowledge and right conduct cannot progress beyond the shallow sentiment of a showy devotee It is equally true that knowledge and devotion not strengthened by right conduct have no value in the development of the mind and the soul, since absence of cohesion between the thought and the deed destroys the harmony which would have otherwise developed in such a person

13. These changes in the outlook of human life so profusely and freely preached by Jainism and practised by its followers were not confined to the field of religion only The Jains were patrons of great learning and the history of South Indian literature is a history of the power and force which Jain thought wielded for centuries over the minds of writers and readers alike It is impossible to disassociate religion from the different activities of the mind and the credit of having used religion as a vehicle of higher thought and poetic flights must always go to the Jains whenever the early history of Indian literature comes to be written. It is a boast amongst the critics of modern poetry and art to advocate that love of nature was a new phenomenon infused by the West. Would it be too much to claim that the Jains have always exhibited the highest sense of respect for nature and almost a sort of mystic rapture over the beauties and the serenity of nature by selecting for their holy shrines such hills and sites of luxuriant beauty that sing a song of austere love and veneration, a song that almost lulls the visitors into devotion by a captivating music of the "Om"?

Here I close my article, but before I do so let me assert once more that it is Jainism that "inaugrated the new period of Indian culture which lasted through the middle ages almost down to the present time" and now holds out a hope of future rejuvenation and renaissance in all our life, literature and philosophy.

क्षेत्रपाल (कारकळ)

Fig XII Ksetrapāla, Nemınath Temple, Kārkal.
(Copy-right reserved U P. Shah, Esq)

क्षेत्रपाल, मूडबिदरी
Fig XIII Ksetrapāla
(Chandranātha Temple,-Moodbidri).

Ksetrapāla In Jain Iconography

By Shri Umakant Premanand Shah M. A., Baroda

[प्रो० उमाकान्त प्रेमानंदजी शाहने जैनमूर्ति-कला-विज्ञानका विशेष अध्ययन किया है। प्रस्तुत लेखमें वह जैनमूर्ति कला विज्ञानमें क्षेत्रपालकी मूर्ति शिल्पका परिचय कराते हैं। क्षेत्रका रक्षक देवता 'क्षेत्रपाल' कहलाता है। भारतकी सभी धर्मोंमें उसकी मान्यता है। जैन शास्त्रोंमेंभी क्षेत्रपालका वर्णन मिलता है। श्वेताम्बरीय 'निर्वाणकलिका' में क्षेत्रपालका वर्ण कृष्ण, टेढे दांत और भयंकर मुखाकृति लिखी है। उसके चोटी और भृकुटी तथा केश बर्बर होते हैं। काठकी खड़ाऊँ पहने और मुद्गर लिये नागवर्णका यज्ञोपवीत पहने उसे बताया है। नीचे हाथमें डमरू और अंकुश लिये तथा सामने कुत्ता, गेरुआदि लिये होता है। तीर्थंकर मूर्तिके दाहिने पार्श्व पर क्षेत्रपालकी मूर्ति बनाई जाती है। श्वे० '[illegible]' में बीस हाथोंवाले क्षेत्रपालका उल्लेख है, जो सर्प पहने होता है। 'निर्वाणकलिका' मेंभी अनेक हाथोंवाला क्षेत्रपाल बताया है और उसका वर्णन किया है। माणिक्यचन्द्र सूरिके '[illegible]' ग्रंथमेंभी एक अन्य प्रकारके क्षेत्रपालका उल्लेख है, जो यंत्रिकाओंकी शांति पर ध्यान रखता है। दिगम्बर जैन सम्प्रदायमेंभी क्षेत्रपाल माना जाता है। '[illegible]' ग्रंथमें शुभभद्रने इसका ... करना बताया है। उसके माथे पर जिनेन्द्रकी मूर्ति बनी होती है। पं० आशाधर और श्री नेमिचन्द्रजीने अपने प्रतिष्ठा पाठोंमें क्षेत्रपालकी मूर्ति बनानेका विधान किया है। उसके ऊपर दोनों हाथोंमें ढाल तलवार और नीचेके दो हाथोंमें मुद्गर और कुत्ता लिये लिखा है। "जैनेन्द्रयज्ञविधि" में उसका रंग कृष्णनील और उसे नंगा, सर्पाभूषण पहने और तीन आँखोंवाला बताया है। उसके चारों हाथोंमें स्वर्णपात्र, तलवार, मुद्गर और डमरू लिये हैं। मूडबिद्रीके चन्द्रनाथ मंदिरमें क्षेत्रपालकी एक ऐसी मूर्ति है। (चित्र नं. १) कारकलके दिगम्बरीय नेमिनाथ मन्दिरमेंभी क्षेत्रपालकी एक मूर्ति मिली है (चित्र नं. २) यह मूर्ति भयंकर मुखाकृतिकी है और कमरमें छुरी बांधे हुए है। नीचे हाथोंमें डमरू और अंकुश है। शेष हाथ खंडित हैं। सर्पफणा और तीसरी आँखभी दृष्टव्य है। आसन पर कुत्तेका वाहन अंकित है। मूछें लम्बी हैं और खड़ाऊँ पहने हैं। ग्वालियर रियासतके गंधावळ स्थानसेभी एक क्षेत्रपाल मूर्ति मिली है। यह त्रिभंग खड़ी है–पैरोंमें कुत्ता बना है। सिरपर पंचसर्पफणमंडल बना है। देवगढ किलेके मंदिर नं. १ के सम्मुख स्तंभ नं. २ पर अति सुंदर क्षेत्रपालकी मूर्ति बनी हुई है। वह ललितासनमें बैठी है। यह क्षेत्रपालकी सर्व प्राचीन उपलब्ध दिगम्बर मूर्ति है। मारवाडके जोधपुरस्थ पार्श्वनाथके श्वेताम्बरीय मंदिरमें क्षेत्रपालकी मूर्ति दर्शनीय है। जैन उसकी गणना भैरव और योगिनियोंमें करते हैं। दिगम्बर ग्रंथ 'महाभिषेकक्रम' में क्षेत्रपालके पांच नाम (१) विजयभद्र, (२) वीरभद्र, (३) मणिभद्र, (४) भैरव, (५) अपराजित मिलते हैं। इसका साम्य हिन्दुओंके देवता भैरव-योगिनीसे है। क्षेत्रपालका रूप हिन्दू भैरव जैसा है। संभव है, हिन्दू देवताके आधारसे जैनोंने क्षेत्रपालको माना हो। (?) किन्तु जैनोंमें क्षेत्रपालकी पूजा प्राचीन कालसे प्रचलित है।
–का. प्र.]

The Ksetrapāla is the protecting deity of a *ksetra* or place. Every village, town, city and even country can have a protecting deity and such references are found in Jain literature as well. Belief in such deities is found in all folklores, and the worship of a ksetrapāla must be regarded as the common heritage of all the sects from very early times. Objects of nature—the river, the mountain, the water, the fire, the rain and the thunder-storm, the tree or the forest—all were supposed to have a *devatā* or a presiding deity and the ksetrapāla may be a product of this primitive belief.

It was, therefore, natural that the human mind first thought of propitiating the lord of the place in which a temple was erected or a rite was being performed.[1]

The Śvetāmbara text Nirvānakalikā says that Ksetrapāla bears the name of the place (where he is worshipped). Black in colour, he looks fierce with crooked teeth, round and tawny eyes and curly (*barbara*) hair. Wearing wooden sandals and naked, he wanders at will, carrying the mace (*mudgara*), the noose and the *damaru* in the right hands and the dog, the goad and the *gadikā* (?) in the left one. His image is to be consecrated on the right side of the Tīrthankara, in the north-eastern quarter, with his face turned towards the south.[2]

The Ācāradinakara, another Śvetāmbara text, describes a twenty-armed form of the god. In his twenty long hands he carries the sword, the spear, the bow, the arrow, the staff, the trident, the disc and such other symbols. He wears snake ornaments and is said to use the lion-throne (*simhāsana*).[3]

---

1. यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य साधुभिः साध्यते क्रिया ।
   सा क्षेत्रदेवता नित्यं भूयान्नः सुखदायिनी ॥

   Ācāradinakara I p 44

2. तथा क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपनामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृत्तपिङ्गनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गर-पाश-डमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानाङ्कुशगेडिकायुतवामपाणिं श्रीमद्भगवतो दक्षिणपार्श्वे ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यमिति ।

   Nirvānakalikā, page 38.

3. समरडमरुसङ्गोद्दामराडम्बराडम्बरोल्लसद्दिशति-
   प्रौढबाहुप्रवाप्रासप्राधिपालङ्कृतिः ।
   विविधकठिनखड्गप्रासबाणप्रकुन्तविस्फोटक्षोदण्डकाण्डा-
   न्छलीयष्टिशूलोरुचक्रक्रमप्राञ्चि हस्तावलि ।
   घतिघनजनजीवनपूर्णविस्तीर्णसद्वर्णदेहद्युतिर्विद्युदुद्भूति-
   गाढ्यमोघिहारोरुचल्लच्छटासन्ततिः ।
   मनुजदनुजकीकसोत्पन्नकेयूरसाराङ्कुरन्योर्मिकासार-
   शीर्षण्यसिंहासनोल्लाससमास्तसमः क्षेत्रपः ॥

   Ācāradinakara, II, page 181.

The Nirvāṇakalikā supports this form also as it refers to a many-armed form, black in appearance, and carrying the *ḍamaru*, the mace, the noose and such other weapons.[4]

The same text further calls him black, white, golden, grey or tawny in complexion and adds that he wears a *jaṭā* (matted hair) and that his hair are curly (*barbara*). The snake Vāsuki has become his sacred thread while the Takṣaka Nāga is worn as the girdle and the Śeṣa as the necklace. Three-eyed, he covers his body with a lion-skin and sits on a corpse while the dog serves as his vehicle The Kṣetrapāla is surrounded by the eight Bhairavas-Ānanda and others-and sixty-four Yoginis. He is known by various well-known epithets such as *Kālamegha*, *Meghanāda*, *Girividāraṇa*, *Khañjaka*, *Bhīma*, *Gomukha*, *Bhuṣaṇa*, *Duritavidāraṇa*, *Duritāri*, *Priyaṅkara*, *Pretanātha* and the like [5]

The Nalāyana of Māṇikyacandra sūri describes a form of Kṣetrapāla, fierce and naked in appearance, with red sandal marks all over the body and dancing swiftly with the jingling of bells tied to the girdle The deity carried the sword, the shield, the human skull and had the dog as his vāhana. This seems to be a four-armed variety of the deity.[6]

The Kṣetrapāla is known to the Digambara sect m well. Gúṇabhadra in his Bṛhat-snapana prescribes oil for bathing this deity The Kṣetrapāla is said to have the mark of the Jina image on his forehead.[7] But the iconography of this deity in the Digambara traditions is supplied by the authors of

---

4. ॐ नमो दक्षिणदिग्भागासीन-क्षिप्ताञ्जनद्युति-डमरुपाशमुद्गरवरानेकशस्त्रालङ्कृतानेकपाणि-कामचारिणे क्षेत्रपालाय स्वाहा।

Nirvāṇakalikā, page 19

5. ॐ क्षां क्षीं क्षूं क्षैं क्षः नमः श्रीक्षेत्रपालाय कृष्णगौरकाञ्चनधूसरकपिलवर्णाय कालमेघ-मेघनाद-गिरिविदारण-आह्लादन-प्रह्लादन-खञ्जक-भीम-गोमुख-भूषण-दुरितविदारण-दुरितारि-प्रियंकर-प्रेतनाथ-प्रभृतिप्रसिद्धाभिधानाय विंशति भुजादण्डाय बर्बरकेशाय जटाजूटमण्डिताय वासुकीकृतजिनोपवीताय तक्षककृतमेखलाय शेषकृतहाराय नानायुधहस्ताय सिंहचर्मावरणाय प्रेतासनाय कुक्कुरवाहनाय त्रिलोचनाय आनन्दभैरवाद्यष्टभैरवपरिवृताय चतुःषष्टियोगिनीमध्यगताय श्रीक्षेत्रपालाय......।

Ācāradinakara, page 181.

6 *Nalāyana*, 8-2 28-33 Māṇikyacandra Sūri lived in 13th Century V S. Also see Mantrādhirājakalpa of Sāgaracandra, 3 120 (published in Mantrādhirāja-Cintāmaṇi, ed by Sārābhāi Nawāb)

7 *Bṛhat-snapana* of Guṇabhadra, verses 62-64, published in *Abhiṣeka-pāṭha-saṃgraha* p. 28 The date of Guṇabhadra is uncertain but the work seems to have been composed between 1000 and 1200 V. S Guṇabhadra, the author of Bṛhatsnapana, flourished before Āśādhara

the Pratisthāsaroddhāra (Pandit Āśādhara)[8], and the Pratisthātilaka (Nemicandra),[9] who say that the Ksetrapāla carries the sword and the shield in his two upper hands while the club and the dog are held in the lower ones. It may be noted that the Pratisthātilaka assigns [illegible] him the south-eastern quarter.

Another Digambara form is supplied by the Jainendrayajñavidhi.[10] Dark-blue in complexion and naked, Ksetrapāla wears snake ornaments and has three eyes. In his four hands he carries the golden bowl, the sword the club and the *damaru*.

A stone sculpture in the Chandranātha temple [illegible] Mūdabidri in the South agrees with this tradition inasmuch as the deity carries the *damaru* and the sword in the right upper and lower hands respectively, while showing the club and the bowl in the corresponding lower ones. Ksetrapāla here stands on a lotus and wears various ornaments. On the pedestal [illegible] carved a figure of his dog vehicle (fig. 1).

A metal image of a Ksetrapāla from the Digambara temple of Neminātha at Kārkal [illegible] interesting (fig 2). Here the deity is represented terrific in appearance and carries a dagger on his girdle. In his two right hands are seen the *damaru* and the noose symbols while the right upper hand probably carried the club, its upper portion being mutilated. The symbol of the right lower hand is indistinct. A snake-hood rising over his right shoulder as well as the third eye may be noted. On the pedestal is

---

8. दृप्यन्नूर्ध्वभुजा कृतासिफलकः सव्येन राह्यासितं
श्वान सिंहसमं करेण'भयदसव्येन विभ्रद्गदाम् ।
नागालंकरणः किलाशु चमत्कारावोल्बणाभिक-
सेवतर्थेरमत्रवोत्त्वधिकृतः क्षेत्रे स साक्षाद्वम् ॥ ५५ ॥

Pratisthāsāroddhāra, page 135.

The printed text of this work is vey corrupt and [illegible] scientifically edited text is a long felt need.

9. ऊर्ध्वस्तेन करद्वयेन फलकं खड्गं कराभ्यामधो-
र्वर्तिभ्यामुस्तमारमेयमसितं स्फूर्जद्गदां बिभ्रतम् ।
प्रत्यूहक्षपणक्षमं समचितं क्षेत्राख्य क्षेत्रपं
तैलाख्येन घृताभिषिच्य विदधे सिन्दूरपर्युत्सरम् ॥

Pratisthātilaka, pages 115-16.

10. श्यामाभ्यङ्गविधिर्जटामुकुटवान्कालाञ्जनाभः सदा
हैमं पात्रमसिं गदां च डमरुं बिभ्रच्चतुर्भिः करैः ।
नग्नो नागविभूषणस्त्रिनयनः श्रीजैनपूजार्चितः
सिन्दूराह्नितमौलिरिष्टफलदः क्षेमं क्रियात्क्षेत्रपः ॥

Oriental Mss. Library, Madras, Catalogue XVI. Ms. no. 8755.

carved his dog vehicle. Other noteworthy features are the long moustache and the pair of sandals

A third Digambara image of Ksetrapāla is obtained from Gandhawal in the Gwalior State. Here the deity is standing in tribhanga with his dog emerging from behind his legs Five snake-hoods over the head of the deity emphasise his association with snakes familiar to the Jain texts referred to above In his right hands, the Ksetrapāla here carries the club and the *damaru* while the left upper one probably carried the snake. The left lower hand is mutilated.[11]

A more beautiful sculpture of the Ksetrapāla is, however, preserved on a pillar no. 2 in front of temple no 1 at Deogarh fort. Here he sits in the *lalita* pose and carries the chain and the mace in his right upper and lower hands respectively while holding a three-hooded snake and the fruit in the corresponding left ones. The dog vehicle is seen near his right leg. It is the earliest representation of a Digambara Ksetrapāla hitherto discovered and is fortunately well-preserved [12]

Of the Śvetāmbara specimens one may be noted here The Pārśvanātha temple in Jodhpur, Marwar, has a sculpture of a Ksetrapāla enshrined in one of its niches The deity here carries the *damaru* and the shield in the right and the left upper hands The right lower holds the sword while the left lower shows the water-pot. The dog is his vāhana

The above account of Ksetrapāla shows that the Jains associate him with the Bhairavas and Yoginis both of which conceptions are foreign to Jainism. The Ācāradinakara prescribes the same *pratisthā-vidhi* (consecration rite) for Ksetrapāla, Batukanātha, Kapilanātha, Hanūmān, Narasimha and such other deities, who are *Viras* or deities of a town or a country.[13]

The Digambara text *Abhiseka-krama* of unknown authorship gives the following five names of Ksetrapālas : *Vijayabhadra*, *Virabhadra*, *Manibhadra*, *Bhairava* and *Aparājita*[14] These as well as the other names cited

11. B. C Bhattacharya, *Jain Iconography*, plate XI

12. A photograph of this figure is being published in my paper on Jaina art and Antiquities : North in the new edition of the Cultural Heritage of India.

13. क्षेत्रपाल-बटुकनाथ-कपिलनाथ-हनुमन्नारसिंहादिवीरपुरपूजितदेशपूजितानां एक एव प्रतिष्ठाविधिः किंतु गृहक्षेत्रपालस्य गृहे कपिलगौरकृष्णादीनां प्रासादे बटुकनाथस्य स्मशाने हनुमतः पुरपरिसरे नारसिंहादीनां पुरपूजितानां देशपूजितानां नागादीनां गृहा(?) प्रभृतीनां तत्तत्स्थलेषु प्रतिष्ठार्थं मन्त्रास्तु तत्तदाम्नायतो ज्ञेयाः।

Ācāradinakara II, page 210.

14. ॐ आं क्रों अत्रस्थ विजयभद्र-वीरभद्र-मणिभद्र-भैरव-अपराजित-पंचक्षेत्रपालाय अर्घ्यं गृह्ण गृह्ण स्वाहा।

Abhiseka-pātha-samgraha, pp. 280-81.

by Ācāradinakara show how closely the form as well as the worship of the Jain Kṣetrapāla are associated with Hindu deities like the Bhairavas and Yoginis, Nāgas like the Śesa and others, and Yakṣas like Māṇibhadra Of these the form of the Kṣetrapāla especially corresponds with the Hindu conception of the Bhairavas, notably the Batuka-Bhairava.[15] The worship of Kṣetrapāla is, as suggested above, presumably of primitive origin. But the iconography of the Jain Kṣetrapāla is based upon the Śaivite Kṣetrapāla and Bhairava [16]

Worship of the Kṣetrapāla in Jainism was popular and pretty old as can be seen by the fact that Jinaprabha-sūri notes the existence or images of Kṣetrapāla, worshipped by the Jains, at Mathurā, Valabhī, Phalodhi and Śrīpura along with those of Ambikā, Padmāvatī and Dharaṇendra.[17]

---

15. The dhyāna for Vaṭuka or Baṭuka Bhairava is :—

विकीर्णलोहितजटं त्रिनेत्र रक्तविग्रहम्।
शूलं कपालं पाशं च डमरुं दधतं करैः॥
नानारूपैः पिशाचैश्च नानारूपगणैर्वृतम्।
श्वानारूढं च निर्वाणं वटुकं भैरवं भजे॥

Vaṭuka-Bhairava-kalpa, quoted

Gopinath Rao, *Hindu Iconography*, II, 2 appendix, pag

Also see *Rūpamaṇḍana* quoted op-cit p 92

16. For the "*Śaivite deity Kṣetrapāla,*" by Chintāharana Chakravarti, see, *Indian Historical Quarterly*, Vol. IX, pp 237-243 Also, Gopinath Rao, *Elements of Hindu Iconography*, Vol. II, part 2, pp 495 of *Āpastamba-gṛhya-sūtra*, 7.19 13 and 7.20 12-19 prescribe offerings to Kṣetrapati where he is to be invoked like Īśāna or Śiva.

17. Vividha-Tīrtha-Kalpa, ed. by Muni Jmavijaya, pp. 19, 29, 103, 106. Also see, Supāsanāha-carıa, p. 152. Śrāddhapratikramana-sūtravṛtti, gāthā 47.

The Tree of Life and other group symbols in Jaina Art.

By Asokakumar Bhattacharya, M. A.

[श्री प्रो० अशोककुमार भट्टाचार्यजीने जैन कलाका विशेष अध्ययन किया है। इस लेखमें आपने जैन कलागत सांकेतिक चिन्होंका सुंदर विवेचन किया है। आप लिखते हैं कि हिन्दू, बौद्ध और जैन कला विज्ञानमें जीवनवृक्ष संकेतका विश्लेषण अन्य चिन्होंके अध्ययनमें उपयोगी है। त्रिशूल चिन्ह निरीह जैनोंका नहीं है। बौद्ध और शैवोंमेंभी यह मिलता है। मोहनजोदरोके पुरातत्वोंमें इसके दर्शन होते हैं। कडफिस द्वि० के शैव सिक्कों परभी त्रिशूल बना हुआ था। जैन कलामें त्रिशूल एक दिक्पाल देवताका चिन्ह माना गया है। त्रिशूलकी मान्यता जैन और बौद्धोंके निकट एक पवित्र वस्तु रही है और उन्होंके अमूर्तिमय धार्मिक मान्यताका मूल आधारभी। कंकाली टीलासे प्राप्त जिनमूर्तिके आसनमें सम्मुख त्रिशूल पर धर्मचक्र अंकित है। बौद्धोंके निकटभी धर्मचक्र मान्य है। भारतीय कला विज्ञानका सभी सम्प्रदायोंने समान उपयोग किया है। भारतमें कलाको साम्प्रदायिक रूप प्राप्त नहीं था। त्रिशूल या त्रिरत्न चिन्ह जैन कलामें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्न त्रय धर्मका द्योतक है। बौद्धोंमें उसका भाव बुद्ध-धर्म-संघसे है। ॐ जैन धर्ममें पांच अक्षरों अ-आ-उ-ऊ-म से बना, जो 'पंचपरमेष्ठी' के ज्ञापक है। चक्र वैष्णव मतमें भी मान्य है। जैन लेखक ठक्कर फेरूने शासनदेवता चक्रेश्वरीके परिकरमेंभी धर्मचक्रका होना आवश्यक बताया है। चक्रवर्तीके रत्नोंमेंभी एक चक्र रत्न होता है। कंकाली टीला मथुराके कुषाण-कालके जैन आयागपटोंमें धर्मचक्र अंकित है। जैनोंमें अष्टमंगलद्रव्य विशेष महत्वपूर्ण है, जो तीर्थंकरकी मूर्तियोंके साथ होते हैं। वर्द्धमान सूरिके 'आचार दिनकर' में इनका वर्णन मिलता है। अष्टमंगल द्रव्योंमें पहला दर्पण है। इससे भाव यह है कि जिनेन्द्रका आदर्श भक्तके हृदयमें दर्पणवत् प्रतिबिम्बित होगया है। दूसरा चिन्ह भद्रासन है जिससे स्पष्ट है कि भक्त जिनेन्द्र-चरणों-की निकटता पा रहा है। तीसरा चिन्ह वर्द्धमान सम्पुट, इस बातका द्योतक है कि जिनेन्द्र महा-वीरकी छत्रछायामें भक्तका सौभाग्य प्रस्फुटित हो रहा है। चौथा चिन्ह पूर्णकलश है, जो [illegible] प्रगट करता है [illegible] त्रिलोकमें जिनेन्द्रही सर्वेच्छापूरक हैं। हिन्दू धर्ममेंभी कलश मान्य है। कलश जिनेन्द्रका प्रतीक है-इसीलिये उस पर दो नेत्र बनानेका रिवाज है। शिवके सागरमथन प्रसंगमेंभी कलश मिलता है। संभव है जैनोंने वहांसे इसे लिया हो। (प्रो० सा० को [illegible] ध्यानमें रखनेकी बात है कि जैन धर्ममें अष्टमंगल द्रव्य अकृत्रिम चैत्योंमेंभी माने हैं। अतएव वे जैनकी निजी वस्तु ठहरते हैं। —सं०) पांचवा चिन्ह श्रीवत्स है जो रेखाङ्कन द्वारा चतुर्दलो पुष्पाकार बताया जाता है। भगवानका श्वेत और पवित्ररूप ठीकही केवलज्ञानका द्योतक है। वैष्णवोंमेंभी यह विष्णुमूर्तिका चिन्ह माना गया है। छठा चिन्ह मीनयुगलका है। मोहनजोदरोके मीन लोगोंका कुल चिन्हभी मीनका था। वहांके ज्योतिषचक्रमेंभी मीन बना हुआ है। मोहनजोदरोके लोग मीनको ईश्वर मान कर पूजते थे। मीनाक्षी औरस देवता शिवका रूप था, ऐसा माना गया है। कामदेवका सम्बन्धभी मीनसे उपरान्त कालमें स्थापा गया है। विष्णुका मत्स्यावतार प्रसिद्ध है। सज्जन और उत्पत्तिके संकेत रूपमेंभी मीनकी मान्यता लोगोंमें है। बंगालमें नववधू और वरको घरमें घुसतेही हाथमें

मछली थमा देते हैं। इलोराके चित्रणोंमेंभी मीन देखनेको मिलती हैं—वहां शिवलिंगसे उनका सम्बन्ध बिठाया है। 'महाभारत' में मत्स्यराज और मत्स्यगंधा सत्यवतीको मीन-कुक्षिसे जन्मा लिखा है। 'हरिवंश' मेंभी ऐसी कथायें हैं। द्रौपदी स्वयंवरमें मीनाक्ष-बेधनका उल्लेख है। (संभव है कि इन शास्त्रीय उल्लेखोंमें मीनसे भाव मीन जातिके मानवोंसे हो। स०) जैन तीर्थंकरोंकी मूर्तियों पर चिन्ह रखनेकी प्रथा प्रचलित होने पर पुष्पदंतका चिन्ह मकर (मछली) का रक्खा गया। तीर्थंकरकी माता जो स्वप्न देखती हैं उनमें मीनयुगल सुजन और समृद्धिके संकेत रूपमें होता है) बौद्धोंकोभी मीन चिन्ह मान्य है। गुप्त कालके बाद तक मीन चिन्ह प्रचलित रहा है। इस चिन्हका जैन अर्थ महत्वपूर्ण है। जैन कहते हैं कि मीनलक्षणयुक्त कामदेव जिनेन्द्रसे हार कर उनकी शरणमें आगया है। सातवा चिन्ह स्वस्तिका है। प्राचीन कालसे स्वास्तिकाकी मान्यता विश्वव्यापी रही है। जैन दृष्टिसे स्वस्तिका शान्ति और समृद्धिका शुभचिन्ह है। सुसाकी अन्यतम खुदाईमेंभी स्वस्तिका मिला, जिससे सुमेर लोगोंका सम्पर्क भारत एवं अन्य आर्यदेशोंसे स्पष्ट है। खंडगिरिकी हाथीगुफामें भी स्वास्तिका बना हुआ है। दूसरीसे तीसरी शताब्दि ईस्वी पूर्वके सिक्कों परभी स्वस्तिका चिन्ह मिलता है। कोसम, अवंती और तक्षशिलासे ऐसे सिक्के मिले हैं। जैन लोग स्वास्तिकाका निर्माण अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओंको लक्ष्यकर करते हैं। स्वास्तिकाकी चारों बाहें चार गतिकी निर्देशक हैं जिनमें संसारी जीव भ्रमण करता है। तीन बिन्दु रत्नत्रय धर्मके द्योतक हैं और अर्द्धचन्द्राकार चिन्ह निर्वाणका सूचक है। अन्तिम चिन्ह नन्द्यावर्त है जो जिनेन्द्रके वैभवको बताता है। —का. प्र.]

In Buddhism as well as in orthodox Brahminism the tree of life has occupied a definite place as a significant product of the speculations about life and its relations. A consideration of the symbolic forms for the representation in art of this conception is surely a point which one cannot afford to miss in evaluating the place of symbolism in art forms, whether of the Hindu, the Budhhist or the Jain. The representations in symbols of the head and feet of the jewelled tree of life at Sanchi[1] and those of the fiery pillars at Amraoti[2] are associated with the more widespread symbolism of the Triśūla in Buddhism. But we should bear in mind that the symbol of Triśūla is not exclusively found in Jainism and Buddhism but that its significance can be traced further back to a still older tradition The three aspects of Agni Vaiśvānara have been metamorphosed into this three-pronged symbol of a Triśūla. We know the association in later Śaivism of the Triśūla with Śiva himself.[3] This latter association can be traced to a very early tradition, the art-forms from the early seat of religious art, Mathurā, bearing unmistakable witness to it. Even still earlier, in the Pre-historic civilisation of Mahenjodaro, the beginnings of this association can be clearly recognised.[4]

1. Arch. Survey, Reports for W. India, Vol. V p. 12, fig. 7.

2. Ibid fig. 6

3. The Ellora Cave temple images of Śiva can be cited as an instance in point of fig 3, pl XXX, Arch. Survey Reports, for W India, Vol. V

4 Mohenjodaram *Marshall*. pp 55 ff

The Śaiva coins of Kadphises II and the Śaiva seal from Sirkap[5] are some of the earliest representations of this association of the Triśūla with the Śaiva cult.[6] The Triśūla in Jaina art stands for one of the early symbols of a Lord of the Quarters. In texts, relating to religious and secular architecture, it is prescribed that on the land selected for the construction of a palace, a Kurmaśilā is to be placed, as a matter more of religious necessity than anything else.[7] This prescription is followed in also the later texts of the Jains. The *Vatthusāra-payaraṇam* following this tradition lays down the same formulae with regard to the establishment of Kūrmaśilā. On the eight sides of this are to be placed the eight symbols for the Dikpālas in the eight or more properly nine khuraśilā, one being placed just beneath the Kūrmaśilā.[8] The symbol there used for the eighth Lord of the Quarters is the Triśūla placed on the Sanbhāgini slab of stone.[9] Here Triśūla symbolises the Tantric character of Iśāna, the eighth Lord of the Quarters.[10] It really signifies and makes clear one fact, namely, that the idea of a Triad that is all sacred to Buddhism and Jainism in the formation of the Triratna and which dates as early as most probably the Kuśāna period, was one that formed one of the fundamental principles in aniconic religious attitude of the Jain. Attention may in this connection be drawn to a find from the Kankālī Tīlla at Mathurā.[11] On the front of the pedestal of this image of a Jina is the figure of a wheel placed on a trident carved in relief, being

---

5 Arch. Survey of India, Ann Report for 1914-15, p 51, pl. XXIV.

6. The association of Triśūla with the Śaiva cult, is however, not universal; the use of Triśula with the floating banner is also met with in connection with royal signs which are purely secular in significance—A. K. Coomaraswamy, History of Indian & Indonesian Art p 25 fn.

7 Vide, Kśirārnava, attributed to Viśwakarmā.

8. Paddham gaddāvivaram jalam tam aha Kakkaram tam Kunaha, Kurumanivesam attham Khurassilā tayanu Sutta vihi III 2

Also cf The description of a Kūrmaśilā in the Prasādamandana of Sūtra Dhāra-Mandana—Ardhāngulo bhavat kūrma eka haste Surālaya '
Ardhāngulāt tato Vrdhih kāryā tithi kārā vadhih "
Ekatrimśat Karāntamca tadardhā vidhirisyate '
Tatordhām, satūrodhāntam kuryādarigulamtānatah
Caturtthām sādhikā jyesthā kanisthā hīnayogatah.

— quoted in Vathusārapayaranam (Ed. by B. Jain) P 103.

9 Kśirārnava of Viśwakarmā

10. Nirvāṇakalikā (Ed. by M B Jhaveri) p 30.

11. J. Ph. Vogel: Catalogue of the Archaeological Museum at Mathurā, p. 67 Image No B-5

worshipped by a group of monks (?). This indeed bears a close relationship with the Buddhist art of representing the wheel or the Dharmacakra which in early sculpture was a substitute for the Lord himself. Indeed to quote Buhler, "the early art of the Jains did not differ materially from that of the Buddhists. Indeed, art was never communal. Both sects used the same ornaments, the same artistic motives and the same sacred symbols, differences occurring chiefly in minor points only. The cause of this agreement is in all probability not that adherents of one sect imitated those of the other, but the both drew on the national art of India and employed the same artists." [12] The tri-ratna symbol, in Jainism represents the three-fold character of the perfects, viz, Knowledge, Faith and Conduct. This idea of a triad which in Buddhism took the form of three Jewels, viz., Buddha, Dharma and Sangha was represented sometimes by the trilateral figure or trikona which according to Beal was used to denote 'the embodied form of the Tathāgata' or sometimes by the trilateral symbol a-u-m [13] It must be mentioned here that the Om in Jainism does not consist of the three syllabus a-u-m but rather of five viz, a-a-a-u-m representing the five 'worthy' personages or 'Parmeshthis' to whom homage is offered at the beginning of any undertaking or worship. In Brahmanism too, the mystic symbol Om is sometimes represented in art as consisting of the five fold divinities of Brahmā, Vishnu, etc, as in a very late picture from Baroda [14] The tri-ratna symbol in many of its varieties in Buddhism is available from the Buddhist sites of Taxila and round about from early Kuśāna period.[15]

The consideration of the above piece of sculpture from the Kankālī Tīlā at Mathurā also leads us most consistently to the estimation of the place of the *Cakra* as the symbol for the Law which found conspicuous favour with early as well as medieval Buddhism. Cakra as the symbol or *Rūpa* of the Vaiṣṇava iconography beginning from that of the Lord Viṣnu Himself is as early a tradition as to be traced in the very oldest of the Punchmarked coins dating from the 7th Century B. C. The Cakra associated with the triratna symbols[16] is not peculiarly Jain It is also found in the Taxila art of the far pre-christian era where it is undoubtedly Buddhistic It is there

12. Epigraphia Indica II P 322.

13 For a fuller discourse on these symbols, *vide* A Getty, Gods of Northern Buddhism p 197 ff.

14 Annual Report, Deptt. of Archaelogy, Baroda, 1938-39, No. 99.

15 Arch Survey of India, Annual report for 1916-17 Fig No. 75

16 The Triratna in Jainism, it must be stated consists of Jñāna, Darśana and Cāritra, and probably it was Jñāna or knowledge par excellence, the knowledge of the scriptures not excluded that is the Dharma in essence. The Cakra in art represents thus Jñāna

represented symbolically in association with the Trident or Tri-ratna symbols.[17] The Buddha's hand touches the wheel of Law which is placed on the tri-ratna symbol flanked on two sides by a deer each depicting the preaching of the first Sermon at the DEER Park. In late period probably such symbols came to transgress their limits of narrow sectarianism. For the Jaina writer Thakur Feru mentions that goddess Cakreśvarī's *parikara* is not complete without a *Dharmacakra* flanked by stags being shown on the front face of the pedastals "[18] Attention may also be drawn to the Cakra-ratna which is attributed to a cakravartin as his symbol as well as weapon.[19] The representation of the Cakra in Jaina art can be traced as early as the first few centuries near the beginning of the Christian era. The votive tablets, the Āyāgpatas, belonging to the Kusāna period and unearthed from the Kankālī Tilā at Mathurā contain the figure of Cakra and the elephant placed on two figures placed on two pillars of the Persepolitan type on either side of a seated Jina at the centre.[20]

A consideration of the Astamangalas will not be out of place here. The Astmangalas are a kind of device in figures which are to be drawn before the Tīrthankara images or for the matter of that, in connection with any auspicious undertaking such as the study of the scriptures, etc. The kind of hieroglyphic art that is associated with the representations of this kind is not, however, of any particular religious sect, Brahmanic, Buddhist, and Jaina, but must be studied in the light of the peculiar senses in which they were taken by each sect The vocabulary and the forms were equally accessible to all the sects the difference lay only in interpretation. The Ācāradinkara of Vardhamāna-sūri records to some extent the significance of these eight kinds of the auspicious marks.

The Mirror (darpana) which forms the first of the group symbolises the facts of the pious devoties standing very near the ideal of the Tīrthankara. In fact, what the mirror, signifies to the fact of a pious inquirer after Truth flourishing in a blessed region after having practised penance and performed

---

17 Arch. Survey of India, Ann Report for 1937–38 Fig No. 984.

18. Cf. Cakkadhari garudankā Tassāhe dhammacakka ubhaydisam'
harinajuam ramanīyam gaddiyamajjhammi Jinacinhem" — II 28 – Vatthusārapayaranam (Ed by B Jain). Here the symbol of *dharmacakra* is to be placed on the pedestal at its centre The *Parikara* is not complete without it. The goddess Cakreśwarī primarily a śāsanadevī of the first Jina is also attributed here with the Cakra symbol in her upper two hands (Cakkadharī)

19 Vide, Jinacitra-kalpadruma, pl. XCVI, fig. 278.

20. A. K. Coomaraswamy—History of Indian and Indonesian Art, p. 37, pl. XIX figs 71 & 72

pious deeds in the shape of charity and service to Brahmins etc., in his endeavour for self-illumination.[21]

The second symbol of the Astamangala group, the *Bhadrāsana* is to be drawn in order to show the devotees near approach to the pair of feet of the Lord. This second symbol practically is an extension of the first from an ideological point of view *Bhadrāsana* is to be represented as the *pīṭha* on which is to be placed the feet of the Tīrthankara.[22] This bears a close parallel to the mode of representing *pādukas* in place of the Lord. The Lord's presence was felt through the *pādukas*. Attention may also be drawn to the tradition of representing Visnupadas, Buddhapada etc.[23]

The third symbol in the group is the *vardhamāna Samputa*. This symbolises the favour of Lord Mahāvīra through whose grace the devotee (bhavyajana) gets piety, fame, influence, greatness, prosperity, learning, peace and fulfilment of all desires. The *Vardhamāna Samputa*, therefore, is the embodiment of all the boons conferable by the Lord Himself.[24]

The full Jar (pūrna Kalaśa) which forms the fourth symbol in the Astamāngalika group symbolises the facts of the Lord being the fulfiller of all wants in the three worlds. This symbol of a *pūrṇa kalaśa* is common to Hinduism as well. That the Lord here is identified with the Kalaśa is quite clear from the representation of the kalaśa which is attributed, in anthropomorphic analogy, with a pair of eyes. According to Jaina conception, the Lord Jina (Tīrthankara) is said to flourish in all his aspects and with all glory in the three worlds like a full Jar distributing favour and blessings all around.[25] Indeed, the Kalaśa that we regard as symbolic of all fulfilment, originated from the ocean in course of the "Great Churning" and contained

---

21 Ātmālokavidhāna janopi sakalastibram tapo aussaram dānam, brahmaparopkāra kāranam kurven parisphūrjati soyam yatra sakhena rājati sa vai tīrthādhipasyāgrata, nirmeyah parmārtho vrttividureh sajjñānibhirdarpanam–Ācāradinkara of Vardhamāna sūri pp pp 197–198

22 Jinendrapādaih paripūjyaprsthaih atiprabhāvairapi sanikrtem Bhadrāsanam bhadrakaram Jinendrapuro likhen Mangalsatiprayogam". — Ibid.

23 A. K Coomarswamy—History of Indian and Indonesian Art p 44.

24 Punyam Yaśah samudayah prabhutā mahatvam, / Saubhāgyadhi vinayaśarma manorathassa // Vardhanta eva Jinanāyaka [illegible] prasādāt / tad Vardhmānayuga samputamādadhānah // Ācāradinakara, loc cit

In fact Lord does not confer any boons on anybody as He is beyond desires. But since by worshipping the Lord, the devotee relates and realises the characteristics of his own soul, he acquires *punaya*, which awards him good fortune, the Lord is said, being an indirect cause, to confer that fortune on the devotee, though he gains it by his own good efforts —*Ed.*

25 Viśwatraya ca swakulo Jineśo vyākhyāyate Śrikalaśāyamānah – Atotra pūrṇama kalaśam likhitvā Jinārcanākarmakrtārthayāmah – Ibid.

all the divinities.[25] The Kumbha, therefore, is co-eval with the Highest Divinities we can conceive of and has an origin as sacred and ancient as the *amratatva* of the Gods in Hindu mythology. It seems, a distinct borrowing from Brahmanism and is another of clear signs of dependance on the Hindu system of thought and ideology. (?)

The next symbol, fifth in the list, coming under the same group is the *Śrīvatsa* symbol. It is a geometrical pattern of a four petalled flower, the petals being arranged in right angles. The choice for a flower is very significant here. The purity and whiteness of a flower is designed to represent the pure knowledge, the *Kevala Jñāna* of the Lord which he holds in his heart within.[27] This *Śrīvatsa* it may be noted here is common to Vaisnava and Jaina icons where in the former it is a symbol of Visnuite images. The Śrīvatsa is a lunar symbol according to a Brahmanical Tradition. The *Śrīvatsa* symbol as the ornamental mark representing gem on the breast of Viṣṇu is said, in Brahmanical conception, to stand for the Moon while the Kaustubha stands for the Sun [28]

A pair of fish is the next to come in the list under consideration. The insignia of the Fish formed the distinctive characteristic of the Minas of the Mohenjo-Daro peoples. Whether as one of the eight forms of Śiva, the Fish was one of the eight constellations of the Mahenjodrro Zodiac, Indeed, one of the most popular forms of God with the Mahenjo-daro peoples was the fish.[29]

---

26. Deva-dānava samvādo mathyamāne mahodadhau /
Utpanno sianahā-kumbham Visnunā vidhrtarah //
tat to'ye sarvadevāh śyuh sarvadevā samāśritā /
tvayi tiṣṭhanti bhūtāni tvayi pranāh pratisthitah //
śivatvam ca gavīśatvam visnutvamca prajāpatih /
Ādityādāḥ grahāh sarve viśva devāh sapitṛkāh //
tvayi tiṣṭhanti kalaśa yatah kāmaphalapradāh /
tvat prasādāt imam yajñam kartuñho jalodbhavam //
tvadātokanmātrena bhukti-muktiphalāni mahat /
sannidhyam kuru me kumbha prasanno bhava sarvadā //

ms in author's own collection p 7.

27. Cf. Āntah paramajñānam yadbhāti Jinādhinātha hrdayasya '
taccbrīvatsa vyājāt prakatibhūtam bahirvande "
—Ācāradinakara loc. cit

28. Varāh-Purāna ch 31, v 16—(Ed. P. Tarkaratna)
Maheyambhūtamātā te kanṭha tisthatu sarvadā '
Śrīvatsa-kaustubhanceman candrādityacchalena ha "

29. *Marshall*, Sir John, Mahenjo-daro inscription No 214 " The Supreme Being of the Fish God (as) in front ".

One of the inscriptions excavated out of Mahenjodaro[30] has a representation of a very large sized ram with the head of a fish bearing horns on both sides. Ān, the Mahenjodaroan God, is called 'fish-eyed'. The connection of the Fish-eyed Ān, of Mahenjo-Daro with the Pauranic Śiva has already been established and the Fish forms one of the connecting links between them[31] The later texts like Kālikā Purāna states that the Cupid (Kāma) became devoted to Śiva after being restored to life so much so that he installed the image of Śiva in his Fish-form.[32] Studied in the light of the pauranic conception of the Fish-Form of Lord Viṣṇu, in which He appeared in one his ten Avatāras, the Fish-ideology seems to have inspired the Paurānic seers with a sense of reverence for the symbol as embodying the idea of beauty and creation With the idea of creation and abundance in view the fish is also associated with the Mother-Goddess. Indeed, such a figure has been actually excavated out of the ruins at Rairh in Jaipur State.[33] The modern practice in Hindu homes, specially in Bengal and some other places,[34] is to put a fish in the hands of a newly wedded bride on her first arrival at the place of her husband, perhaps symbolising the idea of fertility and abundance of the household In so remote an age as that of the Mahenjo-Daro, specific symbolism of fertility had been conveyed by the fish in that the "Spraig Fish" of one of the inscriptions of the Indus Valley civilisation has been interpreted as standing for the Spring God.[35]

In the Gupta age, among the paintings at Ellora, there is a curious composition of two fishes above the stem of an inverted lotus touching each other at their mouths. An emblem of a Linga surmounted by two others is placed in between the two fishes This is clearly a mode of representing the other tradition of fertility as perhaps originating in the third millenium before Christ in the Indus Valley civilisation In the age of the epic beginning roughly from the 4th. Century B C the fish played a very important part in the life of the Indian peoples. The story of king Matsya in the Mahābhārata has it that the king was born along with Matsyagandhā Satyavatī from the womb of a fish. The Harivanśa[36] corroborates the above stories along with a

30 Ibid No 42

31 A C. Karmarkar—Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol XXIV p 191 ff—" The Fish in Indian Folk-lore ".

32 Kalikā Purāna, Ch. 82, Vs 50–52

33 Excavations in Rairh Archaeological Department, Jaipur, pp. 28–9

34 The custom prevails among some southern peoples e. g, the Holeyaras of Canara that the newly wedded couple is taken to a river and made to catch fish with the wedding mat woven by brides, signifying the fertility of the couple. See A K. Karmarkar—The Fish in Indian Folk-lore, Annals, B O R I. loc lit.

35 Heras : Mahenjo-Daro, the people and the land (Indian Culture, III)

36 Harivansa 1, [illegible] 91–93

number of others. The piercing of the eye of the fish in the Swayambara ceremony of Draupadī is a prominent episode in the great Drama of the Kuru-battle. The Jaina images of Tīrthankaras came to be associated each with an emblem at a late stage of their development The images of the ninth Tīrthankara Puspdanta has the insignia of a Makar or a fish The fourteen dreams of Jina-mothers include a pond with playing fish in it, signifying creation, freedom, and prosperity. In Buddhism, too, the artists' eye did not leave the fish out in their search for artforms A Buddhist votive tablet of soapstone from Taxila belonging to the 1st century A D. has the figure of a fish embossed on it along with a number of other auspicious symbols, such as the blowing couch etc This shows how the Buddhists took the piscal symbol as very sacred at so remote an age as the 1st Centy. of the Christian era. It is indeed, worthy of note that the same āyāgpata contains a figure of Swastikā on the right hand side with its outer arms turned to the right. Although exactly there is nothing to prove the Buddhist affiliation, of the find under discussion, we have reasons to believe in consideration of the associate objects from Tafkian where the present āyāga-pata, was found, that it is a Buddhist votive tablet. Indeed in some of the other tablets of offering (votive) attributed to the Buddhists and excavated out of Taxilian sites we have definite and conclusive evidence of the traces of a pair of fish as a sacred symbol In the terracotta votive tablet just referred to there is a pair of fish on its left corner at the bottom surmounted by the figure of a lady dressed in flowing robes in the fashion of the Indo-Greeks with both hands raised upward as if holding the jar-like substance above head. The foliage ornamentation, the shape and conception of the jar (pūrnakalaśa) at the centre on the above together with the peculiar dress of the female figure on the out border speak of the Kusāna period of the tablet, when it seems, the fish motif continued to be used on votive tablets and other objects down up to the Gupta and the post-Gupta era. In the recent excavations at Nandangarh we have the alternation of fish designs on a pot-shera interspersed with a figure resembling a Cakra. The composition, if could be found in entirety, might well have established the popular acceptance of the piscal symbology in the late Gupta Period. The Jain significance for this symbol is very important. It represents the fact of the defeat of the Cupid before the Lord The pairs of Fish which represents the Cognisance for Cupid on his banner is shown to be serving the Lord in humble submission [37]

---

37. Tadvandhyapañcaśara Ketanabhāva Kalpatam
Kartum mudha bhuvananātha nijāparādham /
Sevām tanote puratastava mīnayugmam
Śrāddhaih puro vildhitoru nijānga yuktyā //

Ācārdinkara, *loc. cit.*

The seventh symbol, the Swastikā, in the Astmangala group has very wide application in art is of a very ancient tradition in the history of world thought. Among the symbols bearing a hoary antiquity the symbol of svastikā finds a conspicuous place It is the most 'philosophically Scientific' of all of them, is also the most comprehensive. The entire theory of creative evolution is summarised, as is said, in the few lines represented by it. From the universal principles of god-head or cosmeotheogony down to anthropogony or the principle underlying human forms of the deities, from the indivisible unknown Parabrahman to the humble moneron of common materialistic Science, it represents but one simple summary of them all. This is why Swastikā, in whatever form or design it may be, is present as a mystic symbol in almost all the ancient nations of the world. The lines represented in the combination are those of the 'Worker's Hammers' of the Chaldean Book of Numbers [38] The sparks coming out from the strikes of these Hammers form the nucleus of the worlds themselves The Jain interpretation of the svastikā is given in the Ācāradinakara is but quite simple. According to that text the symbol being only an auspicious mark is to be drawn in front of the Lord as signifying peace and prosperity that reigned on earth on the eve of the birth of the Tīrthankara [39] The discovery of the Swastikā in the lowest stratum at Susa suggests the connecting link between the Sumerian and the other Western Asiatic countries and the Indian or the Arean This is in fact one of those 'Constituent elements' in Indian art that are not peculiarly Indian but properly speaking, found in common with many of the countries in Western Asia [40] In the Hāthīgumphā caves at Khandagiri this Swastikā symbol has been found to exist as early as the first Cent. A. D. Numistratic evidence too points to the same conclusion that along with other symbols like the wheel, taurine etc, the Swastikā was used as a Coin mark on the early coinages, from the 2nd. and the 3rd. Cent. B. C. An anonymous coin from Kosam[41] and another from Avanti and a third from Taxila[42] show this symbol. The Swastikā along with the Taurine, etc., is thus very ancient Peculiarly to Jain ideology it has a meaning of its own. The 'Sāthiā' as it is called in modern Guzrati, is the most important of all

38 Compare in this connection the hammers of Viswakarman of Hindu mythology, who comes nearest to the conception in the Chaldean civilisation.

39 Cf. Svastibhūgagananāga vistapesuditam Jinavarodayo Ksanāt / Svastikam taddnumānato Jinasyāgrato budhajanairvitikhyahe //

—Ācāradinkara, *loc. cit.*

40 A. K. Coomaraswamy, History of Indian and Indonesian Art p 13.

41. V. A Smith—Catalogue of the coins in the Indian Museum, Calcutta, Vol I (London) 1906, p. 155, pl XX, fi 5

42 Ibid p. 153, pl XX, fig 2, and p 156 Pl. XX fig. 6.

the eight auspicious marks of the group This alone sometimes represents the entire group and is shown as such on the temples, before the images and at the beginning of all auspicious ceremonies. The most comprehensive meaning put to the Swastikā and the figures ■ three dots above surmounted by a crescent with a dot above is that the four arms of the Swastikā represent the *Gati* or state in which a *Jīva* may be born as either a denizen of hell (nārki) or of heaven (*devatā*) a man (*mānusya*) or a beast (tiryañc), the three little dots or heaps symbolising the *three jewels* of right knowledge, right faith and right conduct, which enables a man to reach *Moksha* represented by the sign of the crescent and the dot above it.

The last but not the least is the *Nandyāvarta* belonging to the Astmangala group. The figure is a geometrical device like the Swastikā but shows a more developed stage of the art and is clearly of a deeper significance than the former. The adaptation of this device in art and archaelogy is very late, ■ least far later than the Swastikā It is double lined figure rectangular in shape and the lines are inter-woven, so to say, as to form a nine-coned figure The Ācāradinakara explains the symbol as signifying the fact of the devotee of the Jina being the recipient of all sacred treasures that remain glowing at his service through the grace of the Lord.[43]

" The whole capital and canopy of Jain pillars are a wonder of light, elegant, highly decorated stone work, and nothing can surpass the stately grace of these beautiful pillars, whose proportions and adaptations to surrounding scenery are always perfect, and whose richness of decoration never offends."

—WALHOUSE.

---

43. Tvatsevakānām Jinanāthadiksu sarvāsu sarve nidhayat sphuranti
Ataścaturdhā navakonanandyāvartah satām vartayatām dukhāni

—Ācāradinakara, *loc. cit.*

विश्वभूति भ० महावीरकी ज्ञानसाधना।

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी, 'प्रचंडिया'।)

बालं अर्कसा ज्यों प्रखर प्रतापसे
बढ़ता मध्यान्हको है !
इसी विधि महावीरजी
ज्ञान बुद्धिशौर्य वीर्य बल विक्रम
समेतसे
शैशवको पार कर
तरुण-अरुण कान्ति-मान
तेजमान-ओजमान
प्रभावान सुकुमार
हो चले वयस्क थे !
सुख-श्री देखनेको
लोचन सभीके सदा
रहते लालायित थे !
किन्तु महावीरजीकी गति विधि विचित्र
थी !
उन्होंने निज सूक्ष्म दृष्टिसे देखा समाजको
सुना निरीह पशुओंकी आवाजको !
दीन-हीन देखे जन !
देखा उन्होंने था — निज आँखों
से नरमेध !
देखा उन्होंने था — निज आँखोंसे
अश्व-मेध !!
आँख-पाखोंसे अश्रु-धार [illegible] चली !
मर्मको आघात हुआ !
हो गया हृदय दयासे परिपूर्ण !

सोचा यह व्यर्थ जंजाल !
छोड़ दिया राज पाट !
छोड़े जगतीके ठाठ !
वैभव विलास छोड़ा,
ममतासे बन्धन तोड़ा
लात मार दी थी उस ऐसी विभूतिमें !
तीस बरसकी यौवनमयी आयुमें
बाल ब्रह्मचारी कर्मवीर मारजित
महावीर !
ज्ञानकी पिपासा हित घूमे वन-वन !
व्याकुल रहे क्षण क्षण !!
केवल सज्ञान हित,
लोक कल्याण हित !!!
कंचन-सी काया को
तपके दग्ध-दाहमें
होम कर करलिया प्रभूत पूत !
सज्ञान स्रोत हो गया प्रसूत !!
लोकहित कामनासे
फैलाने भव्य भावनाको
सर्व प्रथम उनही प्रवीर जीने —
"विपुल अचल" से प्रसारित किया
दिव्य ज्ञान !
उसी दिनसे प्रारम्भ किया करना
जग-कल्याण !!

जैन समाज और इतिहास !

JAINA COMMUNITY AND HISTORY.

प्राचीन पुरुषोंके गुणोंको कौन कह सकता यहां ?
सम्पूर्ण सागर नीर यों घट मध्य रह सकता कहां ?
है जगत अबभी ऋणी उनके विपुल उपकारका।
उनने पढ़ा था पाठ नित उपकारका उपकारका॥

* * * *

उस काल सर्व समाज जगके रूढ़ि बन्धन मुक्त थे,
करुणा तथा निष्पक्षतासे सर्वथा संयुक्त थे।
निज बन्धुओंके प्रति उन्हें मनमें न किंचित द्वेष था,
ऐसी समाजोंसे कभी पाता न कोई क्लेश था।

—जैन भारती।

जैन धर्म और समाज।

(ले० प्रो० डॉ० ए. एन. उपाध्याय, एम. ए., डी. लिट्.)

जैनधर्म प्रधानतः एक भारतीय धर्म रहा है और देशकी सीमासे बाहर इसका प्रसार नगण्य मात्र ही है। सन १९४१ ई० की जनगणना के अनुसार जैनियोंकी संख्या १,४४९,२८६ है, जो भारत की जनसंख्या की ½% सेभी कम है। उनके दिगम्बर, श्वेताम्बर, तथा स्थानकवासी मुख्य व अन्य स्थानीय भेद हैं, फिरभी एक समुदायके रूपमें उनमें धार्मिक एकता है। तीर्थङ्करों-महान धार्मिक गुरुओं-जैसे ऋषभ, पार्श्व, व महावीर आदिकी वे भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं, उनका विशिष्ट तत्वज्ञान है, और वे विशेष नीति नियम और धार्मिक क्रियाओंका आचरण करते हैं। भारतकी प्राचीन सांस्कृतिक तथा बौद्धिक सम्पत्तिमें जैनियोंका एक माननीय भाग्य रहा है। आजकल वह सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टिकोणोंसे उच्च वर्गमें ही आते हैं। उनके सामाजिक कार्य्य तथा दृष्टिकोण मानव समाजके लिए अत्यंत हितकर हैं, यही कारण है कि उन्हें अपनी संख्यासे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्राप्त है।

पूर्वकी अपेक्षा जैन पश्चिम तथा मध्य भारतमें ही अधिक पाये जाते हैं। वे प्रधानतः व्यापारी हैं, परन्तु दक्षिण तथा मध्य भारतके कई भागोंमें जैनी पैत्रिक व्यवसायरूपमें कृषिभी करते हैं। जैनियोंके विशाल मन्दिर, मूर्तियाँ, तथा शिल्पकलाके उत्कृष्ट नमूने, उनके साधुसमुदायकी पठन-पाठन तथा तपश्चरणमें संलग्नता, तथा उनका गृहस्थों [illegible] प्रभाव कि जिसके कारण वह मानव समाज के प्रति बड़े दानशील रहते हैं, जीवमात्रके प्रति उनकी दयाकी भावना, तथा उनका पूर्ण सात्विक आहार आदि ही ऐसी बाते हैं जो एक विदेशी यात्रीका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करतीं हैं। समस्त भारतमें फैले होनेके कारण उनके व्यावहारिक रीति रिवाजों में भिन्नता पाई जाती है। अपने शान्त धार्मिक सिद्धांतोंके कारण ही वह शान्तिपूर्ण व्यवसाय करते हैं।

जैनधर्म अत्यंत प्राचीन है। वर्तमान काल चतुर्विंशत् तीर्थङ्करोंके तीर्थ-कालोंमें विभाजित होता है। प्रथम तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवका काल अत्यंत प्राचीन है। हिन्दु पुराण भागवत में दिया हुवा कथन जैन मान्यता से बिल्कुल मिलता है। बाइसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ श्रीकृष्णके समय में हुवे। यह इतिहास कालसे बहुत ही पूर्व पौराणिक कालके हैं। अन्तके दोनों तीर्थंकर इतिहास कालके ही हैं। २३ वे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ ९ वी शताब्दी ई० पू० के हैं। वर्तमान इतिहास उनको स्वीकार करता है। उनके शिष्य केशी कुमार आदि भगवान महावीरके समय तक रहे।

२४ वें तीर्थंकर वर्धमान (महावीर) पार्श्वनाथसे कुछ शताब्दियों बाद हुवे। [illegible] कुण्डग्राम वैशाली (आजकल बसाढ, पटनासे २७ मीलपर दूर) के निकट ५९९ ई० पू० मे जन्मे थे। उनके

पिता सिद्धार्थ वहाँके राजा थे और उनकी माता त्रिशला लिच्छवि राजवंशकी राजकुमारी थी। महावीर स्वामीके विवाहके बारेमें मतभेद है। एक मान्यता है कि वह आजन्म अविवाहित रहे। दूसरी मान्यता है कि उनका यशोदासे विवाह हुवा और उनसे प्रियदर्शना पुत्रीभी हुई। उन्होंने भगवान पार्श्वनाथका अनुकरण करते हुवे घोर तपश्चरण किया और उपसर्गों द्वारा अनेक कष्ट सहे। ध्यान द्वारा उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। स्वयं वह धार्मिक जीवन की प्रतिमूर्ति ही थे और उन्होंने संसारके कष्टोंसे मुक्ति पानेके लिए धर्मका मार्ग बताते हुवे भ्रमण कियाथा। जीवमात्रकी रक्षाकोही सच्चा धर्म बताया और बताया कि सांसारिक दुःख स्वय अपनेही कर्मोंका फल है। अतः मोक्ष प्राप्तिके लिए कर्मोंका नाश आवश्यक है। वे पूर्वी भारतके राज्य घरानोंसे सम्बंधित थे। अतः उच्च तथा निम्न दोनों वर्गोंमें उनकी मान्यता हुई। उनके सिद्धान्त सार्वभौमिक थे और उनके तर्क, सहनशुद्धि, वास्तविकता, और नैतिक समभाव पर, अवलम्बित थे। अतः इसमें आश्चर्यका कोई कारण नहीं है कि उनका शिष्यसमुदाय, (साधु, आर्यिकायें, श्रावक, व श्राविकायें) बड़ाही सुसंगठित था। निरन्तर तीस वर्ष तक उन्होंने विहार किया और अन्तमें ५२७ ई० पू० को पावा जि० पटनामें इस नश्वर शरीरसे ७२ वर्षकी आयुमें मुक्ति पाई। उनके निर्वाणोपलक्षमें मल्लकी और लिच्छवि राजघरानों ने दीपावली मनाई जो कि आजतक मनाई जाती है। भगवान महावीरके समयमें भारत वर्षके इतिहासमें महान धार्मिक क्रान्ति हुई। उनके समकालीन बुद्ध तथा गोशाल सदृश धार्मिक गुरु थे। महात्मा बुद्धकी तरह भगवान महावीरको एकके पश्चात् दूसरे गुरुकी शरण नहीं लेनी पड़ी। उन्होंने पार्श्वनाथके धर्म पर, जो कि उस समयभी सुसंगठित था, आचरण किया और उसका प्रचार भी किया। उन्होंने एक वैज्ञानिक धर्म तथा दर्शनही अपने पश्चात नहीं छोड़ा वरन एक अत्यंत सुसंगठित साधु तथा अन्य गृहस्थ संघ (समाज) को जन्म दिया कि जिसने उनके तथा उनके पश्चात्के शिष्योंकी शिक्षाका अक्षरशः पालन तथा अनुकरण किया।

जैन धर्मके इतिहासमें अनेक स्वतंत्र स्थल हैं। महावीर स्वामीके पश्चात जैन धर्मका नेतृत्व बड़े २ आचार्यों मुनियोंने किया और बिम्बिसार, चन्द्रगुप्त, खारवेल सदृश महाराजाओंका संरक्षणभी उसे मिला। क्रमशः इसका प्रभाव दक्षिण व पश्चिम भारतमें गया। जब एक भयंकर अकाल पड़ा, तो कहा जाता है कि भद्रबाहु आचार्य अपने शिष्य मण्डलके साथ दक्षिणको विहार कर गये थे और इसीसे दिगम्बर व श्वेताम्बर आम्नायोंकी नींव पड़ी जो आजतक जीवित हैं। प्राचीन कालसेही जैन साधुगण घोर तपश्चरण करते आये हैं। अतएव मतभेद पहिले मुनियोंमें हुवे; फिर गृहस्थों परभी उनका प्रभाव पड़ा। मूलधार्मिक सिद्धान्त दोनोंमें एकही हैं, केवल कुछ छोटी २ बातोंमें, पौराणिक मान्यताओं, तथा साधु-समाजके आचरण सम्बंधी क्रियाओंमें मतभेद है।

साधुवर्गके कठिन तपश्चरण तथा पवित्र जीवनने सहस्त्रों राजाओं, रानियों, मंत्रियों, सेनापतियों, तथा धनवान व्यापारियों को अपनी ओर आकृष्ट किया, जो कि जैनी होगए। दक्षिण तथा गुजरातमें राजघराने ही नहीं वरन अनेक शासक ही कट्टर जैनधर्मानुयाई हो गये। दक्षिणके गंग, कदम्ब, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट राजवंशोंने जैन धर्मका संरक्षण किया। यह सब महान जैनाचार्योंके प्रभावका ही फल था। मान्यखेट के कुछ राष्ट्रकूट वंशीय राजा जैनधर्मके दृढ़ अनुयाई थे और उनके संरक्षण

में शिल्प तथा साहित्यकी जो महान रचनाएँ हुई वे बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। इस कालमें वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, शाकटायन, महावीराचार्य, पुष्पदंत, महासेन, सोमदेव, पम्प आदि महान विद्वान व कवि हुए कि जिनकी रचनाएँ विद्वत्ता तथा साहित्य क्षेत्रमें अद्वितीय हैं। यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, और कन्नड साहित्य और गणित, व्याकरण, तंत्र आदि विषयोंके विभागोंमें बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (ई. स. ८१५-८७७) जिनसेनके भक्त थे और मालूम होता है कि उन्होंने अपने जीवनके अंतमें जैनधर्मको स्वीकार किया था। वे खुद कन्नडी और संस्कृतके ग्रंथकर्ता रहे हैं। विजयनगर साम्राज्यके नष्ट हो जाने परभी अंग्रेजी राज्य होने तक दक्षिणमें कुछ छोटे छोटे राजा जैनधर्मके अनुयायी रहे हैं। गुजरातमें धनिक व्यापारी वर्गके कारणही जैनधर्मका प्रसार अधिक हुआ। परन्तु गुजरातके चालुक्य वंशी राजाओं विशेषतः सिद्धराज व कुमारपालके समयमें ही जैन धर्मकी विशेष उन्नति हुई और उन्हींके समय जैनियोंने गुजरातमें अपनी महान साहित्यिक तथा शिल्पकला सम्बधी रचनाएं की हैं। जैनियोंकी इन रचनाओंके कारण ही गुजरातको आज भी एक महत्वका स्थान प्राप्त है। हेमचन्द्राचार्य आदि को गुजरातकी साहित्य सेवाका विशेष गौरव प्राप्त है। मुस्लिम शासकों के समयमें जैन मन्दिर नष्ट भ्रष्ट किए गए परन्तु किसी बड़ी संख्यामें नहीं। जैनाचार्योंने मुस्लिमशासकों परभी अपना प्रभाव जमा लिया था। अकबर ने जैनाचार्य हीर विजय को 'जगद्गुरु'की उपाधी प्रदान की और पर्यूषण पर्वके समय जहाँ जहाँ जैन रहते हों वहाँ जीव-वध का निषेध कर दिया। देहली और अहमदाबादके कुछ धनिक व्यापारी वर्गोंने अपनी विशाल धनराशि तथा व्यापारी सम्बंधोंके कारण मुगल दरबारमें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था और लगभग सभी मुगलशासकोंसे उन्हें फरमान मिले। राजपुतानासे अनेक जैन मन्त्री तथा सेनापति हुए हैं जिनमें 'भामाशाह'का नाम प्रसिद्ध है। अबभी वहाँ जैन बड़ी संख्यामें हैं। और एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ईस्ट इंडिया कम्पनीके समयमें भी जगतसेठ, सिंघी आदि जैन सेठ हुए जो राजाके कोषाध्यक्षके नाते बड़े प्रभावशाली थे।

कला तथा भवन-निर्माण सम्बधी रचनायें जैनियोंने सामाजिक एवं धार्मिक आवश्यकताओंको दृष्टिकोणमें रखते हुये की हैं। जैन गुफाएँ तथा मन्दिर, मुनियोंके निवास स्थान तथा पूजागृह उपासनाके लिये बनाये गये। धार्मिक दृष्टिकोणसे बनवाये हुये अवशेषोंमें स्तूप, चरण-चिन्ह, मूर्तियाँ, तथा मानस्तम्भ आदि हैं। कुछ गुफायें पूजागृहभी रही हैं। उड़ीसा की हाथी गुम्फा गुफाएँ दूसरी ई० पू० की हैं। इसके उपरान्तकाल की गुफायें मथुरा, बदामी, तेर, एलोरा, कल्याणगढ, नासिक, मैंगी तुंगी, गिरनार, उदयगिरी, आदिमें हैं। मन्दिर-निर्माणको जैनी लोग एक बड़ाही पुण्यका कार्य समझते हैं। यही कारण है कि जहाँ जैनी मिलेंगे वहाँ विशाल तथा सुन्दर मन्दिरभी अवश्य होंगे। इतिहास कालमें कुछ राजाओंने भूमि तथा ग्राम मन्दिरोंके लिए दान किए। इन जागीरोंकी देख-रेखके लिए तथा जैनियोंकी धार्मिक, सामाजिक उन्नतिके लिए भट्टारक हुवे। वे मठाधीश थे। यद्यपि अब यह प्रथा नष्ट हो रही है, तब भी इन भट्टारकों तथा मठोंने भूतकालमें बड़ाही लाभप्रद कार्य किया है। दक्षिण तथा उत्तर दोनों भागोंमें बड़े बड़े विशाल व सुन्दर जिनालयोंका निर्माण हुआ है।

यह शिल्पकलाके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मूलबद्री, कारकल, वराङ्ग, वेलगोल के मन्दिर, अत्यंत सुसज्जित हैं, और एक महत्वपूर्ण तथा शान्त स्थान पर बने हुवे हैं। आबू और पालीतानाके सामंतरके जिनालय कलाके अद्वितीय उदाहरण हैं। यह धनवान निर्माताओंकी धार्मिक सुरुचि तथा शिल्पकारोंकी महान योग्यताके जीवित उदाहरण हैं। इनमेंसे कुछ मन्दिर इतने मनोज्ञ हैं कि उनमें पहुँचतेही मनुष्य सांसारिक चिन्ताओंको भूल जाते हैं। बौद्धोंकी तरह जैनियोंकेभी स्तूप होते थे। मथुराके क्षत्रप तथा कुशन कालके स्तूप तो प्रसिद्ध ही हैं। तीर्थंकर तथा केवलीयोंके चरण जिन्हीं की पूजा जैनी करते आये हैं और पार्श्वनाथ पहाडी सम्मेद शिखर पर यह विशेषतः पाये जाते हैं। दिगम्बर मूर्तियां नग्न होती हैं और मूर्ति निर्माण कलाके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। श्रवणबेलगोलमें बाहुबलिकी मूर्ति ५७ फीट ऊँची है। एक पर्वत पर एकही शिलाको काट कर बनाई गई है और दसवीं शताब्दीकी है। यह संसारके अद्भुत अवशेषोंमें से है। तत्पश्चात्की शताब्दियोंमें कारकल तथा वेनूरमें इनकी नकल की गई। ग्वालियर राज्यमें बडवानीमें इनसेभी ऊंची वृषभ तीर्थंकी मूर्ति है। लेकिन उत्कृष्ट शिल्पकला तथा महान् विचारशीलतामें वेलगोलकी यह समानता नहीं कर सकतीं। बुन्देल खण्डमें ११ वीं १२ वीं शताब्दी, तथा ग्वालियरमें १५ वीं के भग्नावशेष हैं। निर्माण कलाकी अन्य कृतियें मानस्तम्भ हैं जो जैन मन्दिरोंके सम्मुख बनाए जाते थे। यह दक्षिण भारतमें विशेषतः पाये जाते हैं। राजपूतानामें चित्तौर का जैन स्तम्भ ५० फीट ऊँचा है और कला तथा शिल्पकारीका उत्कृष्ट अवशेष है। जैन मन्दिर तथा स्तूप एक अन्य दृष्टिकोणसे भी महत्वके हैं। इनपर मिले हुवे शिलालेख जैनियोंके धार्मिक इतिहासही नहीं वरन् भारतके इतिहासके लिएभी सहायक सिद्ध हुए हैं और अपने समकालीन इतिहासको बताते हैं।

जैनाचार्योंके पास साहित्य सृजनके लिए समय तथा अवकाश था। अतः उन्होंने साहित्य रचनामें महान योग दिया है। किसी विशेष भाषा को उन्होंने नहीं अपनाया। अर्धमागधी, संस्कृत, प्राकृत (अपभ्रंश) आदिमें ही प्राचीन रचनाएँ मिलती हैं। दक्षिणमें तामिल तथा कनड भाषाओंमें इनकी बडीही मूल्यवान रचनाएँ हैं। वे गणित, वैद्यक, व्याकरण, राजनीति, आदि विषयोंपरभी हैं। प्राकृत का साहित्य तो विशेषतः जैनाचार्योंका साहित्य ही है और प्राचीन भाषाओंका ज्ञान इन रचनाओंकी सहायतासे ही किया जाता है। वास्तवमें जैनाचार्योंनेही इन भाषाओंके साहित्य को उच्च स्थान दिया है और नवीन शैली की मूल्यवान रचनाओंके द्वारा इनका साहित्य भण्डार भरा है।

इतना साहित्य सृजन हुवा तो इसके लिए ग्रंथ संग्रहालयोंकी आवश्यकता स्वाभाविक थी। प्रत्येक जैन मन्दिर तथा मठमें शास्त्र भण्डार मिलते हैं। उन्हीं संग्रहालयोंमें जैनेतरोंका साहित्यभी मिलता है। पट्टन, जैसलमेर तथा मूडबद्रीके संग्रहालय हमारी राष्ट्रीय निधि हैं। इनसे हमें ऐतिहासिक ज्ञान होता है। यह प्राचीन रचनाएँ, धर्म तथा दर्शनके विद्वानोंके लिए बडीही सहायता पहुँचाती हैं।

जैन दर्शनका अन्तिम लक्ष्य जीवका संसारसे मुक्ति प्राप्त करना है। 'सत्' उत्पाद-व्यय

ध्रौव्य लक्षण संयुक्त है। यह अनादि है और द्रव्यके, अनन्त गुण व पर्य्याय हैं। जीव व अजीव दो मुख्य भेद हैं। अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल भेद है। इस प्रकार द्रव्यके षट्भेद है। संसारका कारण जीव व पुद्गल (कर्म) परमाणुओंका सम्बंधही है। सप्त तत्वोंमें इस सम्बंध तथा उससे मुक्ति प्राप्त करनेकाही वर्णन है। यही जैनियोंका कर्म सिद्धान्त है जो उनका निजका स्वतंत्र सिद्धान्त है और जैन सिद्धान्तका एक अविभाज्य अंग है। मोक्ष का मार्ग रत्नत्रय कहा है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग दर्शन, ज्ञान, चरित्र। सम्यग् श्रद्धा होतेही जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान (अधिगम) प्रत्यक्ष व परोक्ष भेद रूप है तथा प्रमाण व नय द्वारा होता है। अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) जैनदर्शनका एक अमूल्य सिद्धान्त है और समन्वयके लिए सर्वोत्तम तथा अद्वितीय मंत्र है। चारित्र साधु तथा गृहस्थके भेद रूप है। श्रावक १२ व्रतोंको पालन करते हुवे तथा ११ (प्रतिमाएँ) चढ कर मुनि होता है। साधुगण महाव्रत पालन करते हुए, २२ परीषह सहते हुए, १२ अनुप्रेक्षा (भावना) निरन्तर ध्यानमें रखते हुए, मन, वचन, कायको नियन्त्रण करके सतत् धर्मसंवर्धन करते है। मुक्ति साधनके लिए तो निजात्म स्वभावमें लय हो कर शुक्ल ध्यान करनाही श्रेय है। यही यथाख्यात चारित्र है और मुक्तिका केवल मात्र साधन।

जैनधर्ममें ईश्वरके कर्तृत्ववादको कोई स्थान नहीं है। जैनधर्म ईश्वरका अर्थ मुक्तात्मा करता हैं। तीर्थंकर व अन्य सिद्ध जीव ईश्वर हैं। जैनी इनकी बडी भक्तिभावसे पूजा करते हैं। जैनी गुणकामी पूजन करते हैं क्योंकि यह मोक्षमार्गारूढ एक आत्माकी उन्नत दशाके परिचायक हैं। जैनधर्म सिखाता है कि अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए स्वयंही कर्मोका क्षय करना होगा। जैनधर्म बलवान, वीर तथा स्वाभिमानी जनोंका धर्म है।

आज कल कुछ कारणोंसे जैनी हिन्दू कहलाते हैं; वैसे धर्म अपेक्षा वे स्वतंत्र हैं। उत्तरीय भारतकी कुछ जातियोंमें हिन्दू व जैन दोनोंही धर्मोंके अनुयायी हैं, उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्धभी होते हैं। समस्त भारतमें फैले होनेके कारण उनके रीतिरिवाजों पर बहुसंख्यक हिन्दुओंका प्रभाव पडा है। भारतके स्वातन्त्र्य संग्राममें जैनियोंने तन मनसे भाग लिया है। अपने लिए जैनोंने पृथक अधिष्कार व आरक्षणोंकी कभीभी माँग नहीं की है। जहा तक हिन्दूसे तात्पर्य एक धर्म विशेषसे है और इसका अर्थ भारतीय नहीं है, वहा तक 'जैन' 'हिन्दू' नहीं कहे जा सकते। उनकी अपनी पृथक संस्कृति व धर्म है।

जैनी वेदोंको नहीं मानते, उनके अपने स्वतंत्र धर्म शास्त्र हैं। ब्राह्मण पुजारियोंका सम्मान, वर्णाश्रम धर्मके धार्मिक क्रिया-कर्म, हिन्दू पुराण तथा उनके वर्णन, देवी देवता, वैदिक तथा पौराणिक कर्तृत्ववाद, अवतार वाद, इत्यादिमें जैन विश्वास नहीं करते। शङ्कराचार्यने अनेक स्थलों पर इसकी आलोचना की है। यदि जैनियोंके बाह्य धार्मिक क्रियाकाण्ड व मान्यताओंमें हिन्दुओंसे साम्यस्य है तो इस कारण नहीं कि जैनधर्म इसकी आज्ञा देता है वरन् [illegible] कारण कि पडौसी हिन्दूओंकी रीतिरिवाज व मान्यताओंका उन पर प्रभाव पडा है। जैनियोंके पृथक तीर्थ स्थान हैं और पृथक त्यौहारभी। साधारण त्यौहारभी वह मनाते हैं। समान शब्दावलि नहीं वरन् उनके दार्शनिक भाव व अर्थ, व दर्शन व चारित्र सम्बंधी उनका मूलही विचारसोम्य है। अपने पृथक इतिहास व दर्शनकी अपेक्षा जैन व बौद्ध धर्म हिन्दू नहीं कहला सकते।

भारतीय जीवन पर जैन प्रभाव सब तरह दृष्टिगोचर होता है। नवीन वैज्ञानिक प्रणालीसे पूजन, उसके लिए मन्दिरोंका निर्माण, धर्मशालायें तथा गोशालाओंकी स्थापना, विशाल पुस्तकालयों का संचालन, निर्धनोंको अन्नादि वितरण, आदि जैनियोंकी मुख्य विशेषतायें हैं। जैनेतर अधिकांशमें इन्हींका अनुकरण करते हैं। अहिंसा सिद्धान्तके प्रतिपादनमें जैन व बौद्धधर्मही मुख्य हैं और बौद्ध-धर्मकी अपेक्षा जैनियोंनेही इस पर अधिक सूक्ष्मतासे आचरण किया है। जैन मुनि अनुकरणीय जीवन व्यतीत करते हैं। साक्षात् दयाकी प्रतिमा बने हुये उन्होंने समस्त भारतमें विचरण किया और अपनी अहिंसासे, अजैन कृषक व राजाओंको समान रूपमें प्रभावित किया है। अहिंसा पर आचरण का सिद्धान्त प्रायः ठीक नहीं समझागा है। पूर्ण अहिंसा तो गृहत्यागी साधुके आचरणका विषय है। गृहस्थके लिए उसकी योग्यता और पदके अनुसार सरल रूपमें, आचरण करनेका कथन है जैन राजाओं व उनके सैनिकोंको अपने सम्मान व देशकी रक्षार्थ युद्ध करनेकी अनुज्ञा है। दक्षिण भारतके कुछ राजा महान योद्धा होते हुयेभी बड़ेही धार्मिक प्रवृत्तिके जैनभी हुये हैं। समुदाय रूपमें जैनी पूर्ण शाकाहारी हैं और जहाँ २ वह अधिक संख्यामें हैं वहाँ उन्होंने अपने पड़ौसियों परभी अपना प्रभाव डाला है। उनके सम्पूर्ण साहित्य तथा शिक्षाओंमें पशुवधका निषेध किया गया है। वर्त-मान समयमें विभिन्न भागोंके जैनियोंने देवी देवताओंके सम्मुख पशुबलि रोकनेका प्रयत्न किया है और वह इसमें सफलभी हुये हैं। जैनाचार्योंने पशुओंकी आकृतियां बना [illegible] उनकी बलि देनेतकका निषेध किया है क्योंकि यह पशुवधका संकल्प प्रगट करता है। जैन साहित्यमें पौराणिक कथायें, संक्षिप्त कहानियाँ, मुहावरे, तथा चारित्र सम्बन्धी-आदेश आदि सभी जीवमात्रके प्रति हिंसाका निषेध करते हैं। अन्य भारतीय धर्मोंमेंभी अहिंसाका कथन है परन्तु जैन धर्मके समान नहीं। जैनधर्मका तो यह आधारभूत अंग है और उसमें इसका क्रमबद्ध वर्णन है। जैनियोंको अन्य धर्मावलम्बियोंने अनेक कष्ट दिये हैं और उन पर महान अत्याचारभी हुये हैं; परन्तु यह इतिहाससे सिद्ध है कि शासन शक्ति होते हुएभी जैनियोंने जैनेतर समाज पर कभीभी अत्याचार नहीं किए।

महात्मा गांधी वर्तमान युगके सबसे महान अहिंसाके प्रतिपादक थे परन्तु उनके सिद्धांतोंका आधार अन्य धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्ममेंही अधिक है। उनके कुछ सिद्धान्त जैनधर्मके शास्त्रोंमें नहीं पाये जाते इसका कारण यह है वह सिद्धान्त उन्होंने समयानुसार (कालानुसार) प्रतिपादित किए हैं और वर्तमान वातावरण उन शास्त्रोंकी रचना कालके वातावरणसे भिन्न है। जैनाचार्य्य सामाजिक कार्य्योंमें अहिंसाकी शक्तिसे पूर्ण परिचित थे, परन्तु उनके विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोणमें धार्मिक क्षेत्रके बाहर अहिंसाके सिद्धान्तोंका प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकताही नहीं थी। परिग्रह परिमाण, परके प्रति समभाव, आत्मशुद्धिके लिये उपवास, जन साधारणके सम्पर्कमें आनेके लिये लम्बी लम्बी पैदल यात्राएँ हमें जैनाचार्य्यों तथा उनके जीवनक्रमका स्मरण कराती हैं। भारतके महान पुत्रके नाते महात्मा गांधीने सत्य व अहिंसाके सिद्धान्तोंको वर्तमान युगके लिए नवीन रूपमें प्रतिपादित किया है। यह दो सिद्धान्त नर नारियोंके वैयक्तिक तथा सामूहिक रूपमें, चारित्रिक मापदण्डके लिए संसार भरमें प्रयोगमें लाए जा सकते हैं।

संक्षेपमें जैनधर्म और जैनियोंका यह वर्णन है। पाठकोंको इसके द्वारा उनके विषयमें विशेष जाननेकी प्रेरणा मिलेगी।

वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम

'तन्मय,' बुखारिया

१

मदिराकी मादक गन्ध कि ज्यों उड़ आती सहसा निमिषोंमें,
हरियाली रह नहीं टिकती ज्यों विधि-विवशा-सी सरसोंमें,
त्योंही पशु तो क्या, मानवकेभी प्राण न रुच रक्षित रहते,
अनगिन मर जाते थे निरीह, प्रतिशब्द न पर मुँहसे कहते;
यज्ञों की रूढ़ि मुक्त प्रचलित क्या नगर-नगर क्या ग्राम-ग्राम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

२

मन्दिर श्मशान से लगते थे, मठ मानो मदिरालयही थे,
संज्ञा थी उनकी यज्ञ, किन्तु सचमुच वे मूर्त प्रलय ही थे,
स्वच्छन्द घना था अनाचार, उन्मुक्त पापकी माया थी,
जिस प्राणीके मुखपर देखो, हँस रही मृत्युकी छाया थी,
यज्ञस्थलमें मिलता फिरता प्रति ओर छोर अघमला घाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

३

जैसे अकालके समय सृष्टि तरसा करती है जलधरको,
भावुकता एवं तरसती है वीणाके मोहक, मृदु स्वरको,
त्योंही उस समय कोटिजन कर रहे प्रतीक्षा उत्सुकसे,
उस एक पुरुषकी जो निर्भय लोहा लेता उस अघ युगसे,
आवाहन करते ही कटते जनताके बोझिल सुबह-शाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत् शत् प्रणाम !

४

आखिर प्रार्थना हुई ही फिर फलवती नगर कुण्डलपुरमें,
सपनोंमें कोई झलक गया ही त्रिशलाके पावन उरसे;
सिद्धार्थ हुए सिद्धार्थ सत्य, पुर-वासी मानों झूम उठे,
पशु-पुरुष प्राण नारी-पशुको आह्लाद्-विवशसे चूम उठे,
खेतोंके मर्चित पेहूँने पा लिया मनुजसे रत्न नाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

५

मानवने अपने मानसके, भवनोंके भावुक द्वारों पर,
आशाके हरित पात बाँधे साधोंकी वन्दनवारों पर,
ना-समझ मूक पशुओंकीभी आँखोंमें एक प्रकाश दिखा,
मानों अब निर्भय जी लेंगे, प्राणोंमें नव विश्वास दिखा;
वैभव तो वैभव, जगमेंभी, तब समाया पुलकन ललाम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम् !

६

धरतीने धूप पाँवड़ोंसे, अभिनन्दन करनेकी ठानी,
अपलक, सस्मित, कुछ विस्मृतसा रह गया सागरोंका पानी,
ऋतुपति वसन्तभी रुक न सके, आही तो गए मूर्ति रतिसे,
पत्नियाँ अचानक होठों पर उँगली धर पूछ उठीं पतिसे —
'किसके स्वागतको आज साज सज रही पुरातन प्रकृति वाम !'
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत् प्रणाम !

७

वीणा, दुन्दुभी, मृदङ्गोंकी सम्मिलित सरस्वतिके स्वरमें,
शुभ चैत्र त्रयोदशके इस दिन त्रिशलाके कोमलतम करमें,
भगवान वीरने प्रथम बार निज नेत्र खोल करवट-सी ली,
हिंसा नागिनि फुङ्कार रही किस ओर, कि ज्यों आहट-सी ली,
तप देख न पाया था कोई, पक्षाग्नि हुई थी क्षणिक श्याम !
वे वर्द्धमान ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

८

क्रमशः वयस्क फिर वीर [illegible] राजसी सुखोंकी सैया पर,
भी धीरे-धीरे पाँव रखा यौवनकी डगमग नैया पर,
गत संस्कार वश किन्तु शीघ्र ही समझ गए वे यह मौका
यह भरमी विश्वसनीय नहीं, यह अन्त कर चुकी कितनोंका
निर्बल असंयमकी टूटी पतवार न देगी यहाँ काम !
वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

९

आखिर वैभवको लात मार चल दिए वीर सन्यासी बन,
साधना अनेकों वर्षों तक साधी फिर निर्जन-वासी बन,
पुरजन परिवार-प्रीति बंधन, सब तोड़े ज्यों सूखा तृणही,
जीवनके भोग दिखे उनको जैसे मनुष्यताके व्रणही;
ज्यों प्राण देहको छोड़ चले जाते, त्यों वे भी राज-धाम !
वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

१०

अनवरत तपस्या कर फिर जब कैवल्यज्ञान कर लिया प्राप्त,
हो गयी सभी की आत्मा तब जगके कण-कणमें सतत व्याप्त;
विद्रोह पताका फहरा दी फिर उन वधके प्रासादों पर,
जिनकी नींवें थीं सधी हुई संसृति-जीवनकी लाशों [illegible];
जिनमें मानवकी मानवता मूर्च्छित थी अपना हृदय थाम !
वे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

११

जैसेकि प्रभञ्जनके सम्मुख थमती न लताओंकी छाती,
झोंकोंसे होड़ न ले पाती स्नेह दीपकोंकी बाती,
वैसेही उनकी वाणीके पावन, पर प्रबल प्रहारोंसे,
घायल हिंसाभी हार गई, जैसे बहु बुद्-बुद् ज्वारोंसे !
हस उठा धराके अधरोंपर वर्षों प्रात-का पुण्य-धाम !
हे वर्द्धमान् ! वे मूर्तिमान् वरदान, उन्हें शत्-शत्-प्रणाम !

भ० महावीरकी महिला समाजको देन।

(ले० "स्वतंत्र" सूरत)

भ० महावीर जिन्हें कि विश्ववंद्य कहा जाता है, जिनके द्वारा प्रतिपादित उपदेशोंकी आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। व उस परिस्थितिमें पैदा हुवे थे जब कि संसारमें धर्मका नाम अंधकारमें छिपा हुआ था, मान, मत्सर, दंभ, पाखंड, स्वार्थ, ममता आदि पाप प्रवृत्तियां अपना प्राबल्य फैलाये हुई थीं। मानव अपनी पापजनित मनोवृत्तियों द्वारा लोक मूढ़तामेंही आनन्द मान रहे थे। वस्तु-स्थितिसे और उसके स्वभावसे बिल्कुल अपरिचित आंखें बंद किये हुवे अंधोंकी नाईंही पथभ्रष्ट हो रहे थे। उनके जीवनके प्रत्येक कार्य दिखावटी थे। तत्वज्ञान एवं सचाईकी ओर उनका ध्यान नहीं था। ब्राह्मण वर्गने अपनेको समाजका सर्वेसर्वा बना रक्खा था।

उस समयकी महिला समाजके प्रतिभी स्वार्थी पुरुषवर्गने महान् अत्याचार किये थे। उनके लिये महिलायें मद्य मांसकी तरह भोगकी सामग्री बनी हुई थीं। धर्म स्थानों तकमें स्त्रीजातिसेभी खिलवाड़ किया जाता था। वानप्रस्थमें गये लोगोंको भी सुरा और स्त्री भोग्य वस्तुयें थीं। राजा उदयन और प्रद्योतके संघर्ष युद्ध कामिनीके लिये हुवे थे।

मजेकी बाततो यह थी कि ब्याही पत्नीभी लोग दूसरेको दे देते थे और उसमें [illegible] मानते थे। "द्वितीयो वरः देवरः" इस सिद्धान्त का उस समय पर्याप्त प्रचार था। यह कुत्सित भावना सब नारी समाजके प्रति प्रचलित थी। जिस नारीसे नर पैदा हुवे जिसने तीर्थंकरों चक्र-वर्तियोंको जन्म दिया जिसका सामाजिक धार्मिक राजनैतिक क्षेत्रमें पुरुषोंकी तरह समान अधिकार रहा आया हो,-जो अपनी शिक्षा, दीक्षा, विद्या, कलो आदिके द्वारा इतिहासमें अपना नाम अमर बना आई हो उसी नारी जातिका ऐसा महान् घोर अधःपतन स्वार्थी पंडोंद्वाराही किया गया था।

ऐसीही सर्वथमयी परिस्थितिमें आजसे ठीक २५४६ वर्ष पूर्व भ० महावीरका जन्म हुआ था। इसी लिये कि धर्मका वास्तविक स्वरूप बतलाकर लोगोंको सन्मार्गपर लगाया जावे। दुनिया-वालोंको वह विवेक प्राप्त कराया जावे जिसके द्वारा वे अन्धकार और प्रकाशको पहिचान सकें उलझी हुई सूक्ष्म गुत्थियोंसे निकाल कर उन्हें समीचीन मार्गपर लगाया जा सके।

'जब भगवान वीरने तत्कालीन नारी परिस्थितिका अनुभव किया तो उनका हृदय करुणारस से पिघल उठा। जो नारी अपने सतीत्व[1] द्वारा दुनियावालोंका माथा अपने चरणोंमें झुकाती रही, जो नारी अपने उत्कृष्ट[2] चारित्र द्वारा इन्द्रोंकोभी चकित करती रही, जो नारी राज्य संचालन[3] द्वारा

---

१. सीता. २. सुलोचना. ३. सिंहिका.

प्रजाकी रक्षा करती रही, जो नारी मानव[4] समाजकी भलाईके लिये अपना बलिदान करती रही, जो नारी अपने शीलरूपी आभूषण[5] द्वारा व्यभिचारियोंके दांत खट्टे करती रही, जो नारी बराबरके अपने धार्मिक[6] अधिकार प्राप्त करती रही, जो नारी पति सेवाके द्वारा अपने कुष्टी पतिको कामदेव बनाती रही, उसी नारी समाजके प्रति इन स्वार्थियोंका यह निन्द्य वर्तन। जहा महिलायें अपने अधिकारोंसे च्युत होकर नारकी जीवन बिताती रहें, वहा युवक पाणिग्रहण करके क्षणिक सुखके लिये इनका अपमान देखते रहें, यह युवक महावीरसे न हो सका। फलस्वरूप भ०-महावीर बाल ब्रह्मचारीही रहे इसलिये कि उन्हें कामभोगके विरुद्ध क्रान्ति जो करना थी।

भगवान वीर महिला समाजके हृदयमें उस समानाधिकारकी सरिता बहाना चाहते थे जोकि उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत्त थी। धार्मिक ग्रंथ तो खुले शब्दोंमें कहते हैं :—

शिशुत्व स्त्रण्यया, यदस्तु तत्तिष्ठतु तदा।
गुणाः पूजास्थानं, गुणिषु लिंगं न च वयः॥

अर्थात्—बालक स्त्री चाहे जो हो, उसके गुणही पूजने योग्य होते है उसका [illegible] या उसकी अवस्था नहीं। महापुरुष महावीर अपनी ३० वर्षकी अवस्थासे लगा कर ४२ वर्षकी अवस्था तक यानी कुल १२ वर्ष तक मौनावस्थामेंही साधकके रूपमें रहे थे।

जब आप आहारार्थ कौशाम्बी नगरी आये तब एक चन्दना नामकी महिलाको जोकि अत्याचारियों द्वारा सताई गई थी, जिसका शील लूटनेके लिए दुष्टोंने अनेक प्रकारके षड्यन्त्र रचे थे। जिसके जीवनका मूल्य पूरा "दासी" शब्दोंमें था, जो जेलखानेमें पडी हुई अपनी मौतकी अन्तिम घडियां देखनेके लिये लालायित बनी हुई थी उसी चंदनाका आपने उद्धारकर अपहृत-दुर्दलित नारीको समानपद दिलाया था। दासीप्रथा का अन्त किया था।

उन्होंने बतलाया था कि पुरुषोंकी भांति स्त्रियां बराबरके धार्मिक अधिकार प्राप्तकर सकती हैं। जो अधिकार पुरुषोंको प्राप्त है,या ले सकते है वही अधिकार स्त्रियोंके लियेभी है। पुरुषोंकी भांति स्त्रियां आर्यिका हो सकती हैं तथा श्रावकोंकी तरह व्रतपाल सकती है। वे धार्मिक ग्रंथोंका अध्ययन कर सकती हैं, उन्हें यह अधिकार प्राप्त है। यदि पुरुष मुनि हो सकता है तो स्त्रियां अर्यिका हो सकती हैं। यदि पुरुष तद्भव मोक्ष प्राप्तकर सकता है तो स्त्रियाभी परम्परागत मोक्ष प्राप्तकर सकती हैं।

स्त्री पर्यायसे मुक्तिका निषेध इसलिये है कि स्त्री द्वारा पूर्ण अहिंसा महाव्रतका पालन नहीं हो सका, शारीरिक संहनन (आदि की तीन संहनन) बलवान न होनेसे उन्हें शुक्ल ध्यानकी प्राप्ति नहीं हो सकी, एतदर्थ स्त्री पर्यायसे उन्हें तद्भव मुक्ति प्राप्त नहीं होती यह सैद्धान्तिक नियम है। चन्दनाको दासी प्रथासे मुक्ति मिली, तथापि दासी प्रथाके प्रति खूब बगावत हुई, और भग-

---

४. मंदोदरी (रावनकी पटरानी). ५. चन्दना रत्न मंजूषा, अनन्तमती मनोरमा आदि.
६. ब्राह्मी सुंदरी (युगादि जिनकी पुत्रियां). ७. मैना सुंदरी.

वीन वीरके प्रतिपादित उपदेशों द्वारा नारी जातिने अपने अधिकार प्राप्त किये। आदि पुराणमें बताया है :—

पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः।

आदिपुराण पर्व ३२

यह उस समयकी बात है जबकि भ० ऋषभदेवने कर्मभूमीकी सृष्टि जनताके समक्ष रक्खी थी। उन्होंने कहा था कि पुत्रोंकी भांतिही, पुत्रियोंकोभी समभाग बांटनी चाहिये। आदिनाथ भगवानने जिस तरह अपने पुत्रोंको शिक्षा दीक्षा दीथी उसी प्रकार अपनी दोनों पुत्री, ब्राम्ही-सुंदरीकोभी दी थी। इनके समवशरणमें आर्यिकाओं में दोनो प्रमुख मानी जाती थीं। इसके आगे :—

द्वादशांग धरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी।

एकादशांगभृज्जाताऽऽर्यिकापि सुलोचना॥

हरिवंश पुराण सर्ग १२

यानी मेघेश्वर (जयकुमार) द्वादशागका ज्ञाता गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंगकी धारक आर्यिका हुई। इसका तो यही मंतव्य हुआ कि सृष्टिसेही स्त्रियोंको समानाधिकार प्राप्त हैं। हनुमान (श्रीशैल) की माता जब गर्भवती थी तब उसकी सासने उसे झूठा कलंक लगा कर घरसे निकाल दिया था ऐसी अवस्थामें शीलवती पतिपरायणा अंजना जंगलके अन्दर एक गुफामें भगवानकी मूर्ति विराजमान कर अपनी सखी वसंतमालाके साथ पूजन प्रक्षाल करती थीं।

भ० वीरकी दृष्टिमें स्त्री और पुरुष दोनोंही समान थे और दोनोंकेही अधिकारोंके महत्वको समझते थे। उनके प्रतिपादित धर्ममें स्त्री पुरुषोंको समानाधिकार प्राप्त था। जो आत्मा पुरुषोंमें थी वही आत्मा नारी जातिमें मानते थे। अपने त्याग, तपस्या, संयम, आत्मसाधना द्वारा उच्च गति प्राप्त कर सकी हैं।

स्त्रियोंका दर्जा सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रमेंभी समान है। स्त्रियोंको अर्धांगिनी शब्दसे संबोधित किया जाता है जबतक पुरुष अपने आधे अंगको ठुकराता रहेगा तब तक उसे किसीभी क्षेत्रमें सफलता नहीं मिल सकेगी और न वह अपने जीवनस्तरको ऊंचा उठा सकेगा। यह कहाका न्याय है कि पुरुष अन्याय और अत्याचार करते हुवे निर्दोष कहा जावे? और जो निर्दोष अबलायें हैं उन्हें पददलिता पदच्युता बताया जावे। मानवोंके इस मूल भरे सिद्धान्तका विश्ववंद्य वीरने विरोध किया। उन्होंने यह सिद्ध करके दिखाया कि जबतक महिला समाज अपने अधिकार प्राप्त नहीं कर लेती तब तक समाज, देश, धर्म, राज्यशासन आदि अधूरे रह कर गर्तमेंही गिरते चले जावेंगे। स्त्री राज्यसिंहासन पर अपने पतिके साथ कंधासे कंधा भिडा कर बैठती आयी है:—

अर्धासनं निविष्टे च मतास्मिष्टे च भूभुजः।

—क्षत्रचूडामणि (वादिराज)

उसे पट्टरानी या महारानी अथवा राजमाता पद मिलता आया है। स्त्री पुरुषकी सहायक है और पुरुष स्त्रीका सहायक है, जब दोनोंही नर नारी अपने विचारोंमें एकता प्राप्त करते हैं तभी गृहस्थ मार्गका सुंदर रीतिसे संचालन हो सकता है। शास्त्रोंमें तोः—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

गृहस्थोंके षट्कर्म बतलाये गये हैं। उससे यह सिद्ध होताही नहीं कि ये षट्कर्म श्रावकही पालन करते हैं श्राविका नहीं। दान तो दम्पतिद्वारा प्रदत्तही महत्वपूर्ण बतलाया है। राजा श्रेयांसने सपत्नीक युगादि जिन ऋषभदेवको सर्व प्रथम इक्षुरसका आहार दान दिया था, उन्हींके द्वारा मुनियोंको आहार दान देनेकी प्रणाली प्रारंभ हुई। उपर्युक्त उदाहरणोंका मतलब यही हुआ कि नारी जातिने अपने अधिकार हमेशासे अपनाये हैं। नारी और नर दोनोंही मानव हैं, स्त्रीत्व और पुरुषत्व दोनोंको अपने कर्मानुसार प्राप्त होता है।

जहां भ० वीरके समवशरणमें १ लाख श्रावक थे तो ३ लाख १८ हजार श्राविकायें थीं। जिन्होंने चन्दना दासीको दासीत्व बन्धनसे मुक्त किया था, वही चन्दना आर्यिकाओंमें सर्व प्रथमथी श्रेष्ठथी। सीताजी बनवासके अन्दर मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके साथ मुनियोंको आहार देतीथी।

पूजन और प्रक्षाल ये तो भक्तिमार्गके प्रथक २ अंग हैं, एवं इन दोनोंसे पुण्य बंध होता है जो कि संसारका कारण है, जबकि आर्यिका संवर और निर्जराका कारण बतलाया गया है जिससे क्रमशः मोक्षकी प्राप्ति होती है। जब स्त्री मुक्तिके कारण इन संवर और निर्जरा करनेवाले कार्य तो कर सकती है तब यह पुण्यबंधके कारण भूत प्रमुख पूजन प्रक्षाल नहीं कर सकती। यह [illegible] माना जा सकता है। महाप्रभु वीरके धर्मने नारी जातिके लिये सन्मान, प्रतिष्ठा, समानाधिकार आदि सब कुछ प्राप्त कराये थे उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता दी गई थी।

"सतीत्वेन महत्त्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चित् भूषयन्ति धरातलम्॥"

Karnāṭaka South and Jaina Tradition

By Prof. D. R. Bendre, M. A., Sholapur

[प्रस्तुत लेखमें प्रो० बेंद्रेने भारतीय पुराण-साहित्यकी महत्ता स्थापित करके विज्ञ समाजके समक्ष एक विचारणीय दृष्टिकोण उपस्थित किया है। जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध अनुश्रुतियोंका तुलनात्मक अध्ययन भारतीय इतिहासके लिये उपयोगी सिद्ध होगा। पुराणोंको निरा कल्पित कह कर टाला नहीं जा सकता। जैन पुराणोंमें इतिहासकी बहु सामिग्री है। जैनोंके आदि तीर्थंकर ऋषभदेवको वैष्णवोंनेभी अपना पूज्य पुरुष माना है। वैष्णवजन नाभिराजको १४ वां मनु मानते हैं। जैनभी ऋषभदेवके पहले १४ कुलकरोंका होना भोगभूमिमें बतलाते हैं। ऋषभदेव वैष्णवोंके मन्वन्तर-काल वैवस्वत मन्वन्तरसेभी पहले हुये हैं। नाभिराजके समय यह हमारा देश 'अजनाभ-वर्ष' कहलाता था। शैव और वैष्णव पुराणोंमें कुलपर्वत पर 'भूमियां' जातियोंका आवास बताया गया है। अतः मानना होगा कि श्वेतवराह कल्पके पहले विंध्यसे लंका तक विस्तृत एक दक्षिण राज्य था। इस अवस्थामें ऋषभ और भरतका कौसल, दक्षिण कोसल भासता है। कई विद्वान् 'कोशल-तोसल' नाम मात्र द्राविड भाषका मानते हैं। उत्तरमें जाति नामके साथ 'अल्' प्रत्ययका संयोग संस्कृत-संधिके नियमानुसार होता है, जब कि दक्षिणमें यह संयोग द्राविड-कन्नड-स्वरसंधिके अनुसार होता है। यथा :—

उत्तरमें :— नीप (नेप) + अल् = नेपाल }
बंग (बंग) + अल् = बंगाल } सवर्ण दीर्घ संधि.
पंच + अल् = पंचाल }

दक्षिणमें :— कुल + अल् = कुलल (कुलाल नहीं होता है)
केर (केर) + अल् = केरल (केराल " " ")
सिंह + अल् = सिंहल (सिंहाल " " ")
कोश + अल् = कोशल (कोशाल " " ")

अतः इक्ष्वाकु कोशल इस प्रकार दक्षिणस्थ देशावास होना चाहिये। 'भागवत' में वैवस्वत, नु और इक्ष्वाकुसे पहले द्रविडेश्वर सत्यव्रत मनुका उल्लेख है। द्रविडोंका आवास दक्षिणमें था। भुजबलिकी राजधानी दक्षिण कोसलकी पोदन थी। दक्षिणमें बाहुबलिकी तीन विशालकाय मूर्तियांभी हैं।

'भागवत' में कोङ्कण, वेङ्क और दक्षिण कर्णाटकके मध्यदेशसे ऋषभदेवने निर्वाण पाया, लिखा है। किन्तु जैन आगम ग्रन्थोंमें ऋषभका निर्वाण स्थान कैलाश लिखा है। शैव ग्रंथोंका कैलाशभी यही है। अतः ऋषभनिर्वाण स्थान कैलाशको मानना ठीक है। साथही यह मानना भी ठीक है कि 'भागवत' के पहलेसे दक्षिण कर्णाटकमें अर्हत (जैन) राजा थे। इसका अर्थ यह होता है कि दक्षिणसे जैनधर्मका सम्बन्ध नेमि-पार्श्वनाथके मध्यवर्ती कालसे है। जैन ग्रंथोंमें केवल नेमिनाथ का पल्लव देशमें विहार करनेकाही उल्लेख नहीं है, बल्कि यहभी लिखा है कि पाण्डवोंने दक्षिण

मथुरामें राज्य स्थापित किया था। यह तामिल देशके प्रदेश है; जो कर्णाटकसे सटा हुआ है। उस समय कर्णाटक (कर्ण-नाटक) और पन्नाट (पर्ण-नाटक) एक देशके उत्तरीय व दक्षिणी भागमें रहते थे और एक जातिके थे। पंतोलेमीने थोड़ वार्गोंमें कर्णाटकों व पर्णाटकोंका उल्लेख किया है। ये सम्भवतः नाट् क्षत्रियोंकी मिश्र जातियां थीं। भरत चक्रवर्तीके समय नाटों (ज्ञातों) की एक प्रमुख क्षत्रिय जाति थी। अन्तिम तीर्थंकर महावीरका जन्म ज्ञातृ (नाट) क्षत्रियोंमें हुआ था। इन ज्ञातृ या नाट क्षत्रियोंके अनेक कुल दक्षिणमें भी आबाद थे। कुन्तलके कर्णाटक, द्रविडके कर्णाटक, माहिष्मतलके पुन्नाट, आन्ध्रके वेङ्गिनाट, किष्कके मा नर और उत्तर कौशलके उन्नाट क्षत्रिय ज्ञातृ (नाट) क्षत्रियोंकेही भेद हैं। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन जैन इतिहासका सम्पर्क दक्षिण कर्णाटकसे था। नाट्क्षत्रिय वहां रहते थे। यदि यह बात न होती तो भद्रबाहु आचार्य सम्राट् चन्द्रगुप्त सहित श्रवणबेलगोलको न आते। इस विषय पर माननीय लेखक अन्य विद्वानोंके विचार जाननेके लिए उत्सुक हैं। —का० प्र०]

I believe that very old relations have existed between Karnātak and Jainism My belief is based on the historical evidence implicit in the Purānas. Purānās are regarded as pre-history, true. If such pre-history is studied from a comparative stand-point in the light of the Jain, Vishnava and Śaiva Purānas the scope of history itself will be widened. It is time that this systematic reconstruction is undertaken by the Pandits in the wake of the Orientalists Sri C R Krishnamacharya's, "The Cradle of Indian History" (The Adyar Library Series 56), is good beginning in this direction If research is prosecuted further on these lines, it will probably be established that the Jain, Vaishnava, Brahmha, Shākta, Śaura and Chandra views of Reality have rayed out of a single central Inspiration or Vision, just as now, it has come to be accepted that the Ganges, the Indus and the Bramhaputra have a common regional basis in the Himālayas. Such a finding will contribute to the evolution of the synthetic unity, which is the need of the hour.

In the Jain Āgamas, there is embodied beside the Darshana, the Purāna relating thereto. From this tradition we understand that the Ādi-tīrthankara Rishabhadeva, revealer of the Jain Illumination is venerated in the Vishnava Āgamas as well. Nay, more The trinity of Nābhi, Vrishabha and Bharata, shares fraternal status with Uttānapada Raya, the father of the exemplar of Vaishnava devotion, Dhruva According to the Vaishnava Āgamas Nābhi Rāya, is the Fourteenth Manu. Prior to him are reckoned the *pūrva bhavas* of the Ādijina (आदि-जिन) and thirteen Manus of the Jaghanya Bhoga-Bhūmi (जघन्य भोगभूमि). By the criterion of the Vaishnava Purānas the present Vedic era is part of the Vaivaswata Manwantara Rishabhdev's age is anterior to it. Our country had not yet acquired the name of Bharat-Khanda. The contours of the known world were established in the time of Bharata's grand-father, Nābhi Rāya. All the purānas more or less accept and describe this geography. The Purānas say that in Nābhi Rāya's time, this land of our's was designated 'Ajanābha-Varsha.' Anterior

to this Kalpa we hear mention of 13 Jain Manus, and the Kula-Karas, and the new of men that was being shaped under the direction of these Manus and Kulakaras in Bhogabhumi If the Bhumiya tribes inhabited the region of the Kula-Parvata mountains alluded to in the Śava and Vaishnava Purānas, it will have to be admitted that the southern kingdom between the Vindhyas and Sinhala was one far advanced before the Sweta-varāha-Kalpa. In that case there are reasons to maintain that Kośala, the home of the Rishabha and Bharata, Inshwākus would be identified as the southern kingdom and not the northern. Some western Scholars hold that Kośala, Josāla, is a pre-Dravidian nomenclature. The suffix "Ala" indicating place and country when applied to tribal names in the north, would be in accordance with the Sanskrit Sandhi; when applied to tribal names in the south would be in accordance with the Dravida-Kannada-Swarasandhi.

Northern :—

Neepa (Nepa) + Ala =	Nepāla	Savarna	
Vanga (Banga) + Ala	Bangāla	Deergh	
Panchā + Ala	Panchāla	Sandhi	

Southern —

Kunta + Ala = Kuntala (not Kunt-āla, कुन्ताल)
Kera (Chera) + Ala = Kerala (not Kerāla)
Sinha + Ala = Sihhala (not Sinhāla)
Kosa + Ala Kosala (not Kośāla)

The original Kośalas of the Ikshwāku (इक्ष्वाकु) would thus belong to the Dakshināṭya countries. It can be traced from the Bhāgawata that Satyavrata Manu, the Dravideshwara was well known before the pauranic trio, Vaivaswata, Manu and Ishwāku. The south was the land of Drāvidas, Pothali of South Kośala was the capital of Bhujabali. Three beautiful monuments attesting the unique worldly renunciation of Bhujabali Gomateshwara stand in Karnātāka The Bhāgwvata speaks of Rishabhadeva as having attained nirvāna in the south of this Karnātak. i. e in the middle region of Kongu Vengada and South Karnātak (Kankata Karnātaka) and Kutajadri. But the Jain Āgamas have it that Rishabha had his nirvāna in the Kailāśa. The Kailaśa of the Śaiva Āgamas must be identical with this. The Nirvāna of Rishabha may be associated with this spot. But there seem to have existed Arhat kings in South Karnātak anterior to the 'Bhāgavata-purāna' who wanted to appropriate this honour to the south. That means the South had imbibed Jainism in the middle of the time of Nemi Pārśwanātha. The Jain Āgama not only refers to the exodus of Neminātha to Pallava, anticipating the destruction of Dwārikā, but to the Pāndavas too having established a kingdom in South Madura. These Pallavas and South Madura are none else than the Tamil land contiguous to Karnātaka. At this

time the Karnātakas (the Karna-Nātakas) and the Pallavas (The Parna-Nātas) lived in accord as the north and south of a single land and as the offshoots of a single tribe. Pānini includes the 'Karnātakas and 'Pārnātakas under the 'Gotra-nama' category of the "Yaksas." It would seem both these were mixed Kshatriya tribes of the Nātas.

The Nātha tribe was one of the five Kshatriya tribes of note during the time of Bharata Chakravarthi. Mahāvīra, the last of the Tīrthankars was born in this tribe. The Sanskrit and Prākrit texts variously refer to this tribal name as Jñātri, Nāth and Nāta. The different houses of the Nātas were located in the South. Karnātaks of Kunthala, Parnātas of Drāvida, the Mahānatas of Vidharbha, the Punnātas of Mahishmandala, the Bekinātas of Āndhra, the Vā-naras of Kishkanda, the Unnātas of Uttara-Kośala were among the tribal variations of Nātas The Bekinātas are mentioned in the Vaidika Sukti The 'Mahābhārata' mentions the Unnātas. Pampa in his 'Ādipurāna' specifies the Mahānātas. The Vānaras of Rāmāyana are well known. The Ggngas and the Punnātas of ancient Mahisha-Mandala are known to be kin. Inscriptions from rocks too bear evidence to this.

It emerges that ancient Jain history had contact with the larger portion of Karnātak as Kunthala and Kunkana, are identified as the home of the Kulas, and as Vānara, Punnāta, and Karnātaka are found to be the sources of the various sub-divisions or offshoots of Nātas. If this were not so, Maurya Chandra-Gupta with Bhadrabāhu Āchārya would not have come staraight by the northern route, traversed the countries in the middle and settled down in Shravan-Belagola as if by express invitation I have briefly set forth this view for further scrutiny by scholars I have a desire to acquaint myself, with the position of those who hold a contrary view or who have arrived at the same conclusion on lines of their own. I shall feel compensated for the present if the attention of those engaged in historical and geographical research prior to the date of Bharata, is drawn this way.

Kondakundācārya's Birth Place.

By Dr. B. A. Saletore, M. A., D. Litt. Ahmedabad.

[प्रो० डॉ० भास्कर आनन्द सालेतोरेने प्रस्तुत लेखमें श्री० कुन्दकुन्दाचार्यजीके जन्मस्थान पर प्रकाश डाला है। शिलालेखोंके आधारसे वह मद्रास प्रान्तके गुंटकल रेल स्टेशनसे चार पांच मील दूर स्थित कोनकुंतल या कोनकुण्ड ग्रामको उनका जन्मस्थान बताते हैं। आचार्यश्री का जन्मस्थान होनेके कारण वह स्थान तीर्थ माना गया था। सन् १०८१ के लेखसे स्पष्ट है कि महामण्डलेश्वर जोयिम्मय्यरसने कोन्डकुन्देयतीर्थमें स्थित चह जिनालयको दान दिया था। इसी मंदिरके लिये सन् १०८८ में महामण्डलेश्वर सिंहरसने दान दिया था। ऐसे उल्लेखोंसे कोन्डकुन्द या कोनकुन्तल स्थानही संभवतः आचार्य श्रीका जन्मस्थान है। —का. प्र.]

One of the most famous names in early Jaina history is that of Kondakundācārya. His date is still unsettled, but it is believed that he lived in the first century, A. D. Scholars like Venkayya and Ramaswami have rightly pointed out that he hailed from Konakuntala or Kondakunda, or Konakonala, a village about four or five miles from the Guntakal railway station in the Madras Province. I have shown elsewhere that this name Kondakunda is essentially Kannada [1] In this paper I shall show that this place was of some consequence, both from the administrative as well as the religious points of view It rightly came to be called a *tirtha* or a holy place, many centuries after the time of Kondakundācārya, evidently because of the fact that that great teacher had been born there That the birth place of a great place was reckoned to be a *tirtha* or a *kṣetra* has been shown by me in another context, where I have proved that the birth place of the great Vaiṣnava teacher Ānandatīrtha better known as Madhavācārya, has likewise ever been reckoned to be a holy place by the followers of this great Vaiṣnava teacher. The place is called Pājakakṣetra while the place where he spent his boyhood is called Danda-*tirtha*.[2] Concerning the birth place of Kondakundācārya, I may add that the remarks which follows are based on five stone inscriptions which were accessible to me long after the publication of my work on Jainism.

The earliest stone inscription about the birth place of the great Jaina teacher is dated in A D 1059-60. It was found in the Bhogeśvara temple at Donekallu, Gooty tāluka, Anantapūr district, Madras Province It informs us that in the reign of the Western Cālukya monarch Tribhuvanamalla Deva, an expedition was led to the south by that monarch At that time Sankarasa was governing from Kondakunde (*Kondakundeya-maneya Sanka-*

1. Read Saletore, ***Mediaeval Jainism***, pp 226, n. (3)—228.
2. Read Saletore, ***Ancient Karnātaka***, pp 416 ff

rasa) In the above record we have an interesting detail which, of course, does not concern us here *viz.*, that two Brahmans (named) had forcibly occupied the *umbali* or rent free lands of some persons, and that, they were ejected from those lands.[3]

The second stone record is dated in A D. 1078, December the 25th. It was discovered near the Malleśvara temple at Konakonala itself, in the Gooty tāluka This is a damaged record which mentions the same Western Calukya Tribhuvanamalla Deva, records the gift of some land for the services of the god Mallikārjunadeva of Kondikunde [4]

The third record dated A D 1081, December the 23rd, Thursday, and discovered on the hill called Kailesappa Gutta also at Konakonala, affirms that while the same Western Cālukya monarch was reigning from Pottalakere, and when his Mahāmandaleśvara Joyimmayyarasa was governing the Sindavādi 1,000 Province, this governor granted thirty *mattar* of land, a flower garden, an oil mill, and eight house sites for the services of the Jaina god in the *basadi* called Catta Jinālaya, which had been erected by Nalikabbe in memory of her husband, in the *Kondakundeya tirtha* (Holy place of Kondakunda) The governor, it may be noted, was a devotee of the god Mallikarjuna of the same place.[5]

The fourth inscription dated A D 1088, December the 24th, and found in a field also at Konakonala, mentions the same Western Cālukya monarch. It registers the grant of land by the Mahāmandalesvara Cikkarasa of Hāmbige belonging to the ancient Bāna royal family, but the gift-deed was executed by the Mahāsāmanta Candrahāsa of Kondakunde for the services of the same god whose name is lost in the record.[6]

The fifth record dated A D. 1525, November the 7th, and discovered in front of the Bhogeśvara temple at Konakonala itself, refers to the reign of Krsna Deva Rāya the Great of Vijayanagara It affirms that under orders of the monarch, Kottanara Rāmarāja made a gift of land to certain persons (names lost in the record), of Kondakundi for constructing a tank in the village and for its supervision.[7]

From the above, therefore, we may safely conclude that the birth place of Kondakundācārya was a place of much consequence from the eleventh till the sixteenth century, that it was a centre that was always within the limits of Karnāta monarchs, and that it was a place of importance both to the Hindus and Jainas

---

3 *South Indian Inscription*, IX. P. I.- No 123, pp 104-105; *No. 392 of 1920.*

4 *Ibid*, No 136, pp 119-120, *No 455 of 1920.*

5 *Ibid*, No 150, pp 132; *No 565 of 1915*

6 *Ibid* No 157, pp 137; *No 595 of 1915.*

7 *Ibid*, Part II, No 519, p. 535, *No 76 of 1912.*

पंव्वइया नगरी।

(इतिहास तत्व महोदधि जैनाचार्य श्री. विजयेन्द्रसूरी)

उद्योतन सूरीद्वारा प्रणीत कुवलयमाला कहा ग्रन्थ शक सम्वत् ६९९ (विक्रम सं. लगभग ८३४) की चैत्रवदी १४ को जावालिपुर (मारवाडका जालौर नामक स्थान) में पूरा हुआ था। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखी गाथाओंमे 'पव्वइया' (पर्वतिका) नामक नगरीका वर्णन आता है। यहा इस नगरीको चन्द्रभागा (चनाब) नदीके किनारे पर बताया गया है।[1] कुवलयमालाकहाके रचयिता उद्योतन सूरिके पूर्वपुरुष हरिगुप्त इसी नगरीमे रहते थे और तोरमाण हूण राजासे सन्मानित और इसके गुरुथे। थामस वैटर्स कृत आन युआन च्वाङ् ट्रैवल्स इन इण्डियाके नकशेमें युआन च्वाङ की यात्राओंके आधार पर चन्द्रभागा नदीके किनारे पर 'पर्वत प्रदेश, प्रदर्शित किया गया है जो कि काश्मीरके नीचे है, इस की ही राजधानी पर्वतिका (पव्वइया) थी।[2] महाभारतके सभापर्व में अर्जुन की दिग्विजयके वर्णनमें अर्जुनका काश्मीर जाते समय पर्वत प्रदेशमेंसे हो कर जानेका उल्लेख है।[3] पाणिनिके तक्षशिलादि गण[4]में भी जिस 'पर्वत' देशका उल्लेख है और विशाखदत्तके मुद्राराक्षसमें पर्वतक और मलयकेतु नामके जो पात्र उपस्थित किये गये हैं वे सब इसी पर्वत प्रदेशके रहनेवाले थे। श्री वेनीमाधव बरुआके मतसे मुल्तानके पूर्वोत्तरमें ११६ मील पर यह पर्वत

---

१. भारतीय विद्या, Vol. II, Part I, नवम्बर १९४०, पृ. ८४, गाथा २. ३.

> सुहरिय चारुसोहा वियसिय कमलाणणा विमलदेहा।
> तत्थत्थि जलहिदइआ सरिआ अह चंदभाय त्ति॥
> तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयणसोहिल्ला।
> जत्थट्ठिय भुत्ता पुहइ सिरितोर राएण॥

२ On Yuan Chwang's Travels In India By Thomas Watters, Vol. II के अन्तमें दिया नक्शा.

३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय २८—

> विजित्य चाहवे शूरान्पार्वतीयान्महारथान्।
> जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम्।
> पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः
> गणानुत्सवसंकेतान जयत्सप्तपाण्डवः।
> ततः काश्मीरकान्वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।

४. इस गणमें तक्षशिला, वत्सोद्धरण, कैमेंदुरक, ग्रामणी, छगल, क्रोष्टुकर्ण, सिंहकर्ण, संकुचित किन्नर, काण्डधार, पर्वत, अवसान, बर्बर, कसकी गणना है।

प्रदेश था।[५] इस पर्वत प्रदेशके रहनेवाले लोग पौरव कहलाते थे। भारतीय इतिहासके प्रसिद्ध और सिकन्दरसे लोहा लेनेवाले राजा पुरु इसी प्रदेशके थे। युआन च्वाङ्के अनुसार इस पर्वत प्रदेशका घेरा ५००० ली था, इसकी राजधानी २० ली से भी बड़ी थी। वहा की प्रमुख उपज चावल, दाल, और गेहूं थी।[६]

इस वर्णनसे प्रतीत होता है कि कुवलयमालाकथाकी प्रशस्तिमें वर्णित पव्वइया (पर्वतिका) नगरी पर्वत देशकी राजधानी थी और यह पर्वत देश काश्मीरके नीचे और मुलतानके पूर्वोत्तर ११६ मील पर चनाब नदीके किनारे था। इसी प्रदेशमें एक पर्वत है, जिसे 'पब्बी' कहते हैं। संभव है कि पब्बी और पव्वइया का कुछ सम्बन्ध हो।

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठमें
आज ध्वनित हो काव्य बने।
वर्तमानकी चित्रपटी पर,
भूतकाल सम्भाव्य बने!

—श्री 'दिनकर'

---

५ डा. बेनीमाधव बरुआ कृत 'अशोक एण्ड हिज इंस्क्रिप्शंस, पृ० ४५ में लिखा है.

The explanation for the introduction of Parvatak Kumar in the story lies really in the Mudrārākshasa in which the machinations of Chānakya against Nanda were directed to conciliating Rākshasa, a minister of Nanda, and getting Malayaketu of Parvata as an ally. I am inclined to identify Parvata with Hwen Thsang's Po-fa-to, a country which was situated 700 li (about 116 miles) south-east of Multan. Vishākhdatta's Parvata is the same country as that which Panini IV. 2. 143, mentions as the name of a country under the group Takshasilā IV. 3. 93

६. [illegible] [illegible] और युआन च्वाङ्ग ट्रेवल्स में पो-फा-तोको पर्वत प्रदेश बताया गया है। पृ० [illegible], भा० २.

Jain Code and Jainism.

By Shri Sāhitya-Chandra; Vāngmaya-Pradip; Raoji Nemchand Shah,
Pleader, Sholapur
(Editor Pragati Jinvijaya and Veer Com. Vol.,
President Jain Sāhitya Sevā Mandal)

[प्रस्तुत लेखमें श्री. रावजी नेमिचन्दजी शाहने जैन कानूनकी विशेषता और उसको मान्य करानेकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। जैनधर्म एक अति प्राचीन धर्म है। [illegible] लिखते हैं कि जैनोंके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके पिता नाभिरायकी अपेक्षा यह देश अजनाम वर्ष कहलाता था और उनके पुत्र भरतके नाम पर वही भारत वर्ष कहलाया। ऋषभ तीर्थंकरको हिन्दू विष्णुका अवतार मानते हैं और कहते हैं कि अब तक उनको हुये २८ युग बीत चुके हैं। वह आदि धर्म-प्रवर्तक थे। ऋग्वेदकी ऋचाओंमेंभी ऋषभ और अरिष्टनेमि तीर्थंकरोंका उल्लेख हुआ है। 'भागवत' एवं 'विष्णु' पुराणोंमें ऋषभदेवका चारित्र ठीक उसी प्रकार लिखा हुआ है जैसा कि जैन पुराणोंमें मिलता है। मोहनजोडरोकी मुद्राओंसेभी सिद्ध है कि जैनधर्म पांच हजार वर्ष पहले प्रचलित था। मुद्रा नं० ४४९ पर जिनेश्वर शब्द पढा गया है। मथुराके कंकाली टीलासे बहु प्राचीन मूर्तियां तीर्थंकर ऋषभदेवकी मिली हैं। अतः ऋषभदेवका समय प्रायः ऐतिहासिक कालमें बहु प्राचीन बैठता है। [illegible] वैदिक आर्योंके आगमनसे पहलेके महापुरुष ठहरते हैं। अतः जैनधर्म उनके बराबर प्राचीन सिद्ध होता है। उसे वैदिक धर्मकी शाखा बताना गलत है—जैनोंको 'हिन्दू धर्मविरोधी लोग (Hindu Dissenters) कहना औरभी गलत है। जैनोंका अपना धर्म है, अपने देवता हैं और अपने शास्त्र हैं। निराली पूजाविधि है, जिसमें पशुबलि निषिद्ध है। अहिंसा परमधर्म है। श्राद्धतर्पण आदि कुछ नहीं है। उनकी निराली संस्कृति और दायभागके विधि विधान हैं। 'भद्रबाहु संहिता'–'अर्हन्नीति' आदि दायभाग सम्बन्धी शास्त्र हैं। किन्तु इतने परभी जैनोंके मुकद्दमे हिन्दू लॉके अनुसार निर्णित किये जाते हैं। जैनोंके प्रति यह अन्याय है। मान्य लेखकने न्यायाधीशोंके अभिमत उपस्थित करके जैनकानूनकी विशेषता स्थापित की है। मद्रासके चीफ जज सा. श्री कुमारस्वामी शास्त्रीने स्पष्ट कहा था कि "जैनोंके अपने दायभाग विषयक शास्त्र हैं। हिन्दू कानून उनके प्रति लागू करनेके लिए कोई उपयुक्त कारण नहीं है।" अन्य अभिमतभी यही प्रगट करते हैं। अतएव जैनोंके लिए तो उनका अपना शास्त्र सम्मत जैन कानून बनना चाहिये। स्वतंत्र भारतमें इस अन्यायका अन्त होना चाहिये। जैनोंको मिलकर इसके लिये जोरदार आन्दोलन उठाना चाहिये। जैन सेवा मंडल नागपुरने इस दिशामें विशेष उद्योग किया था, पर संगठनके अभावमें उसकोभी सफलता नहीं मिली। जैन कानूनमें स्त्रियोंको विशेष अधिकार प्राप्त हैं। वह स्वयं गोद ले सकती है और पतिकी उत्तराधिकारी हो सकती है। प्रस्तुत लेखमें इन सब बातोंको दर्शा कर जैन कानून बनाया जाना आवश्यक ठहराया है।
—का. प्र.]

The times in which we live require a revision of our customary old code and ways of living. Institutional religions long-established are being

found inadequate to the complex needs of modern Society. Thought is being rapidly internationalised, put on a pure human basis transcending race, caste, creeds and sects.

It may seem highly anomalous in an *era* like ours to advance any sectional claims The whole of society is moving forward to an unprecedent integration. Old walls are crumbling, man's thought is acquring solidity not practicable in previous eras of history. But at the same time we have to recognise existing barriers and do what may be necessary to ensure the survival of what has come down to us from the past through the Great Masters, Āchāryas, Thinkers, Seers and Institutions

Jainism, it is strongly claimed in this article, is not only one such an age-old institution, but according to some eminent scholars it is impossible to find a beginning for Jainism. At present it is represented in India by twenty to twenty-five lacs of votaries scattered and spread over the various parts of Bhāratvarsh (Note : It is named after भरत, the eldest son of श्रीऋषभदेव, the first Tirthankara It was early known as अजनाभवर्ष after नाभिराजु the father of Rishabha, the founder of Jainism). The Jains, under the present legal system have a few disabilities which it is the object of this paper to point out and further to claim Jain Code be framed and made applicable to them. It must be remembered that Hindu Laws are not words of precise interpretation. It is an incorrect and most unhappy expression.

At present the Hindu Dharma or Law applies to *Jains* except so far as such Law is varied by custom (Vide 8 Bombay, 45 Bombay 754, 50 Madras, 228) 1 The Srutis, 2 The Smritis and 3 Custom are three main courses of Hindu Law. Out of these three, Srutis include the four Vedas The Smritis constitute the principal source of Law 1 The Code of Manu 2 The Code of Yājnavalkya 3. The Code of Nārad are the three principal Smritis which were compiled during the period varying from 2000 A D. to 5th or 6th Century A. D Here it may be worth-noting that the Smritis do not agree with each other in all respects. Hindu Law is a mixture of morality, religion and law The distinction between positive law and moral is not observed in Hindu Jurisprudence. This is what is remarked by Shri Bannerji

Now it can be proved that the Jains have texts and scriptures of their own far far anterior to the Shrutis and Smritis which can be codified as Jain Law.

The Jain scriptures such as भद्रबाहुसंहिता, २ इंद्रनंदि-जिनसंहिता, ३ अर्हन्नीति, वर्धमाननीति, जिनसेनरचित महापुराण (आदिपुराण) etc. have unfortunately never been referred to nor incorporated in the existing system Mayne defines "Hindu is any person who is a Hindu by religion" "This definition necessarily excludes Jains unless Jainism is considered to be a form or a branch of Hinduism"

To consider Jains as 'Hindu Dissenters' is entirely untrue. So also the following remarks of Sir D. F. Mulla about the History of Jains and their tenets are equally wrong and baseless "Jainism seems to have been originated in the sixth or seventh century, to have become conspicuous in the eighth or ninth century; got the highest prosperity in the eleventh and declined after the twelfth" This is entirely based on the fourth hand information derived from the out of date history of Elphinstone or from some interested Brahmin Pandits. This has been proved false by the recent modern researches and historical works of Eastern and Western Scholars like T. W. Rhys Davis, Dr. J Buhler, J G. R. Furlong (Vide Encyclopaedia of Religions and Ethics Volume VII, page 465 and Volume II page 70) and also the works of Jain authors such as Shri *Champat Rayi Jain*, Bar-at-law and Babu Jugamandarlal Jain, M. A., and of non-Jain Indian Scholars.

Before adducing further evidence on this point, I shall first show how Hindu Law is made applicable to Hindus and Jains in the Courts of British India. The Hindu Law as administered by the Court in British India is applied to them by statuetes of the Imperial Parliament and also by local legislation When the British Courts came to be established, the Jain Pandits have neither been consulted nor did the Jainas themselves show sufficient awakening or take cognisance of their position to be able to represent their case

During the last ten centuries Jainism had to face the Vedic religion If one throws only a glance at the history, one will find innumerable instances of tyranny and oppression of Hindu and Mohamedan Kings upon the Jains. The terror created during the last one thousand years has not been wiped out of the minds of the Jains who had kept hidden their holy Scriptures in the cellars even in the British period. The natural consequences followed the Courts consulted the Brahmin Pandits and the result was that the Jains, instead of being governed by their own i. e, Jain Law, have been tied to the chariot wheel of Hindu Law.

The Jains claim a unique position of life, not identical with that of the Hindus. They have, their independent religion, literature, philosophy and culture. The Hindus and the Jains differ on the creation of universe They have their independent gods and their scriptures too Jains worship gods not with some ulterior motive as the Hindus do Their object of worship is to purify the soul and thus to become परमात्मा, ईश्वर or God The deities and the gods according to Hinduism can be pleased by Penance and thus they can grant boons; but according to Jainism the Tirthankaras or the gods are indifferent to the propitiation of their devotees It is purely on such social religious, and cultural grounds and not as a political expedient that the approach to the subject is made here

The writer of this article is fully aware that the country is fast becoming one and there is no view of creating further barriers by urging separatists

claims. The Jains have suffered heavily. They have made great sacrifice for the country and they are in this free India capable of making a splendid contribution to the enrichment of Indian culture, trade, commerce and material progress. It may therefore be noted that the appreciation of Jain Law would in no way be detrimental to the national unity.

We can visualise the time when particularisms will be swept out of existence and mankind will realise itself as a unity But this unity should include scope for distinctive types of human culture and philosophy, proved by their historical survival These cultures have to be preserved through the transition The only way of doing so is to recognise them legally at any rate, remove the legal disabilities to which the Jains are subject at present, though such pleadings may sound to be contradictory to the aforesaid spirit of the times.

As long as Hindu Law continues to be applied to the Jains, who swear by different scriptures and who do not abide by the Vedas and who do not recognise Hindu Purāns, it becomes the duty of the Jains in such matters to plead for a different criterion to be applied to them in consonance with their own accepted scriptures social usages and customs have been accepted as proofs by different High Courts.

It is a great pity that due weight has not yet been given to the common and sound rule that a man must be governed by his own personal law Even the old generations of Jains thought it sacrilegious to bring their scriptures in the Law Courts The natural result was that the Courts decided the Jain cases according to Hindu scriptures and have been following the same rule even upto this date

With these introductory remarks, I shall amplify the point of antiquity and independent nature of Jainism to strengthen my case for Jain Code.

Jainism prospered not only in pre-Vedic times but even prior to that as can be seen from the following extracts In the life of *Lord Rishabhadeva* स्याद्वादवारिधि Shri C R. Jain, Bar-at-law, remarks :—

" The Jain chronology places (श्रीऋषभदेव) Rishabhadeva at an almost immeasurable antiquity in the past but the Hindus who recognise the वृषभतीर्थंकर as one of the incarnation of Vishnu, hold that no less than twenty-eight cycles (युग) have elapsed since His time. He flourished very very far back in the hoariest of hoary antiquity and that He was prior to all systematised forms of religion "

Admittedly there are references in *Rig* Vedic hymns to श्रीवृषभनाथ the founder of Jainism and also to Arista-Nemi, the 22nd Tirthankara who is a cousin of Shri Krishna The life of Rishabhadeva given in Bhāgwata and Vishu Purāna tallies with that of Jain Purānas. Besides from the excavated

Seals and images it is certain that Jainism was flourishing at the date of Mohenjo-Daro civilisation over 5000 years ago. The inscription on the Indus Seal No. 449 reads *Jineswar Jinesh*. For further corroboration see "The Jain Stūpas of Mathura" and elaborate sculpture found in the Kankāli-Mound is undoubtedly the image of Rishabha. The presence of two diminutive bulls indicates that the Personage honoured is Ādinātha Śrī Rishabhanātha has been assigned to Pre-historic age, his religion of Ahimsā (अहिंसा) must have been prevalent several centuries before the advent of the Aryans in the Indus Valley. So also the Social system and the civil Law, that is, the rules of conduct for the members of the Society in the Karma-Bhūmi of that age must have been prevalent in Bhārat-Varsha.

So the Aryans who had their central religious doctrine of Yoga including यज्ञ (animal sacrifice) naturally received the stubborn resistance at the hands of the staunch followers of Shrī Rishabhanātha cult whose slogan was 'Non-Violence is the highest religion' (अहिंसा परमोधर्मः)

After Lord Rishabha, the pioneer of the Bloodless Altar, there were 23 Tīrthankaras, who were the Revivalists प्रचारक and प्रसारक of the same Jain religion.

Lord Shrī Pārśwanātha and Mahāvīra-Swāmī have been now recognised to be the historical personages by the Western and Eastern scholars like Jacobi, Buhlar (See Cambridge history of India) Before Pārśwanātha, Neminātha, the 22nd Tīrthankara lived some 5000 to 8000 years ago, i e. during the pre-Vedic period. (Note.—" Jain tradition is unanimous in making Lord Rishabhadeva the first Tīrthankara as its founder. There may be something historical in the tradition which makes him the *first Tīrthankara* ")

Sir Radhakrishnan in his Indian Philosophy at page 287 remarks :—"The Bhāgwat Purāna endorses the view that Lord Rishabha was the founder of Jainism "

I shall quote some important extracts from the work " The short study in Science of Comparative Religions " by Major-General Furlong :—

" We must widen the inquiry by making it embrace Jainism, the undoubtedly prior faith of very many millions through untold millenniums " It is impossible to find a beginning of Jainism, which appears an earliest faith of India." I shall conclude the point of antiquity by quoting only two very important extracts from the Judgments of the most eminent High Court Judges

Kumaraswami Shastri. Ag. Chief Justice in 50 Madras 228 (1927) remarks :—

" Modern research has shown that Jains are not Hindu dissenters, but that Jainism has an origin and history long anterior to Smritis and Srutis and

the commentaries which are authorities on Hindu Law In fact Lord *Mahâvira*, the last Tirthankara was a contemporary of Buddha and died 527 B. C. Jain religion refers to a number of previous Tirthankaras and there can be little doubt that Jainism as a distinct religion was flourishing several centuries before Christ. In fact, Jainism rejects the authority of the Vedas which form the bed-rock of Hinduism and denies the efficacy of the various ceremonies which Hindus consider essential.

So far as Jain law is concerned Jains have their own law book which deal also with Jain Law. There is no ground for applying the Hindu Law as developed by Viñâjneśwar and other commentators written several centuries after Jainism which was a distinct and separate religion with its own religious ceremonial and legal system *en bloc* to Jains

Now let us see what Justice Rangnekar of the Bombay High Court remarks on page 518 I L. R. 1937.

"It is true as later historical researches have shown that Jainism prevailed in this country long before Brahmanism came into existence and it is wrong to think that the Jains were originally Hindus and were subsequently converted into Jains. Now it is settled that Courts should start with the presumption that Hindu law of adoption would not apply to the Jains, and the burden of proving to the contrary would be on the Jains. Whether this state of things requires a change or not is a matter *more* for the *Jains* than for any one else."

Sir D F. Mulla in Chapter XXX of Hindu law says.—

"Jains reject scriptural character of the Vedas and repudiate the Brahmanical doctrines relating to obsequial ceremonies; the performance of the Shrâddhas and the offering of oblations for the salvation of the soul of the deceased. Jains do not believe that a son either by birth or adoption confers spiritual benefit on the father. They differ from the Hindus in their conduct towards the dead, omitting all obsequies after corpse is burnt"

These quotations of eminent and disinterested scholars go to prove the necessity of framing the Jain Code and also its application to the Jains as the spirit of the Jain Scriptures i. e. of Jain Law ever remained quite distinct from that of the Brahmins and others The Jain community is very grateful to the *Jain Seva-Mandal*, Nagpur. The workers of the society especially Mr. Alaspurkar the learned Advocateand the General Secretary of the said Mandal published a useful pamphlet giving weighty opinions on the Draft Hindu Code The Mandal requested the Hindu Law Committee to examine the solemn verdict of jurisprudence, the history of Jainism with up-to-date researches and its ancient tradition and religion. It has rightly observed :—"*To allow the Jains* to be governed by the Hindu Law means destruction of the very fabric of the *Jain theology* and religion

attempt an inroad on Jain religion, history and culture." "Jains should evolve a system of jurisprudence which should be in cardial harmony with the essential theological and moral teachings of Jainism. Jain Law grew out of the inner necessity of the corporate life of the Jains." "Really law is an essential constituent of the whole life of the community. It is a very sure index of the culture of the community. In [illegible] and भगवान जिनसेनकृत महापुराण (Adi Purana) ethical principles namely the Vratas to be observed by the Jain laity i. e. Shravakas are given. It is also linked with the common social maxims and cultural law which govern the corporate existence of the Jains.

Besides Hindu Law is full of conflict of authority. The commentators on Smritis and Srutis strongly differ. The proposition as laid down by the majority of the Full Bench is not to be found in any Text of Hindu Law. Taking all these matters and other defects into consideration it was recently decided to codify Hindu Law. Under these circumstances it is but equitable to frame the Jain Code also. It would be unnecessary to give here the draft of the Jain Code. But I shall show the *legal disabilities of the Jains* under the present system. From the above remarks, it has become abundantly clear that the rules of Vyavahara (व्यवहार) of civil law of Jains relating to marriage, adoption, inheritance, partition, stridhan, funeral and such other ceremonies entirely differ from Smritis and Srutis which were written by the Brahmins and *for the Brahmins* only. *Jains* do not at all recognise the spiritual superiority of the Brahmins, who in their own works remarked that the Jains are not Hindus. While showing the defects of Jainism in पद्मपुराण published by Anandashram series Poona, it is thus remarked :—

पितॄणां तर्पणं नास्ति, नातिथिर्वैश्व दैविकम् ।
कृष्णस्य न तथा पूजा अर्हतां ध्यानमुत्तमम् ।

In the next stanza it is shown that the Jains cannot therefore be the followers of Hinduism. In another Brahmanical work it is said :—

न तर्पणं देवपितृद्विजानाम् । धर्मे कथं पुत्र दिगम्बरानाम् ॥

As the Jains do not give तर्पण to God, parents, and Brahmins as they do not believe neither in the Vedas nor in Srutis and Smritis, how dare you believe such a Jainism son ?" The evidedce of these Brahmanical works show that the Jains are not Hindus and were never treated as such. Jains do not believe the sons confer spiritual benefit on the father. Adoptions by the Jains are purely secular (20 Bombay 516). They also regard the birth of a son as having no effect on the future state of the progenitor, and consequently adoption among them is purely temporal arrangement and has no spiritual object. The son according to Jain Law is powerless to protect his father from hell. The son is helpless to alter or obstruct the course of destiny of his father designed by his own Karmas. Jains do not believe the Brahmanical sūtra

अपुत्रस्य गति र्नास्ति. A Jain can attain Salvation (निर्वाण) by destroying the eight Karmas, though he has no issue at all.

Jainism is the religion of equality, liberty and perfect knowledge and all matters i e. material and spiritual Jain law gives absolute interest to the widow in her husband's property. So also she can adopt without her husband's consent and if childless, she acquires an absolute right and ownership in her husband's separate property The Jain widow has full power of alienation over the non-ancestral property of her husband (See वर्धमाननीति and भद्रबाहुसंहिता stanza 73). According to Hindu Law an orphan cannot be adopted, but among Jains a major boy can give valid consent for his adoption In 87 I. C 1925 All H C Mukerji J remarks. "Among Jains adoption is more a matter of custom than of spiritual necessity and even a married man may be adopted among them" If the adopted son is found to be of bad character or ill treats his parents or gives up Jainism a declaring decree can be obtained not only against the adopted son only but also against the real son (See भद्रबाहुसंहिता 52 to 54 and also अर्हन्नीति 86 to ■)

Agarwal Jains have been held by the H Courts to belong to twice-born classes but according to the ruling of the Privy Council in Lala Rupchand Vs Jamna Prasad, 12 Bom L. R 402 Their Lordships held that custom is proved and on the strength of the custom held —

Among Jains adoption is no religious ceremony and under the Law or custom there is no restriction of age or marriage among them. "It is needless to point out that this is not allowed according to Hindu Law. So also Jains have taken a magnanimous view even in matters relating to widow's property. In Mitter Sen Vs. Dattaram 87 I C 724 = A I R 1926 All 7-, held that the agreement by the adoptee as condition precedent to the adoption to give some property to widow's brother, is binding. But a Hindu widow cannot make the adoption upon the adopted son's agreeing to carry out her directions to make gifts. According to Hindu Law an attempt to bind the adopted son by such conditions must fail and the Hindu son takes the estate free from them. The inequality or disability of the Hindu Law as regards the disposal of her husband's property by the widow has been done away with by the Jain Law. Jain widow's power to alienate her husband's property is not at all restricted But as the Jain Scriptures have never been taken into consideration, nor referred to, the difficulty is that a Jain widow has to prove the custom in the Law Courts Thus Jains had to incur heavy and unnecessary expenses to discharge this proof. Such a custom prevailing among the Jains has been proved in several cases and it has been held in cases from Meerut (1 All. 688), Saharanpur (16 All. 379) and Arrah in the District of Sahabad (27 Cal 379) that amongst Agarwal Jains the widow takes an absolute estate in the self-acquired property of her husband and that she has full power of alienation in respect of such property. (See also 13 Bom. L.

R. 1121.) But in 1880 such a custom was set up by a Jain widow, but the Learned Judge not being aware of the injunctions of the Jain Scriptures on the point held that she could not make a gift of her husband's property and that she has not proved that custom Does it not amount to destruction of the very fabric of the Jain theology, culture and religion? So also according to the Hindu Law the son of a deceased person has the right to perform the anniversary ceremonies (वर्षश्राद्ध) of the deceased It is not only his right but religious duty But there is no such ceremony, nor religious duty among the Jains.

Thus there are in every branch of Hindu Law strong peculiarities of its own, which are not at all prevalent among Jains. Hindu Law varies according as a person concerned is a member of twice-born (द्विज-ब्राह्मण) or of Śūdra class, male or female. Hindu Law is essentially and preminently a law of status. All these peculiarities are absent in Jain Law Hindu Law is applied to Hindus as their personal Law Why then should it be made compulsorily applicable to Jains when the spirit of the Jain Law is quite distinct from the Law of Brahmins and others? Our Jain Law grew out of the inner necessity of our corporate life

Now I shall point out not only the defect in the definition of Hindu, but its ridiculous nature also.

"Hindu is any person who is Hindu by religion" and Hindu by religion means and includes even a dissenter such as Jains however radical his differences from the strict Brahmanism may be. Suffice to comment that no sane person would be satisfied with this state of things and such a far stretched and illogical definition.

Even Bannerji in his Hindu Law at pages 19 and [illegible] severely criticises the application of Hindu Law to Jains. This is objected because rules of Hindu Law particularly those relating to adoption, inheritance etc. bear a strong Brahhmanical character and it is not right or resonable that the persons other than the followers of the strict Brahmanical religion such as, Jains and Lingayats, should be governed by them

It also objected that Jains are not merely dissenters, but they are distinct from Hindu (Hirachand Vs Sonpal I L R. 1939 Bom. 572) All this discussion leads to prove that the Jains have their independent and impartial scriptures, ideal culture, best literature and the Jain law as laid down by the Jain-Acharyas. Admittedly one will have to opine that Jain law is superior to and more magnanimous than Hindu Law in many respects. Will it not be, under these circumstances, unjust, unfair, inequitable and illogical to make the Hindu law, which has its own number of difficulties and deficiencies as has been pointed out by eminent Judges in several cases, applicable to the Jains who are not only dissenters from the Hindus, but whose religion is quite

distinct ftom Hinduism. For want of due recognision of Jain Law there has been transgression of Jain religion and culture.

Jain Shrāwakas (Laity i e. गृहस्थ,) also had to observe five Anuvratas and the Jain Munis five Mahāvratas They are Ahimsa (अहिंसा,) Truth (सत्य). Non stealing (अचौर्य) (ब्रह्मचर्य) celebacy or स्वदारसंतोष and the last परिग्रहप्रमाण to control our greed Out of the five व्रतास I shall say a word about परिग्रहप्रमाण (to observe a limit to movable property) (Note — Sri O R Krishnacharya in 'the cradle of Indian History' remarks :-In the Jain Agamas there is embodied besides Darshan, Puran relating to these. From this tradition we understand that the Lord Rishabha alias Ādi Tīrthankara, Revealer of the Jain illumination is venerated in the Vaishnava Āgama.

The trinity of Nābhirāja, Lord Rishabha and Bharat Chakravarti fraternal status with Uttān-Pādarāya (उत्तानपादराय) the father of the exemplar of Vaishnava devotion Dhruva This proves the historical personage and his antiquity prior to Vedic period

Jain Shrāwak (गृहस्थ) has to put some limitation as regards the ownership and possession of immoveable and moveable property and other things Thus unreasonable and vast accumulation of property is not allowed and it is totally against the spirit of Jainism.

Jains recognise the principle of promogenture and also of Gains of Science i. e. learning. If a Jain eats flesh or fish he is deprived of his share of inheritance. Under the present system Jains have in a course of law first to prove custom and then and then only they have got decrees by proving that usage at the heavy expenditure, time and trouble. Monogamy is acceepted with certain exceptions. The present lamented position of Hindu law being made applicable to Jain has arisen owing to sheer ignorance of the Jain law given or rather kept hidden in the Jain Texts but now Jain law scriptures are available both in Hindi and English and the necessity of codifying Jain law is obvious and just. Besides it is gratifying to note that the Jain Succession Act III of 1927 has been made applicable to the Jains in the Madras Presidency.

It is therefore strongly and rightly claimed that somebody or some Jain M. L. A. should bring a resolution for the adoption of Jain Code and get the same passed in the Legislative Assembly. I shall be glad to undertake the work of codifying the Jain Law based on Jain scriptures and modern customs in codial harmony with the essential theological and moral teaching of Jainism and submit the same for necessary action to any scholar interested in the advancement of Jainology i e. equality.

To summarise, I shall show some points of basic difference :—Adoption succession.

(1) A person having no issue (अपुत्री) is not called sinful

(2) Law of Partition is discussed in Bhadrabahu-Samhita 10-11.

(3) Sister's daughter is given a share in the stridhan property.

(4) Absolute right of Jain widow over her husband's property is recognised.

(5) Jain Muni cannot hold any property.

(6) Adoption It has no religious significance It is merely secular.

(7) No theory of पिंडदान, तर्पण or श्राद्ध for the soul of father and his सद्गति in the next and this world. Salvation does not at all depend upon anybody, except himself

(8) No different schools of succession among Jains as we find in Hindu Law.

(9) Half-blood and full-blood distinction not accepted among Jains.

(10) Monogamy accepted with certain exceptions

To conclude with, I may be allowed to refer to a recent ruling of the Bombay High Court (50 Bom L. R 127) (1948) which is a glaring instance of injustice and defect in the so-called present Hindu Law.

Even Justice Dikshit remarked :— If some of the principles of Hindu Law are not in accord with changing ideas of society, it is for the Legislature to intervene In this case a gift of a small portion of joint property to Shri Jinasenswami Bhattarak i. e Jain Jagad guru of Kolhapur for building hostels for Jain-students studying at Dharwar was held invalid as it does not come within the expression 'for pious purposes' of Hindu Law i. e. as defined in Brahmanical Smritis ond Srutis If Jain Law was prevalent, the case would have decided otherwise. The said gift would have been held *Valid* This decision is an additional ground for the Jains to claim for codifying Jain Law.

'वीर-वन्दना।'

(श्री० वीरेन्द्रकुमार, एम. ए.)

लेकर अनङ्ग-मोहन यौवन, अधरों पर वङ्किम धनु ताने,
नखसिखकी पुष्प-धनुष-डोरी, तुम तोड़ चले वो मस्ताने!
नन्दन-काननमें अप्सरियाँ, बनकमल बिछीं तेरे पथमें;
पर रखका उनको दे पराग, तू लौट चला पावक-रथमें!
वह तीस वर्षका अरुण-तरुण, रतिकी शय्याभी थी प्यासी,
त्रैलोक्य काम-रमणीके परिणयको निकले तुम सन्यासी!!

बाला-यौवन भोली सूरत, भौंहोंमें शत्-उन्थान लिए;
चितवनमें देश काल पर शासन करनेका अभिलाष लिए!
अधरों पर वीतराग ममताकी अनासक्त मुस्कान लिए;
उन अवहेलितसी अलकोंमें शाश्वत यौवनका मान लिए!
फिर मोह-रात्रि भवकी अभेद्य, भेदन करने चल पड़े वीर!
भीषण जड़-चेतन युद्धोंमें, तुम जूझ चले तेरा सुधीर!!

हिंसक पशु-सङ्कुल बीहड़ वन, दुर्गम गंभीर गिरि-घाटीमें;
तुम निर्भय विचरे हिंसा, भय, साक्षात् मृत्युकी घाटीमें!
निर्वसन दिगम्बर, प्रकृति-नग्न, तुम विकृति विजेता क्षात्र आप्त;
पृथ्वी सलज्जा लिपटी थी, उन चरणों पर होके सनाथ!
झाड़ी झंखाड़ वनस्पतियाँ, वल्लरियाँ भरतीं परिरम्भण;
विषधर विभोर हो लिपट रहे, नग्नी अङ्गों पर दे चुम्बन!!

नाना विधि जीव-जन्तु कीड़े, चींटी, दीमक, सब निर्भय मन;
पृथ्वी, जल, अम्बर, तेज, वायु, सब त्रस थावर करतीं' आसन!
तेरी समाधिकी समताके उस वीतराग आलिङ्गनमें;
सब मिलकर एकाकार हुए, निर्बन्धन तेरे बन्धनमें!
कैवल्य-ज्योति आदित्य-पुरुष, जो तपो हिमाचल शुभ्र धवल;
तेरी चरणोंसे वह निकली वह समताकी गङ्गा मृदु निश्छल!!

इस निखिल सृष्टिके अणु-अणुके सङ्घर्ष, विषमता औ' विरोध;
कल्याण-सरितमें डूब चले, होगया, वैर आमूल शोध!
तेरे पद-नखके निर्झर तट, सब सिंह भैंसने, मृगशावक;
पीते थे पानी एक साथ, तेरी छायामें हो रक्षक!
जिन-चक्रवर्ति, प्राणों-सत्त्वों पर हुआ तुम्हारा नव-शासन;
तीनों कालों, तीनों लोकों पर बिछा तुम्हारा सिंहासन!!

प्राचीन हिंदी गद्यका अभाव : उसके कारण।

(श्री. प्रेमनारायणजी टंडन, एम. ए. साहित्यरत्न, लखनऊ)

हिंदीमें साहित्य-रचना ईसाकी आठवीं शताब्दीमें होने लगी थी। परन्तु उस कालके पद्य-कृतियोंकी ही प्रधानता रही, क्योंकि इस प्रकारकी रचनाओंके प्रकारका उद्गम संस्कृत और प्राकृत का उन्नत साहित्य था।[१] वस्तुतः गद्य और पद्यकी प्रारंभिक भाषामें अंतर रहता है। गद्यकी भाषा बोलचालकी होती है, परन्तु पद्यकी कुछ न कुछ साहित्यिक रूप लिए हुए। अतः गद्यकी भाषा पद्यकी अपेक्षा जनसाधारण की भाषाके अधिक निकट रहती है। यह इसलिए कि कवियोंको परंपरागत साहित्यकी शिक्षा मिलती है और स्वयं रचना करते समयवो वे अपनी भाषाको संस्कृत और परिमार्जित करनेके प्रयत्नमें लग जाते हैं।

अतएव जिस प्रकार संस्कृत गद्यकी उत्पत्तिका काल निश्चित नहीं है,[२] उसी प्रकार हिंदी गद्यमें रचना किस समयसे आरंभ हुई, यह कहना हमारे आलोचकोंके लिए कठिन रहा है।[३] हमारे साहित्यके प्रारंभिक इतिहासकार[४] चौदहवीं शताब्दीसे कुछ पूर्व गद्यका अविर्भाव मानते थे, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दीमें ही गद्यके दर्शन पहली बार करनेवालोंकी अब भी कमी नहीं है।[५] वर्तमान इतिहास लेखकोंमें जो चौदहवीं शताब्दीसे नीचे उतरे हैं, उन्होंने[६] बारहवीं सदीमें प्राप्त पट्टे—परवानों को, जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, प्राचीन हिंदी गद्यके प्राप्त नमूने मान लिया है। इसके पूर्वकी गद्य रचनाओंका पता अभी तक हिंदी संसारको नहीं लगा है।[७] इससे यह निष्कर्ष निकालना कि विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके पहले गद्यमें ग्रन्थ लिखे ही नहीं गये, उचित

---

१. 'हिंदी पर प्राकृत भाषाओंका प्रभाव' शीर्षक लेख (ना. प्र. पत्रिकामें प्रकाशित; लेखक—मनमोहन शर्मा)।

२. पृष्ठ-२०१, 'संस्कृत साहित्यकी रूपरेखा'—चन्द्रशेखर पांडेय और शान्तिकुमार नानूराम व्यास – १९४५।

३. पृष्ठ-१९९, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुंदरदास।

४. पृष्ठ-X 'प्रिफेस'—'Our prose can be traced back to the 14th century and even earlier,'—'मिश्रबंधु विनोद,' प्रथम भाग (प्रथम संस्करण)।

५. पृष्ठ-८८, 'फुटनोट'—'Vernacular prose appears first in the nineteenth century'—'Classical Sanskrit Literature'—A. Berriedale Keith, 1923.

६. पृष्ठ-६२८, 'हिंदी भाषा और उसके साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

७. गोरखनाथके गद्यकी चर्चा हम यहाँ नहीं करते हैं—लेखक।

नहीं जान पड़ता और न यह कहना[8] ही ठीक है कि देश की अस्थिर और अशांत तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिके कारण संभवतः साहित्यिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ ही न होगा।

किसी देश अथवा कालमें सब प्रकारके भावोंको व्यक्त करनेकी शक्ति रखनेवाली एक साहित्यिक भाषाके वर्तमान रहने पर, जनताकी बोलचालकी भाषाका स्वतः विकास होना ही यह सिद्ध करता है कि समयको उसकी आवश्यकता थी। दूसरी बात यह कि तत्कालीन अशांत वातावरण कुछ स्थानोंमें और कुछ समय तक किसी प्रकारकी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक उन्नतिके सामूहिक प्रयत्नके अनुकूल भले ही न रहा हो, परन्तु साहित्य, विद्या अथवा कलाके प्रति व्यक्तिगत रुचि पर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है। तीसरे काव्य रचनाके लिए अपनाई जाने पर जो भाषा भावाभिव्यंजनकी शक्ति प्राप्त कर लेती है, उसमें गद्य लिखनेमें विशेष कठिनाई नहीं होती। संस्कृत ग्रंथोंका, जिनमें ऐसात्वका अभाव है, अनुवाद करनेके लिए प्राचीन गद्यकी उपयुक्तताका समर्थन भी इसी आधार पर किया गया है।[9] अतएव हमारी धारणा है कि चौदहवीं शताब्दीके पूर्व[10] हिंदी गद्य लिखा कम नहीं गया, आज हमें प्राप्त नहीं है। या तो वह अनेक कारणोंसे नष्ट हो गया, या आज भी अन्धकारमें है; प्रकाशमें नहीं आ सका।

इस सबधमें एक निवेदन और है। सन ६५० से १२५० के आसपास तकके काव्यविकास का ही जब पूर्ण परिचय नहीं मिलता तब गद्यकी प्रगति का विवरण प्राप्त न होनेपर निराश होनेकी बात नहीं है। इस कालके जिन कवियोंके परिचय प्राप्त [illegible] हैं वे राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रांत, उड़ीसा, बिहार, और आसाम आदि प्रांतोंके हैं।[11] इससे स्पष्ट है कि इतने समयमें हिंदीका प्रचार इन सभी प्रांतोंमें हो गया था और उज्जैन, श्रावस्ती तथा नालंदा आदि स्थानोंमें विद्या और धर्मके केंद्र थे। शिक्षा और धर्म-प्रचारके लिए गद्यकी आवश्यकता होती ही है। अतएव इन स्थानोंमें गद्य-रचना होनाभी संभव है, यद्यपि गद्य ग्रंथोंकी संख्या पद्यसे कम ही रही होगी।

एक बात और। संस्कृतकी प्रारंभिक गद्य-रचनाओंके उपलब्ध न होनेका एक कारण उसके एक साहित्यिक इतिहासकारने[12] यह बताया है कि दंडी, सुबंधु और बाणके अत्यंत उन्नत गद्यके

---

८. पृष्ठ-२७१, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।

९. पृष्ठ-८४३,...yet on account of the high development which our (Bengali) language had already attained through its vast poetical literature, there would be no difficulty experienced by an author in attempting translation into Bengali prose the most abstruse and metaphysical of Sanskrit works — 'हिस्ट्री आव बंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर'—दिनेशचन्द्र सेन, १९१२.

१० पृष्ठ-१०, Nothing illustrates more clearly the defects in our tradition than the absence of any early specimen of the prose romance.— 'Classical Sanskrit Literature'—A Berriedale Keith, 1923.

११. पृष्ठ-१२२, 'मिश्रबंधु-विनोद', प्रथम भाग।

१२. पृष्ठ-२०८, 'संस्कृत साहित्यकी रूपरेखा'—चंद्रशेखर पांडेय और शांतिकुमार नानूराम व्यास, १९४५.

प्रभावने अपने पूर्ववर्ती लेखकोंको भलीभाँति आच्छादित कर दिया। इस कथनके सत्यासत्यकी विवेचनाके लिएही यह स्थान उपयुक्त नहीं है, परंतु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि प्राचीन हिंदी हिंदीके संबंधमें, परिवर्तित परिस्थितिके कारण, यह कथन विशेष महत्व का नहीं है। अस्तु। हिंदी गद्यके अभावके निम्न लिखित कारण बताए गए हैं —

(क) हिंदू राजत्वकालमें पाली और प्राकृतका विकास होने पर भी संस्कृतका पर्याप्त प्रचार और मान था, जिससे नवविकसित हिंदीके साहित्यिकारों को साहित्य-रचनाके लिए ससम्मान यथोचित सुविधाएँ प्राप्त न हो सकीं।[१३] यही नहीं, इसी कारण तत्कालीन हिंदी गद्यके उपेक्षित प्रयोक्ता अभी तक पता नहीं लग सका है।[१४]

(ख) हिंदीके प्रादुर्भावके समय हिंदुओंके जीवनका क्षेत्र संकुचित हो गया था। वे उन दशाओंकी ओर ध्यान ही न दे सके थे जो गद्यके स्वतंत्र विकासमें सहायक होती हैं।[१५]

(ग) साहित्यके प्रचार-संबंधी साधन उस समय सुलभ न थे। राजा महाराजाओंके आश्रयसे हिंदी पहले ही वंचित थी, प्रचार साधनोंके अभावने जनताका भी पूर्ण सहयोग उसे न प्राप्त होने दिया। यहाँ तक कि गद्यमें लिखी कथा-कहानियाँ भी अधिक प्रचलित न हो सकीं। निःसंदेह प्रचार साधनकी सुलभता गद्यके विकासमें बड़ी सहायक होती है।[१६]

(घ) हिंदी भाषा भाषी प्रदेशीय शासकोंने उसके पठन-पाठनके लिए ऐसे विद्यालय नहीं स्थापित किये जिनमें साहित्यिक आलोचना प्रत्यालोचना द्वारा गद्यकी उन्नतिके लिए प्रयत्न किया जाता।[१७]

(ङ) उक्त सभी कारण एक प्रकारसे गौण थे, कारण, उनका प्रभाव गद्य और पद्य दोनो प्रकार की रचनाओं पर पड़ना चाहिए था और पड़ा भी। अत. गद्यके अभावका प्रधान कारण साहित्यकारों की वह संकुचित मनोवृत्ति थी जो केवल पद्य रचनाके लिए ही उन्हें प्रेरित करती थी और इतनेसेही पूर्ण संतुष्ट भी हो जाने देती थी।[१८] इसी संकुचित दृष्टिकोणने ही स्वान्तःसुखाय साहित्य रचनामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तियोंको भी गद्यका उपेक्षक बना दिया और इसी मनोवृत्तिने अधिकांश शासकोंमें भी गद्यके प्रति विशेष आकर्षण न रहने दिया।

---

१३. पृष्ट–६२६, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१४. पृष्ट–१५१, ना. प्र. पत्रिका, भाग ५, में प्रकाशित राधाकृष्णदासका लेख।

१५. पृष्ट–६२६, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१६. पृष्ट–८३१, 'History of Bengali Language and Literature में Dinesh Chand Sen ने बँगला गद्यकी वर्तमान उन्नतिके अनेक कारणोंमेंसे एक प्रचार साधनकी सुलभताकोभी माना है।

१७. पृष्ट–६२१, 'हिंदी भाषा और साहित्यका विकास'—अयोध्यासिंह उपाध्याय।

१८. पृष्ट–४, 'The Tenth Report on the Search of Hindi MSS for the year 1917-18-19 के, संपादक रायबहादुर हीरालालने लिखा है—In older days a writer was nothing if he could not write in verse

उक्त कारणोंसे चौदहवीं शताब्दीके पूर्व हिंदीमें गद्यके कम ग्रंथ लिखे गए। जिन गद्य-ग्रंथोंकी रचना हुई थी, वे आज प्राप्त नहीं हैं और न उनके रचयिताओंके संबंधमें ही हमारी जानकारी संतोषजनक है। वास्तवमें हमारे यहाँका आचार-विचार कुछ ऐसा रहा है कि कवियों और लेखकोंने अपने संबंधमें कुछ कहना, अपना विज्ञापन करना, कभी अच्छा नहीं समझा, वे अपने संबंधमें प्रायः मौनही रहे। अपने संबंधमें उनकी यह नम्रता अथवा लौकिक प्रसिद्धिके प्रति उनकी यह उदासीनता-इसके ये दो प्रधान कारण थे। फल यह हुआ कि अँग्रेजी साहित्यके इतिहासकारोंको ही अपने प्रथम कवि चासर (मृत्यु सन १४००) के जीवन वृत्तको लेकर यह कहते गर्व होता है कि उनके संबंधमें हमारी जानकारी शेक्सपिअरसे भी अधिक है [१९] और हमें अपने सौ-सवासौ वर्ष पहलेके लेखकों और कवियोंका वृत्त भी ज्ञात नहीं है।

अँग्रेजी गद्य धर्मप्रचारकों का सहारा पाकर बढ़ा और मठों-गिरिजाओंमें सुरक्षित भी रहा। यहाँ तक कि दसवीं शताब्दीके मध्य धार्मिक ग्रंथ-उपदेशोंमें प्राचीन बँगला गद्यकी तरह[२०] पद्यके अनुरूप संगीतमय गति मिलती है।[२१] हिंदी गद्यको भी साहित्यके प्रथम विकास-कालमें धर्मप्रचारकोंका आश्रय मिला। धार्मिक उपदेशों और शास्त्रार्थोंके लिए विभिन्न सांप्रदायिक संस्थापकों और प्रचारकोंमें से कुछने उसे अपनाया। निस्संदेह उनकी अनेक रचनाएँ गद्यमें हुँगी। परंतु वे बहुत काल तक दो कारणोंसे सुरक्षित न रह सकीं। एक तो यह कि उनका पारस्परिक विरोध और संघर्ष बहुत बढ़ा-चढ़ा था जो विपक्षीको नीचा दिखलानेके लिए, उसका अधिकाधिक अहित करनेको उन्हें प्रेरित करता रहता था। दूसरे विधर्मी आक्रमण कारियोंकी क्रूर दृष्टि कई शताब्दियों तक प्रमुख भारतीय धर्म-स्थानों पर ही जमी-रही जिन्हें विनष्ट करके ही वे शांतिकी साँस लेते थे।

गद्यके प्राचीन ग्रंथोंके उपलब्ध न होनेका तीसरा कारण यह है कि सन् १००० से १५०० तक, लगभग ५०० वर्षोंमें विदेशीयोंने भारत पर आक्रमण करके सहस्रोंकी संख्यामें हस्तलिखित ग्रन्थ नष्ट कर दिए। मठ, मंदिर, विहार आदि उपासनागृह और राजकीय पुस्तकालय, दो ही प्रमुख स्थानोंमें उस समय महत्त्वपूर्ण ग्रंथ संगृहीत रहते थे और मुसलमान आक्रमणकारियोंने दोनोंको ही खूब लूटा और फूँक दिया। इसके प्रमाणमें उदयपुर राजद्वारा संस्थापित और संरक्षित सरस्वती भांडार-पुस्तकालयकी ग्रंथ-सूचीके संपादकका कथन दिया जा सकता है।[२२] भारतके इस प्राचीन

---

१९. पृष्ठ-१८, 'History of English Literature'—Andrew Lang-1913.

२०. पृष्ठ-८३३, '...like short riddles and sound more like poetry than prose'—'History of Bengali Language and Literature'— Dinesh Chand Sen

२१. पृष्ठ-३३, 'History of English Literature'—Andrew Lang-1913

२२. पृ. ५ 'प्राक्कथन'.. 'Most of the original contents of the Saraswati Bhandāra Library in Udaipur (one of the oldest library, perhaps the oldest in India) were lost during the ravages carried on by Muslim Kings in this part of country'—'Catalogue of the MSS in the Library of H H the Mahārānā of Udaipur'—by M. L. Menaria—1943

पुस्तकालयमें एकत्र बहुत कुछ साहित्यिक निधि विदेशियोंने नष्ट कर दी। जब वीर राजपूतोंके देशमें स्थित उक्त पुस्तकालयकी यह दशा हुई तब उत्तरभारतके उन स्थानोंकी साहित्यिक संस्थाओंको पहुँचाई जानेवाली क्षतिका अनुमान सहजही किया जा सकता है जो आक्रमणकारियोंके मार्गमें पड़ते थे अथवा जहाँ बसकर उन्होंने हिंदुओंको ■ तरहसे दबाया था। इन आक्रमणोंके फलस्वरूप संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी की असीम ग्रंथ-राशि नष्ट हो गई। ■ मानवीय आपत्तिसे ऐसे ही ग्रंथ बच सके जो उन निजी, धर्मस्थानिय, सार्वजनिक अथवा राजकीय पुस्तकालयोंमें सुरक्षित थे जहाँ तक आक्रमणकारियोंकी पहुँच आसानीसे नहीं हो सकी।

बचे-बचाए गद्य (और पद्य) ग्रंथो की खोज का कार्य और प्राकृत ग्रंथोंका उपयोग बहुत समयसे हो रहा है; परन्तु इससे हिंदीके इतिहासकार संतुष्ट नहीं हैं। क्योंकि न अभी तक उसके आधार पर हिंदीके उत्पत्तिकाल पता लग सका है और न उसके प्रारंभिक रूपका ही निश्चय हो सका है। इस प्रसंगमें अनुसंधान-कार्य-क्षेत्रके संबंधमें एक निवेदन करना है। राजपूतानेको छोड़कर उत्तरी भारतका समस्त प्रदेश दसवींसे पंद्रहवीं शताब्दी तक, जैसा ऊपर कहाजा चुका है, युद्धक्षेत्र बना रहा जहाँ एकके बाद दूसरे नये आक्रमणकारोंने देशकी शांति भंगकी, जनताको तलवारके घार उतारा, साहित्य और शिक्षा-केंद्रोंको नष्ट-भ्रष्ट किया और धर्मस्थानोंको खँडहर बना दिया। अतएव मथुरा, वृंदावन, इलाहाबाद, बनारस जैसे हिंदू संस्कृतिके गढ़ोंको छोड़कर सभी स्थानोंकी साहित्यिक निधि बहुत कुछ नष्ट हो गई। इस आपत्तिसे बची-बचाइ सामग्रीका रक्षण करनेके लिए भक्तों आचार्यों और कवियोंने राजस्थानके इन हिंदू राजाओंका शरण ली जो मुगलकालमें ही नहीं, अँग्रेजी साम्राज्य स्थापित हो जानेके अवसमें अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक स्वतंत्रताकी रक्षा करनेमें बहुत-कुछ समर्थ हो सके।

परन्तु हिंदीके हस्तलिखित ग्रन्थोंका खोजकार्य इन सुरक्षित स्थानोंमें कम, उत्तरी भारत-विशेष कर युक्त प्रांत-के उस प्रदेशमें अधिक हुआ जो हिंदी-साहित्यका जन्म होनेके लगभग ९०० वर्ष तक अरक्षित, अशांत और युद्धक्षेत्र रहा। यही कारण है कि जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है वह प्रायः सोलहवीं शताब्दीके बादकी है। इनके पूर्वकी चार-पाँच शताब्दियोंमें रचे गए ग्रन्थोंके लिए राजस्थानके व्यक्तिगत, सार्वजनिक और राजकीय, छोटे-बड़े सभी पुस्तकालयोंकी खोज होनी चाहिए। डाक्टर श्यामसुंदरदासजीका, जो खोजकार्यके प्रथम नौ वर्षों तक निरीक्षक रहे थे, यही मत[२४] है कि यदि राजपूतानेमें प्राचीन हिंदी पुस्तकोंकी खोजका काम व्यवस्थित रूपसे किया जाय तो, संभव है, बहुत-कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो। अब तक रजवाड़ोंके हिंदू शासकोंकी रुचि अपने यहाँ सुरक्षित प्राचीन साहित्यिक निधिके उद्धारकी ओर नहीं रही; परन्तु स्वतंत्र भारतमें वे अपनी सनातन सांस्कृतिक उन्नतिकी पुनरावृत्तिके लिए वे प्रयत्नशील होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

---

२३. पृष्ट-२७८, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।
२४. पृष्ट-२७१, 'हिंदी भाषा और साहित्य'—श्यामसुन्दरदास।

भगवान् महावीर ।

(रचयिता ' शायर-इ-कायनात ' श्री पं० रामकृष्ण मुज्तर, ककोड़वी)

[मुज्तर सा० का उर्दूके उदीयमान कवियोंमें उच्च स्थान है। यह नज्म आपने विशेष रूपसे हमारे आग्रह पर रची है। पाठक देखें कि किस खूबीसे उन्होंने भ० महावीरकी शिक्षाओंको लोकके लिये कल्याणकारी बताया है। —सं०]

१

क्या तुम्हें राज[1] यह मालूम है दुनियावालो ?
किसने इन्सानको मुक्तिकी दिखाई राहें ?
और दुनियाके अंधेरेमें किया किसने प्रकाश ?
किससे पुरनूर[2] हुईं दहरकी ज़ुल्मतगाहें[3] ?

२

किसने हस्तीको दिया पहिले अहिंसाका सबक ?
किसकी शिक्षासे हुये यज्ञके दिलको दर्शन ?
किसने समझाये हरएक जीवको जीवनसिद्धान्त ?
किसने कुर्बान[4] सचाई पे किया तन मन धन ?

३

आत्मा कहती है, " भगवान महावीर थे वह ! "
जिनकी तालीमसे[5] अज्ञान मिटा, ज्ञान हुआ !
जिनकी दृष्टिको नज़र आई बकाकी मंज़िल,[6]
जिनकी शक्तिसे कठिन मार्गभी आसान हुआ ! !

४

वीरने प्रेम-ओ अहिंसाको बताया है सवाब,[7]
वीरने नफरत[8]-ओ-हिंसाको बताया है गुनाह.[9]
वीरने भेद हकीकतके[10] बताये सबको,
वीरने सबसे कहा, ' पाक करो कल्बो निगाह.'[11]

५

अबही हो सकती है दुनियाकी तरक्की[12] ' मुज्तर ' ।
देश हर एक बढ़े आगे लिये सत्यका भेष ।
प्राप्त होता है अहिंसाहीसे सच्चा आनन्द,
सारे संसारको है वीरका यही उपदेश ! !

---

१. रहस्य. २. प्रकाशमान. ३. ज़मानेका अंधकारमय वातावरण. ४. न्यौछावर या बलिदान.
५. शिक्षा. ६. निर्वाण भूमि. ७. पुन्य. ८. घृणा या द्वेष. ९. पाप.
१०. परमात्माका रहस्य. ११. हृदय और दृष्टि. १२. उन्नति.

अहिंसा और विश्वशान्ति।

" सत्यका प्रकाश और अहिंसाका संरक्षण विश्वशान्तिका पुण्य-पथ है। "

AHIMSA AND WORLD-PEACE.

अहिंसा और विश्वशान्ति पर माननीय गवरनर महोदय सी. पी. के विचार।

गवर्मेंट हाउस
नागपूर
ता. ९-७-४८

महात्मा गांधी जो आधुनिक युग के अहिंसाके सबसे बडे दूत थे सदा कहते थे कि अहिंसा धर्मका प्रचार सत्य धर्मके प्रचारके साथही साथ होना चाहिये। उनका विश्वास था और उनकी शिक्षाभी यही थी कि सत्य और अहिंसा दोनो अभिन्न हैं। एकके सिवा दूसरेका विशेष उपयोग नहीं है। अहिंसा धर्मका प्रचार इस समय सारी दुनियाके लिये और विशेष कर हिंदुस्थानके लिये बडे महत्व का है। सपूर्ण मानव समाज और खासकर दुनियाके अत्यंत बलवान राष्ट्र जैसे अमेरिका और रूस यदि इस तत्वको ग्रहण नहीं करते और इसे उपयोगमें नहीं लाते तो कई लोगोंको यह साफ साफ दिखाई दे रहा है कि मानव समाजका नाश होनेमें देर नहीं है। ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि और दूर दृष्टी दी है और यदि मनुष्य इन गुणोंका योग्य समयपर उपयोग करे तो प्रचंड नाश टल सकता है। प्रश्न यही है कि क्या मनुष्य खुद होकर अपनी अकल काममें लावेगा और अपना कदम पीछे ले लेगा या अपने इसी रास्तेसे चलकर अपना नाश कर लेगा। यदि सत्य और अहिंसाको कार्यशाली करना है तो लोगोंको अपना चारित्र्य बलवान् बनाना चाहिये। युद्धमें जान मालका नुकसान बहुत भारी होता है परतु चारित्र्यका और भी अधिक। जान मालका नुकसान पूरा किया जा सकता है लेकिन बिगडे हुए चारित्र्य को फिर बनाना मुश्किल है। इसलिये यदि आज दुनियाके राष्ट्र, खास-कर वे राष्ट्र जो संहारके शस्त्रोंसे युक्त हैं, सत्य और अहिंसाको अपना ध्येय मानते हैं और उसकी पूर्तिके लिये पूरी पूरी कोशीश करते हैं तो मानव जाति निश्चय सुखी होगी, अन्यथा नाश अनिवार्य है।

—मंगळदास पकवासा।

ओ वर्द्धमान !

(श्री० सुरेन्द्रसागरजी जैन, 'प्रचंडिया' साहित्यभूषण, कुरावली)

मानवताके ओ अलंकार ! वसुधाके चिर अक्षय विराम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

प्रकटे तुम भू पर लेकरके दानवताका संहार सुखद,
फिरसे इस जगतीमें लाए मानवताका शृंगार सुखद,
अकरुण, निर्दय जगमें लाए करुणाका पारावार अगम,
आवर्तित करने इस जगको लाए नवीन संसार सुगम,
तुम महामनस्वी युग नेता, युग निर्माता अतिशय ललाम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

जर्जरित अकिंचन मानवको, एकाकी तुम कल्याण बने,
अत्याचारोंसे दली-भरी निष्प्राण धराको प्राण बने,
छेरही सभ्यता श्वासें जो अन्तिम, उसको पतिमान बने,
युगयुगकी शापित जगतीको चमकीले तुम वरदान बने,
अज्ञान-अंधेरी हुयी दूर, सविता बन चमके ज्ञान-धाम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु शतशत प्रणाम ! !

तुमने अंगारे चूम चूम जगतीका ताप किया शीतल,
तुमने उद्बोधन दे देकर यह जगत जगाया प्रति पलपल,
तुमने मदिराके चषकोंमें सद्ज्ञान-सुधाको भरवाया,
तुमने संतोषित किया उसे जो पास तुम्हारेभी आया,
तुमसे यह वाणी सज्जित हुयी, हो गया मुदित शुभ ग्राम-ग्राम !
ओ वर्द्धमान, पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

अपरिग्रह, सत्य, अहिंसासे प्यासी दुनियाँको सींच दिया,
अज-मनुज-मेध, अश्व-वाघको तो, हिंसाको तुमने दूर किया,
फूटीं नव संस्कृतिकी किसलय मलय सुदुलारिक धर्म लिए,
आनन्दित जगतीका कण कण हो गया विस्मृत मर्म लिए,
तुम हृदय हृदयमें बसे, बने-जगके हृदयेश्वर कोटि याम !
ओ वर्द्धमान ! पतितोद्धारक, ज्योतिर्मय, विभु ! शतशत प्रणाम ! !

लो, आज परिस्थिति ठीक नहीं, संघर्ष, दैन्य, शोषण, छलबल,
सम्पत्ता सभ्यता मिटी सकल परिव्याप्त चहुँ दिशि है हलचल,
अतएव चीखती 'वैशाली' मेरे लिच्छिवि भगवान कहाँ ?
कण कण वसुधाका बोल रहा करुणाके अहो निधान कहाँ ?
कितनीही मौन पुकारें हैं बन जुला रहीं प्रति दिवस-याम-
" ओ मानवताके अलंकार, वसुधाके चिर अक्षय विराम ! "
" ओ वर्द्धमान ! आओ आओ, ज्योतिर्मय विभु ! शतशत प्रणाम ! "

भगवानके अहिंसा धर्ममें अशान्ति मेंटनेकी शक्ति।*

(ले० श्रीमान् स्व० चम्पतरायजी जैन, विद्यावारिधि, बैरिस्टर एट-लॉ)

गत महासमरके समय दुनिया महासंकटमें थी, यह हम लोग भूल नहीं सकते। कहते थे कि वह समर शान्तिकी स्थापनाके लिये लड़ा गया है। किन्तु उस भयानक युद्धको समाप्त हुये इतना समय हो गया, पर शान्ति कहीं भी नहीं दिखती! प्रत्युत आजका वातावरणभी शान्तिके उतनाही विरुद्ध है जितनाकि महासमरके समयमें था। विश्व पुराने मन्तव्यों पर डटा हुआ है—वही पशु-बलकी वृद्धि करने और सबकुछ खुद हड़प जानेकी धुन सवार है। वही राष्ट्रीय प्रतियोगिताका संघर्ष परस्पर चल रहा है, जिसके कारण दुनिया छोटे छोटे समर शिविरोंमें पलट गई है। इससे मौका आते ही सारे संसारमें आग लग सकती है! अब भी बलवान राष्ट्र कमजोर राष्ट्रोंके साथ पहलेही जैसा बर्ताव करते हैं। बड़े २ राष्ट्रोंके नेताओंके दृष्टिकोणमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है—सैनिक शक्तिको बढ़ाने और जनसंहारक शस्त्रास्त्रोंको संग्रह करनेमें कोई कमी नहीं हुई है। साराशतः यदि यह मानामा जावे कि गतयुद्ध शान्तिस्थापनाके लिए लड़े गये थे तो कहना होगा कि वे असफल रहे! आज हमारे राजनैतिक जीवनमें अविश्वास मुख्य स्थान लिये हुये है, जिसका बुरा परिणाम युद्ध हो सकता है। राजनैतिक वायदे पश्चिमके राष्ट्रोंमें सचाई और ईमानदारीसे नहीं किये जाते, बल्कि राष्ट्रोंके निजी सुभीते और काम ही उनमें मुख्य कारण होते हैं। सचमुच ये राजनैतिक नेता इन चालबाजियोंसे सदा बिज्ञ रहते हैं और जानते हैं कि जिन सन्धियोंको वे अपने हस्ताक्षरोंसे सुशोभित करते हैं वह केवल रद्दीके टुकड़ोंसे बढ़कर कुछ नहीं हैं। इस दशामें क्या यह सम्भव है कि स्थायी शान्तिका साम्राज्य 'लीग ऑव नेशन्स" (अब यू० एन० ओ०) अथवा 'फैलोशिप ऑफ् रिकन्सीलेशन' नामक सभाओंद्वारा स्थापित किया जा सकेगा? मैं कहूंगा, कदापि नहीं।

मैं परिणामवादी (Pessimist) किसी हालतमें नहीं बनना चाहता; किन्तु इस बात की ओरसे आँखें मींचेभी कोई नहीं रह सकता कि हमारे राजनैतिक उद्देश्य व सिद्धान्त शान्तिविधानके सर्वथा विरुद्ध हैं। अतः उनसे कांटोंके बिछौने और आसुओंकी नदिया हमेशा बहेगी। पहले मानवोंके हृदयोंको बदलना जरूरी है। यह हृदय परिवर्तन सामूहिक रूपमें होना चाहिये। कुछ इनेगिने भले आदमी अशान्ति फैलानेवाले दम्भी पुरुषोंसे भरी दुनियामें कुछ नहीं कर सकते। शान्ति-प्रिय मानव इस जीवनको आजकलके मानवोंसे नितान्त भिन्नरूपमें देखता है। आज तो प्रायः सबका यह उद्देश है कि धन कमाओ और मौज उड़ाओ (Acquisition and fashion) यही प्रत्येक

---

* स्व० बैरिस्टर सा०ने इस विषयका एक भाषण फ्रांसके नीस नामक नगरमें सन १९२६ में दिया था, किन्तु वह आजभी इतनाही उपयोगी है। अतः उसका हिन्दी भावानुवाद यहां दे रहे हैं।—का. प्र.

मानव हृदयमें घुसा हुआ है। जबकि शान्ति स्थापनाके लिये इसके विरुद्ध "जीवित रहने' और दूसरोंको जीवित रहने-देने" (To live and to let live) की उग्र भावना जाग्रत करनेकी आवश्यकता है। दूसरे शब्दोंमें जो मानव संसारमें शान्तिका साम्राज्य देखना चाहते हैं उनको सबसे पहले मानव हृदय तक अपनी पैठ कर लेना आवश्यक है और उसमें लाभाकांक्षा अथवा फैशनके स्थानपर दूर और पासके पड़ोसीके प्रति प्रेमभाव एवं प्रत्येक जीवित प्राणिके लिये आदर और स्नेहका स्रोत बढ़ाना आवश्यक है। क्योंकि जबतक मानव प्रत्येक प्राणिके जीवनका आदर नहीं करेंगे, तबतक यह संभव नहीं कि वह अपने पड़ोसीसे प्रेमव्यवहार कर सके।

यदि मानव समस्त प्राणियोंको आदर-दृष्टीसे नहीं देखेगा, तो वह किसीभी प्राणी का आदर करही नहीं सकेगा। अलबत्ता जब उसका कुछ मतलब सधता होगा तो वह अवश्य दूसरेके प्रति भलमनसीका बर्ताव करेगा। जरा पशुसंसारको देखिये। उसमें अशान्ति उन्हीं पशुओंके कारण उत्पन्न होती है, जो अपने साथी पशुओंका शिकार करते और उनको निगल जाते हैं। शाकभोजी पशुओंमें यह अशान्ति देखनेको भी नहीं मिलती। हिरन, गाय, कबूतर, किसीको कष्ट नहीं देते—कष्ट पहुंचानेवाले तो भेड़िया, चीता बाज वगैरह हैं जो हमेशा मारकाट और अशान्ति बढ़ानेमें लगे रहते हैं। यह नियम सर्वथा सर्वत्र लागू है।

अब प्रश्न यह है कि मानवका हृदय-परिवर्तन कैसे किया जावे? बाइबिलकी ठीक शिक्षा है कि 'अपने पड़ोसी पर वैसेही प्यार कर जैसे तू अपने पर करता है।' (Love thine neighbour ■ thyself) किन्तु इस शिक्षाका प्रभाव लोकजीवन पर नहीं पड़ा। इसके दो कारण हैं: (१) ईसाई लोगका विश्वास है कि बाइबिल केवल मानवोंके प्राणोंका आदर करनेका उपदेश देती है—उसका प्रेमसिद्धांत प्रत्येक प्राणिसे लागू नहीं। पशु तो मानव भोजनके लिए बने समझ लिए गए हैं। इसी कारण साधारण मानव जीवनकी इस पवित्रतासे वाकिफ और प्रभावित नहीं हुआ। दूसरे आजकल विचारस्वातंत्र्य अपने चरमसीमा पर पहुंचा हुआ है, जिसके साथ मानवपर उन आज्ञाओं और प्रथाओंका प्रभाव नहीं पड़ सकता जो तर्कसिद्ध न हों। इसीलिये कोई दूसरा गाल तमाचेके लिये पेश नहीं करता, और न कोटके दावेके जवाबमें कोट व जवाकेटको बढ़ा देता है। बाइबिल एवं अन्य धर्मोके ग्रंथ असंस्कृत भाषामें होनेके कारण बिना समझाये ठीकसे नहीं समझे जाते।

अतः जैनधर्मके अनुसार प्रेमसिद्धान्त – अहिंसाका वैज्ञानिक परिचय जानना जरूरी है। उसका परिचय मानवको अपने साथियोंके साथ शान्तिपूर्वक रहना सिखा देगा। भारतवर्षमें हम अहिंसावादी लोग अज्ञातकालसे शान्तिपूर्वक रहे थे किन्तु पाश्चात्य राष्ट्र और संस्कृतिके आक्रमणके कारण हमारीभी शान्ति भङ्ग कर दी गई है। भारतीय जनताभी प्रेमसिद्धान्तकी अवज्ञा करने लगी और शक्तिहीन होगई। विरोधियोंका सामना करनेका बल और संगठन उसमें न रहा। जैनधर्म युद्धके सर्वथा विरुद्ध नहीं है। जैनमत केवल आत्मरक्षाको छोड़कर शेष सब दशाओंमें उसका निषेध करता है। यदि आप पर कोई आक्रमण करे तो आपको अवश्य अपनी रक्षा करनेका अधिकार है। किंतु आपको स्वयं किसी शान्तिमय व्यक्ति या राष्ट्रपर आक्रमण करनेकी चेष्टा नहीं करना चाहिये।

अहिंसा सिद्धान्तके विचारमें यह ध्यान रखनेकी बात है कि प्रत्येक कार्यका प्रभाव कर्ता और जिसके प्रति कार्य किया गया है, उसके ऊपर समान रूपसे पड़ता है। सम्भव है कि उस कार्यके प्रभावसे लक्ष्यगत रक्ष्य व्यक्ति तो बच जावे, परन्तु कर्ता नहीं बचता। अपनी बात उसे दृष्टि कम पड़ती है। होता यह है कि जहां एक कार्य मन-वचन-कायसे किया कि सूक्ष्म पुद्गल (matter) आत्मामें आकर चिपट गया। यह पुद्गल आत्माके स्वभावको बिगाड़ता है। आत्मा एक अखंड (Simple) पदार्थ है, इसलिए अमर है। संयुक्त पदार्थ (Compounds) ही नाशवान् होते हैं। अलबत्ता पुद्गलके मेलसे-उत्पन्न हुआ आत्मा स्वतः जन्ममरणका भोक्ता बनता है। पुद्गल आत्माके ईश्वरीय गुणोंको ढक देता है। बाइबिलमें कहा है कि तुम परमात्मा हो: (I have said, 'ye are Gods') यदि आत्मा पुद्गलके दुःखदाई संसर्गसे अपनेको छुड़ा ले तो वह परमात्म-पदको पा सकता है। किन्तु पुद्गल तो जीवात्मामें उसके प्रत्येक विचार, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कर्मके साथ आ रहा है, फिर यह रुके कैसे? निस्सन्देह यह एकदम नहीं रुक सकता। इसके रोकनेके लिये नियमित शर्तें निर्दिष्ट हैं, जिनका पर्यटक बनना होता है। पुद्गलका आना और बंधना शुभ और अशुभ रूपमें होता है। अतः पहले तो अशुभ पुद्गलका आना रोकना चाहिये। अर्थात् बुरेकर्म नहीं करना चाहिये। फिर धीरे २ पुद्गलका आना सर्वथा रुक जावेगा। इन्द्रिय-वासनाजन्य स्वार्थमई आकांक्षायें ही निःकृष्ट कर्म पुद्गल आश्रवका कारण हैं। अतः वह विचार, वह शब्द, वह कार्य जो स्वार्थसे दूषित नहीं है, इस निःकृष्ट आश्रवको रोकनेमें कारणभूत हैं। इसलिये ही अपने पड़ोसी पर प्यार करनेसे एक व्यक्ति इस प्रकारके निःकृष्ट आश्रवसे बच जाता है और किसीसे द्वेष करनेसे फिर वह चाहे पशुही क्यों न हो, एक व्यक्ति अपने लिए बहुत बुरी तरहसे कर्मपुद्गलको अपना लेता है। यही कारण है कि बाइबिलकी आज्ञा है कि तू मार मत। (Thou shalt not kill) इस आज्ञामें कोई ऐसा शब्द नहीं है जो इसे किन्हीं खास प्राणियोंके लिये सीमित करता हो। किन्तु आज तो उसे ऐसे पढ़ते हैं मानो उसमें कहा गया है कि तू आदमीको मत मार (Thou shalt not kill man !) उत्कृष्ट नियम यह स्पष्ट बताता है कि हमें एक पशुको भी क्यों मारना नहीं चाहिये। मारनेकी क्रियासे हम अपने स्वभावको खोते और दुःखी होते हैं। इसलिये किसीको नहीं मारना स्वयं अपनी रक्षा करना है।

जब हम ऐसा बर्ताव करते हैं कि जिससे दया और प्रेमके भाव हमारे स्वभावमें सत्व और मुर्दा हो जाते हैं एवं द्वेषपूर्ण स्वार्थचक्रकी पुष्टि होती है तो निस्सन्देह हमारा आत्महनन होता है। मानवका भावी जीवन इसके कारण पतित और दुखमय होता है। निरापराध प्राणियोंकी हत्या करनेवालेके हृदयमें यह तीन खोटी दुर्भावनायें जाग्रत हो जाती हैं: (१) स्वार्थ, (२) कठोर-हृदयता, (३) अविचार (अविवेक)! वह स्वार्थी है क्योंकि वह अपने क्षणिक सुखके लियेही दूसरेके प्राण लेता है; वह कठोर हृदय है क्योंकि दयाका स्रोत उसके हृदयमें सूख गया है, जो उसे प्राणि हत्यासे अलग रखता! वह अविचारी है, क्योंकि उसे इस बातका ध्यान नहीं है कि उसके इस कृत्यका उसपर क्या असर पड़ेगा! दुष्ट प्रकृति जीवात्माओंका अगला जन्म निस्सन्देह पशुओंमें होगा।

प्राणिहत्याका निषेध नये अहदनामामें भी है। वहाँ कहा है कि "जा और सीख इसका अर्थ क्या है! मुझे दया चाहिये और बलि नहीं!" जब सालमें एक या दो दफा किसी देवताके

नामपर एक प्राणीके प्राण लेना क्रूरताका कारण है और जिसके लिए दयामय आचरण करनेका उपदेश है तो फिर भला अपने स्वार्थके लिए निर्दोष हिंसा करनेमें उस क्रूरता और अदयाका अन्त कैसे होगा?

संक्षेपमें एक कार्यका जो प्रभाव एक व्यक्तिपर पडता है, वह स्पष्ट है। अतः जैनधर्मकी यह प्रगट शिक्षा है कि वह व्यक्ति जो अपने जीवनमें दया और प्रेमके सिद्धान्त पर अमल करते हैं, वे दूसरेको प्राणरक्षाका दान देनेकाही आनन्द केवल नहीं उठाते, बल्कि वे सचमुच अपना भला करते हैं—लाभ उठाते हैं। इसके विपरीत जो लोभी, स्वार्थी और क्रूर हैं—द्वेषपूर्ण व्यवहार करते है और रक्तपात करके युद्ध मचानेमें खुश होते है, वे न अपनी भलाई करते हैं, और न दूसरोंके मित्र हैं। वे मानवसमाजके सबसे बडे शत्रु हैं।

इस प्रकार यह प्रेमका—अहिंसाका सिद्धान्त है। यदि इसपर अमल करें तो मानव परमात्म-पद की महानता को पावें। यदि वे इसकी उपेक्षा करें तो बाइबिलका यह शाप उनके लिये ही है कि 'तेरे मारसे यह जमीन दूषित है।' (Cursed is ground for thy sake) अतः यदि मानव अपनी भलाई चाहता है तो वह सब मानवों और इतर प्राणियोंकी यथोचित भलाई करे। केवल इस कारण—अहिंसाके अनुयायी होकरही —आपके मनमें, घरमें, कौममें और दुनियामें शान्ति होगी! आशा है "अहिंसा परमो धर्मः" में गर्भित सुनहरा सन्देश संसारके समस्त प्राणियोंके हृदयोंको प्रकाशमान और प्रफुल्लित करेगा! इसीसे लोकमें शान्तिका साम्राज्य स्थापित होगा। अतएव अहिंसा सिद्धान्तको सदैव प्रकाशित कीजिये। अहिंसाही अशान्तिको मैटनेकी परम शक्ति है।

हे मुक्तिदूत!

उस दिन भूतल पर स्वर्णिम रत्नोंकी वर्षा हो रही थी, मानव चकित लोचनोंसे यह सब निरख रहा था, और जब उसने वर्षाका कारण जाना तो वह खुले हाथों उल्लास लुटाने लग गया, देवताओंकी बाँछे खिल गयीं और प्रकृति अपना शृङ्गार सजा कर स्वागत करनेके लिए अपलक नयनोंसे तुम्हारी बाट जोहने लगी, तभी—

हे धर्मप्राण!—

तुमने अपने पद-पङ्कजों द्वारा वसुधाको पावन करते हुए सम्पूर्ण संसारमें धर्मकी महत्ताका घोषनाद कर, सत्य और अहिंसाके पावन उपदेशों द्वारा प्राणीमात्रको जगा दिया। मानव उठा, सहसा अपने समक्ष दिव्य-ज्योतिको देख उसके नेत्र टिक न सके, अरे, टिकतेभी कैसे! जब इन्द्रने आपकी शशि-मुखकी सुधाका पान करनेके लिए सहस्र लोचन बनाए तो वह एक मानव, निरीह मानव जिसने उससे पहले कभी आपकी दिव्य आत्माका दर्शन नहीं किया, कैसे आपका मुखड़ा देखता, वह तो पापी था, हिंसक था, निरा हिंसक। अरे, वह तुम्हीं तो थे, जिसने इसके सब पापोंको क्षमा करते हुए उसे सदुपदेश दिए और अहिंसाका पाठ पढा मोक्षका मार्ग सुझाया। अतः

हे मुक्ति-दूत!—

'उतर जग पर शांति, अहिंसाके अधिनायक!
सुप्त प्राण फिर जाग उठें, हे, शांति विधायक!!'

सभक्ता—नरेशचन्द्र जैन 'हेम'।

विश्वकी विभूति भ० महावीर !

रचयिता.— साहित्यभूषण सुरेन्द्र सागरजी जैन, 'प्रचंडिया' कुरावली (मैनपुरी)

विभुवीरने बताया हमें—
व्यर्थ यह पशु बलि !
व्यर्थ यह नर-बलि !
लाभ नहीं मूक पशुओंके हननमें है।
वह तो निरीह हैं।
उनकेमी प्राण हैं।
अपनेही समान हैं।
कर्मफल तो कर्ताको मिलेगाही।
दुष्कर्म क्षय होते, शुभ कर्म करनेसे !
जीवके हननमें ओरभी पाप है।
व्यर्थ यह हिंसा है।
रागद्वेष बढ़ते हैं इसके परिसेवनसे !
परितोष होता तो असम्भव इससे है !
इसलिए अपनाओ दयाको सत्यको !
अहिंसाके मर्मको समझो और समझाओ!
कुलिश हृदयभी
हो सकता नवनीत-सा !
स्वयम्को जीना है।
इसी भांति दूसरोंको जीवन दो !
सरल उपाय है !
किसीके अपराधको
क्षमा कर देनेमें होता परितोष है।
होता आत्म-तोष है।
क्षमा वीर-भूषण है।
सरल विचारसे
मृदुल व्यवहारसे
अपने अरातिको
हृदयसे कर सकते विजित हैं।
सत्यमय हो जीवन !
सत्यमय हो क्षणक्षण !
सत्यमयी हो जग मन !
सांचको आंच क्या !
जीवन पवित्र हो
शुद्ध हों भावनाएँ !
सद् हो कामनाएँ !
परमित हो जीवनका आवश्यक !
एकमसय आचरण
हटा सकता है सारे दुखद आवरण !
कंचनको शुद्ध करनेके लिए
तप्त करते हैं उस अग्नी कृशानुमें।
इसी भाँति अपनाभी जीवन हो तपमयी!
होवें यशस्वी !
ताकि परितोष हो !
अपनी इस अपनाके मनसे धनसे
हो जहाँ तक त्याग करनाही धर्म है।
संग्रह अधिकसे
आगारित तृष्णा अधिक होती !
इसमें परिबद्ध हो होते अवर्य कर्म !
भूलते हैं धर्म-मर्म !
अहम् मान्यता है दुरीश्वता !
बन न सकती है वह कुलभी भला ! !
इसी लिए अन्य प्राणियोंके समान

अपनेको जानिए!
सचमुच अकिंचन ही मानिए!
अपनी बहिन सुता,
परिणीता माता पिता,
जैसी हैं वैसी ही अन्य की!
ब्रह्मचारी व्यक्तिको
जगतीके दुस्तर कार्य
होते सरल हैं!
ये है अहिंसाका सत्य मर्म!
येही है धर्म-कर्म!
येही है विश्व प्रेम!
विश्वका प्रत्येक जन
अपनाही बन्धु है!
ऐसे सज्ञानसे
ऐसे श्रद्धानसे
ऐसे चरित्रसे
सचमुच मनुष्य बन सकता है
स्वयं ही — सत्य शिवसुन्दरमय!

ऐसे प्रचार द्वारा भगवान वीरने
लोक कल्याण किया!
दुखित पतित प्राणियोंका त्राण किया!!
अन्धकारका विनाश
ज्ञानका प्रकाश किया!
इस लिए वीरवर हो गए वर्द्धमान!
किया सत् संस्कृतिका निर्मान!
दूर किया क्रन्दन को।
दूर किया बन्धनको।
युग निर्मायक वह विश्व वंद्य
महावीर!
अतिवीर!
लोक पूज्य युगपुरुष
जनताके हृदयमें
अहिंसाकी अमिट छाप डाल गए।
लोक सम्पति वह,
लोक आदर्श वह,
'विश्वकी विभूति है'!!

'विश्व—शान्ति—पथ—दर्शक—सन्मति।'

संसार-शान्ति-दायक सुधांशु
हिंसा-राका-ध्वस्तक-प्रकाशकी शीतलांशु-
होती विकीर्ण,
विमल वीर-विधुसे अवतीर्ण,
करतीं प्रमुदित,
म्लान-प्राणि कुमुदिनी-कलिकावलिको
जो, अधखिलीं रहीं, हिंसानलसे हो तापित!

पर, आज,
छाया जगती पर दुख-कलह-राज,
इस दु:ख-कलहके ध्वंश हेतु,
जग-शान्ति-सौख्य-साम्राज्य हेतु,
लो! विश्व-जनो,
लो, महावीर उपदेश-अमल
हो, शान्ति-मग्न, पा सुखद शान्ति-परिमल!

—वीरेन्द्रप्रसाद जैन।

मांसाहार एवं पैशाचिक बुद्धिहीनता।*

(ले० प्रो० डॉ० किशोरीलालजी वर्मा, मे० ओ०, अलीगढ़)

हम लोग संसारके भौतिक जीवनमें कुछ ऐसे भ्रममें पड़ जाते हैं कि यदि उस जीवन कालका अनुमान लगाया जाय तो शुभकर्मों की रोकड़ बही पर चढ़ानेके लिये जमामें 'कुछ नहीं' निकल सकता है; जीवन प्रायः कष्टमय है। उसमें सुखाभासकी झलक जो कभी दैव अनुकम्पासे दिखती है, वह स्थायी नहीं। भौतिकसुख इन्द्रियजन्य होनेके कारण सुखाभास है। उसकी तुलना आत्माह्लादसे, शुद्ध आत्मसुखसे नहीं की जा सकती। सच्चे सुखसे शुद्धविचार उत्पन्न होते हैं। विचारोंकी मलिनता सच्चे सुखको नष्ट कर देती है। यह जानबूझकर भी हमलोग दुखी होते और दुखके कारण बनते हैं, आश्चर्य केवल यही है। हम क्यों रोगी हैं? इसलिये कि शरीरमें विकारविष उत्पन्न किया है और वह हमारे ही आचार विचारोंका फल है।

किसी रोगकी पहिचान लक्षणों द्वारा होती है, किन्तु केवल लक्षणोंका जानना उस समय तक व्यर्थ है जबतक कारणका बोध न हो और उसकी चिकित्साका ज्ञान न हो। जो कुछभी शरीरमें विष उत्पन्न होता है वह भोज्य पदार्थोंकी अन्तिम परिणत अवस्था एवं विचारोंके प्रभावसे होता है जो ऐसे भोज्य पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न करते हैं। इसलिये ही चिकित्सकको बहुधा असफलता होती है। वैसे तो कई एक ऐसे भोज्यपदार्थ हैं जिनपर विचार प्रकट किये जा सकते हैं, किन्तु यहां पर मैं केवल मांसाहार पर ही सीमित रहूंगा।

यदि हम स्वयं ठीक नहीं रह सकते तो दूसरे अवश्य ठीक करेंगे। हम लोगोंके पापों और दुष्कर्मोंके लिये कोई दूसरा दंड नहीं देता बल्कि मेरी समझसे पाप और दुष्कर्म स्वयं हमको सजा देते हैं।

हिपोक्रेटस, जिसने चिकित्सा निकाली और जो शाकाहारका दक्ष डाक्टर था, उसकी यह शिक्षा थी कि भोजनही केवल औषधि है और औषधि केवल भोजन है।

भोजन करना और उसका मलमूत्र बनना अथवा व्यर्थ पदार्थोंका बाहर निकलना, ये दो पृथक क्रियायें हैं। यदि परिणत भोज्यका व्यर्थ अंश छाटेंमें शरीरके अंगोंपर अधिक प्रभाव पड़ता अथवा उनकी छिन्नता हो जाती है, तो शरीर शिथिल होकर रोगी हो जाता है जिसे केवल डाक्टर या रोगी जान सकता है।

मांसके आहारसे अंगोंकी शिथिलताके अतिरिक्त किसी और भोजनकी अपेक्षा अधिक

---

* डा० टाल्वाटके अंग्रेजी लेखके आधारसे लिखा हुआ स्वतंत्र लेख —सं.—

शारीरिक क्षति होती है। मासको पकानेमें उसके जीवन प्रदान करनेवाले मूल कण समाप्त हो जाते हैं और केवल तेजाब एवं नायट्रोजिनिस पदार्थ अर्थात् वायु उत्पादक अन्तिम शेष रह जाते हैं। इन पदार्थोंको ग्रहण करनेका अर्थ केवल क्रमशः आत्मघात करना ही कहा जा सकता है।

पके हुये मासमें नायट्रोजन मनुष्यकी आवश्यकतासे कहीं अधिक और सल्फर तथा फास्फोरस की राख अधिकतर रह जाती है, जिसमें मूत्र सौगुना तेजाबी उस मूत्रके अनुपातसे होता है जो एक अनुमानित भोजनसे बनता है। फल और साग मासके साथ ग्रहण करनेके उपरान्तभी उनके खारी नमक [illegible] तेजाबका समीकरण नहीं कर सकते हैं। मेरा अनुभव है कि मासाहारियोंको बहुधा रक्तदबावके अधिक होनेके रोग शाकाहारियो की अपेक्षा अधिक होते हैं। उनके मूत्राशयभी कमजोर होते हैं।

मिचीगन यूनीवर्सिटीके प्रो० श्री न्यूबर्गका कथन है कि अधिकांशमें अधिक समय तक मासाहार करनेसे धमनिया मोटी हो जाती हैं और ब्राइट्स डिजीज, सिलसिल्योस अथवा बहुमूत्र और गुर्देकी बीमारिया हो जाती हैं। रूसके प्रमुख डाक्टर एनीश्कोने भी यही प्रमाण दिया है कि कोलेस्ट्रोल जो मासकी चर्बीका मुख्य अश है, धमनियोंको सिकुडन अथवा आर्टीरियो स्कीलेरोसिस उत्पन्न करता है। प्रो० मेकोलम अमेरीकाका एक प्रसिद्ध भोज्य रसायनवेत्ता डाक्टर है। उसका मत है कि मास कोई और किसी प्रकार मनुष्यके लिये उसके स्वास्थ्यको लाभकारी या आवश्यक भोज्य-पदार्थ नहीं है।

भोज्य पदार्थोंके मुख्यांशकी रसायन क्रियाका खारी अथवा खट्टी या तेजाबी होना ही पाचन क्रियाकी विधि पर प्रभाव डालता है। रक्तकी रसायनक्रिया साधारणतः ७५ प्रतिशत खारी तथा २५ प्रतिशत खट्टी या तेजाबी होती है। फल तथा सागके नमकभी अधिकसे अधिक खारी और तेजाबी हो सकते हैं। अतः उनकी मात्राका ठीक अनुपात जानलेना उचित है।

कदाचित् रक्तके तेजाबका अनुपात ठीक रहे और तेजाबी भोजन ग्रहण किया जाय तो भी शरीर कार्य करता है, परन्तु इस अनुपातका घट बढ जाना सकटसे खाली नहीं है।

जो भोज्य पदार्थ खारी नमक बनाते हैं वह तेजाबका समीकरण करते हैं और जो तेजाबी नमक बनाते हैं वह खारका समीकरण करते हैं। इस प्रकारकी क्रियायें और प्रतिक्रियायें जो भोजनसे उत्पन्न होती हैं, शरीरकी रसायन क्रियाको ठीक रखती हैं। रोटी बिस्कुट और अन्य अन्न पदार्थ तेजाब उत्पन्न करते हैं और फल साग और बादाम आदि खार। यही [illegible] प्रकार रसायन अनुपातको रक्तमें ठीक रखते हैं।

मास, मछली, अडा एवं चीज गहरे तेजाबी भोज्य पदार्थ हैं और जब यह पाचनक्रियामें जल जाते हैं तो यह तेजाबी अनुपातको सलफ्यूरिक एसिड यूरिक एसिड और फास्फोरिक एसिडमें परिणत होकर बढा देते हैं। जिससे मूत्ररोग, हृदयकी धमनियोंका रोग और एपोप्लेक्सी एक प्रकारका लकवाका रोग उत्पन्न होता है।

कुछ व्यक्तियोंका ऐसा निराधार विचार है कि मासके अतिरिक्त अन्य स्फोष शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। यह पैशाचिक मनोवृत्ति है। ऐसे व्यक्तियोंका हृदय पाषाण है जो पर दुखसे नहीं पसीजता। इनमें दया छू तक नहीं गई है। वे केवल असार ससारके दिखावटी वैभवोंमें लिप्त होकर चूर हो रहे हैं।

मेजर जनरल सर राबर्ट मेक गेरीसनने जो ब्रिटिश साम्राज्यका प्रमुख भोजनका दक्ष डाक्टर है, कहा है कि यदि अन्न, दूध और ताजे साग विधिपूर्वक ग्रहण किये जावें तो वे मनुष्य शरीरकी बनावट और उसके कार्यक्रमको ठीक रखते हैं। उन्होने मासको अनावश्यकीय भोज्य पदार्थ बताया है।

एक साधारण किन्तु निराधार विचार यहभी है कि जो भोजन हम करते हैं उसके अनुसार या उससे ही तत्काल शक्ति उत्पन्न हो जाती है। होता ऐसा कुछ भी नहीं है। शरीरकी युनिट अथवा बनावटके मूल अथा छोटे छोटे कण हैं, जिन्हें अग्रेजीमें सेल्स cells कहते हैं। यह सेल्स शरीरके भीतर दो मील प्रति घटेकी दरसे पृथ्वीके चक्करोंकी गतिके अनुसार दौड़ते रहते हैं। इस प्रकार यही कण शक्तिके आकर्षणकी लकीरो पर हो कर शक्ति उपार्जन करते रहते हैं, जिससे शरीरमे एक स्फूर्तिका आभास अथवा बिजलीका चार्ज हो जाता है। अतएव शरीरकी प्रथम शक्ति उसके आन्तरिक स्थानसे ही प्राप्त होती है।

डा० बरवोस्क एक अमेरिकन डाक्टरने बताया है कि प्रत्येक पौधा फल, साग इत्यादिमें दो प्रकारके रेशे होते हैं, जो बिजलीके पोजिटिव और निगेटिव तारोंका काम करते हैं। और जब यह भोजन द्वारा शरीरमे पहुचते हैं तो पाचनक्रियाके अतिरिक्त जो रसायनकी बनावट इत्यादिमें उपयोगी होता है, एक बिजलीको अपने रेशोंकी मिलावट द्वारा शरीरमें उत्पन्न करता है। यही शक्तिको एकत्रित करते हैं और फिर धीरे धीरे उस शक्तिको निकाल देते हैं। इसका उदाहरण इसप्रकार है कि एक गेल्वनो मीटरके सरकिट अथवा तारोके जुडे हुये सिराधमें सेब लगा दीजिये तो सुई हिलने लगेगी और फिर क्रमशः रुक जावेगी। फिर उस सेबको निकाल कर थोड़ी देर अलग रख दीजिये। अब उसमें आक्सीजन हवाके प्रवेश कर लेगी तो फिर उसको सरकिटमें लगा दीजिये। वही क्रिया फिर होने लगेगी। इससे यह प्रमाण मिला कि आक्सीजन शरीरमें भोजनद्वाराभी कार्यक्रममें आती है और कार्बन डी आक्साइड निकल जाती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भोजनसे कण अथवा सेल्स बनती हैं जो आकर्षण स्थानसे शक्ति उपार्जन करके अपनी दौडसे एक बिजलीकी उत्पत्ति करती है, जिससे शरीरकी गरमी और चलनेफिरनेकी क्रिया होती है। इसीके द्वारा हम अपनी इच्छानुसार चलते फिरते और कार्यक्रम करते हैं। अब उक्त क्रियामें किसी अमुक भोज्य पदार्थसे रुकावट उत्पन्न हो जाती है और जिस अंगमे भी यह सेल्स ठीक दौड नहीं लगा पाती वही अग शिथिल होकर बीमार हो जाता है। इससे यहभी सिद्ध होता है कि जो शक्ति हमको जीवित रखती है, रुकावट होनेसे वेहीसे हमको मार भी सकती है। किसीका भोजन किसी का विष भी हो सकता है, क्यों कि शरीरकी धमनियोंकी बनावटमें उसकी परिस्थितिके अनुसार अन्तर होता है। कुत्तेका पेट हड्डी हज्म कर सकता है, पर मनुष्य नहीं। बादाम कुत्तेको मार

सकते हैं। मनुष्यको लाभकर हैं, नींबूका रस बिल्ली और खरगोशके लिये विष है। कपूरसे किन्नारी नामका जानवर मर जाता है। कबूतर अफीम अधिकाधिकमें खा लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

हमारे शरीरकी बनावट भोजनपर निर्भर है। अतएव उचित भोजन जो शाकाहार है उसको विधिवत ग्रहण करनेसे असाधारण रुकावट नहीं होती और शरीर हृष्टपुष्ट ठीक विचारोंको उत्पन्न करनेमें सहायक होता है।

यह धारणाभी गलत है कि मांससे मांस उत्पन्न होता है, क्यों कि पकने पर उसके जीवित कण नहीं रहते और कण भी भिन्न होते हैं। मांस भोजन मानवको पशु बना देता है।

मैं अब यह बताता हूं कि मांसाहारी जानवरों और मनुष्योंमें क्या अन्तर है।

जितने भी मांस खानेवाले जानवर हैं उनकी आंते छोटी होती हैं; जैसे शेर। उसकी आंत १५ फीट लम्बी होती है। इसके विपरीत, जितने जीव स्वरोपी शाकाहारी अथवा मांस न खानेवाले हैं उनकी आंतें २६ से ३० फीट तक लम्बी होती हैं, जिससे खाना पाव लगने समय तक सड़गल कर पाचनक्रियामें रस बना सके. इसी प्रकारसे मनुष्य और मांसभक्षी पशुके दांतोंमें भी अन्तर है। यदि एक बन्दरको बंद करके मांस खिलाया जावे तो उसे तपेदिक हो जायेगी। खाद्यके भोजनमें कई ऐसे सुन्दर अमूल्य पदार्थ हैं जो मनुष्यको हृष्टपुष्ट रखनेमें लाभकारी होते हैं। सबको न बताकर केवल एक सोयाबीनका ही उल्लेख करूंगा। इसमें लेसीथीन और फासफोरस ग्रहमाइडकी शक्तिके लिये ठीक अनुपातमें होता है। इसमें बेसीलिस एसिडोफिल्स अर्थात् एक प्रकारके आंतके कीटाणु जो भोजनकी पाचनक्रिया करते हैं अधिक काल तक जीवित रह सकते और बढ़ सकते हैं। अतः सोयाबीन मांसकी अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम वस्तु भोजनकी है।

ऐसा देखा गया है कि बच्चा पैदा होते समय हृष्टपुष्ट होते हुयेभी २० या २१ वर्षकी युवावस्थामें जब उसे स्वस्थ होना चाहिये, रोगी बन जाते हैं, यह भोजनकी ही एवं आचार विचारोंका ही दुर्प्रभाव होनेका फल है। प्रत्येक जीवको अपनी उत्पत्ति और बढ़ान कालके अठगुने समयतक जीवित रहना चाहिये, परंतु मनुष्यकी आयु दूनी भी कठिनतासे हो पाती है। यह सब केवल ठीक और विधिपूर्वक भोजन न प्राप्त करनेकाही दुष्परिणाम है बहुतसे पदार्थोंका मुख्यांश छील कर या अधिक पकाकर नष्ट कर दिया जाता है अथवा मसालोंसे स्वादिष्ट बनानेके लिये ऐसा भोजन किया जाता है जो अतड़ियोंकी अतरझिल्लीको जलाकर छिन्नभिन्न कर देते हैं और पेचिश इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

अतएव इन्द्रियलिप्सा और पैशाचिकताको छोड़कर मानवको उचित है कि वह दयाभाव उत्पन्न करे। शरीर पोषण और स्वास्थ्य वर्धनके लिये वह ठीक और स्वास्थ्यकर शाकाहारको ग्रहण करे। लोकके सभी महापुरुष शाकाहारी हुये हैं। भ० महावीरही अहिंसाके अवतार थे। उनके उपदेशसे भारतमें शाकाहार विज्ञानकी विशेष उन्नति हुई थी। उनके अतिरिक्त श्री गौतमबुद्ध ईसामसीह मुहम्मद सा० ऋषि दयानंद एवं विश्व विभूति म० गांधीके जीवनचरित्र पढ़िये और देखिये कि वे अहिंसावृत्तिको धारण करके ही महान् हुये थे। शाकाहारही [illegible] भोजन है।

The Way to Salvation

By Śrī. Walter Leifer, Dringenberg-Westfalen, Germany

[प्रस्तुत लेखमें जरमनीके प्रसिद्ध पत्रकार श्री वाल्टर लीफर सा. ने पाश्चात्य जगतकी विचारधाराओंको हिंसासे दूषित ठहरा कर लोकसे खास कर यूरुपवालोंसे यह अपील की है कि वे महावीर, बुद्ध और गांधीके सत्य-अहिंसाके सन्देशको सुनें और उस पर आचरण करें। 'मुक्तिमार्ग' यही है। —का० प्र०]

The world has been a field of bloody struggles of the nations between themselves. Mankind discovered highest material matters of important effect, but lost the best values, the central values of humanity — interior liberty and human feeling. Especially, the Western world has to suffer from the products which were made by men, but which themselves made men products of a mechanized century Where is to be found the solution of this problem of the mechanized Occidental world; *where* is the "*mukti-mārga*" for this part of the human community, where is this way to salvation ?

If we, men of Western origin, do not find this way themselves, we should open our hearts to the messages of the East, where India has grown fit to become the home of a spiritual humanism, where Tirthankara Mahāvira proclaimed : "Towards your fellow creatures be not hostile. All beings hate pains · therefore do not kill them." And where Buddha taught his pupils his supreme truth : "Manopubbangama dhamma, manosetta, manomaya — Mind goes first in the world, mind is the best, mind is creative" Did we hear this message of Asia – these words of Buddha, Vira, Rama, Allah – did we Europeans and other Westerners follow the divine gospel of Christ ?

Against all the human messages from Asia, we occidentals had our gospel of imperialism, of nationalism, of chauvinism, of class struggles The wrosest sides of Western thought led to disharmony of the world

The year 1948 has been for India a year of tragedy and sorrow. It saw the death of the greatest of all the Indians of our time, perhaps the greatest man of the whole century. What he taught, should be heard by us, the Europeans, the Americans etc., the Occidentals, too. Gandhiji, India's and the World teacher, had the remedy to heal our troubled earth : Ahimsa and Satya!

Let us listen to Gandhiji's World Message ! Bapu Gandhiji's object was not so much the liberation of India as the liberation of the men and of the world Violence is the history of men, but non-violence is the dream of the wise, and the struggle between violence and non-violence goes on not in the outer battlefields, but in the hearts of the men.

The cosmic struggle is a perpetual fight between reason and un-reason, between light and darkness, between love and hate But the world conscience is weakened. To-day all the men of Occidental birth have only one question. How could we save us? This world is far from liberty from fear – Spengler's the German philosopher's warning - "Decline of the West" is realizing itself But there was one man in our century, who listened to the interior voices of mankind, who saw the best values of all the religions and of the beliefs, who heard the prophets of his own country and who, at the same time, listened to the Gospel of the Mountain And he was a prophet himself:

" I believe in non-violence. If I believe in this, there is no enemy. This takes me into realms infinitely higher than the world You may not harbour an uncharitable thought, even in connection with one who may consider himself to be your enemy The one who follows this doctrine has no place for an enemy I have no enemy. The only virtue I want to claim is Truth and Non-violence. I lay no claim to super-human powers I want none I wear the same corrupt flesh that the weakest of my fellow-beings wears and I am therefore as liable to err as any."

Non-violence is a central value of humanity and its source is the love-born Truth, that truth called by Buddha's pupils "Aryasacca" – Noble Truth. We Europeans have to see that certain qualities of men and women – pity, mercy, humility are progressively weakened in the atmosphere of our men-murdering world

The world, and especially, the Western part of our Earth is facing a moral crisis graver, perhaps, than the physical damages of the two world wars The old question of the Heraclean Fate is Evil or Luck? Greed, hatred, self-interest or real greatness in body, mind, and spirit! We can lead men to the better path-Gandhiji's appeal to Ahimsā and Satya-to non-violence and truth could change our spiritual world and is capable, preaching and practising fearlessness and understanding, leading the struggle against the strongholds of greed and evil. Truth and Non-violence are highest qualities we can possess-Gandhiji's call belongs to a man who redeems the whole human race May be his body reduced to ashes, which are scattered in the eternal waters of India's holy streams-his two values Truth-Satya and Non-violence-Ahimsā (and I would add the third-Love !-that is the eternal source of all !) will penetrate far into space and time and inspire countless generations and point at the way to salvation for a guideless world. The salvation, which Mahāvira taught to attain by Right Belief, Right knowledge and Right conduct Remember the precepts of Truth and Ahimsā and turn them into practice, you will be on the right way of Salvation.

" Clever talking will not work salvation, how should philosophical instruction do it? Fools, though sinking lower and lower through their sins, believes themselves to be wise man ! "

World Peace.

By Miss Daphne McDowall, Germany.

श्रीमती कुमारी मैकडोवल अंग्रेज महिला हैं और अमरीकन सैनिक क्षेत्रमें सेवाकार्य कर रही है। विश्वशान्ति पर उनके विचार पठनीय हैं। वह लिखती हैं कि तीन साल पहले जब पिछला महायुद्ध समाप्त हुआ तब मैं बड़ी आशा लेकर जर्मनी आई थी। मुझे आशा थी कि वहां पहुँचकर युद्धल शादमें फंसी हुई दुनियाको आत्मसंयमादका विश्वासी बनाकर आगे बढ़ाऊँगी। मुझे विश्वास था कि नवजीवनके निर्माणका श्रीगणेश वहींसे हो सकेगा। नैसर्गिक अथवा प्रेरित कार्य कैसाभी हो सदैव अपना फल दिखाता है। विचारोंके भी अपने परिणाम होते है। फिर वे शायद भलेही कार्यरूपमें शीघ्र परिणत न किए जा सकें। जैसे को तैसा मिलताही है। अतः हिंसासे हिंसा और द्वेषसे द्वेष पनपतेही है। जो युद्ध हिंसा, द्वेष और क्रूरतासे लड़े जाते हैं, उनसे हिंसा द्वेष और क्रूरताही बढ़ती है। गत महायुद्ध अपने पीछे एक महान पीड़ा छोड़ गया है। इस पीड़ाके कारण मानव एक दूसरेसे द्वेष कर रहे हैं। और यह द्वेष बढ़ते बढ़ते एक दूसरे महायुद्धमें परिणत हो सकता है। कार्यकारणका सिद्धान्तही यह है कि जो जैसा बोवेगा वह वैसा पावेगा। हां, इस विक्षोभ वातावरणको मेटनेका एक मात्र उपाय प्रेम-पवित्र और निःस्वार्थ प्रेमही हो सकता है। जैसे एक घरमें प्रेम न होतो लड़ाई दुःख और झंझटें ही उसमें होती हैं। वहही हाल दुनियाका है। किन्तु जिस घरमें सच्चा प्रेम रहता है वहां स्नेह सुख और शांति फैलती है। अतः यदि लोकके अधिकांश मानव एक दूसरेके प्रति सच्चा प्रेम व्यवहार करें तो युद्ध होही नहीं सकता यह निश्चित सत्य है और इसके प्राप्त करनेका ही प्रयत्न होना चाहिए किन्तु दुनियामें ऐसेभी लोग हैं, जो इस सत्यको असम्भव मानते है। पर उनको भी यह सत्य माननाही पड़ेगा। जिन्हें विश्व प्रेमकी शक्तीमें विश्वास है उन्हें दुगनी शक्ति लगा कर इसका विकास चहुँओर करना चाहिए जिससे दूसरे लोग उसका अनुभव करें, उसे देखें और उसके अनुसार व्यवहार करें। गरीबसे गरीब मानव भी क्षणभरके लिए इससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। इस प्रभावसे वह शक्ति सञ्चय करता जावेगा। त्रुटियों और परीक्षाओंके बीचमें निकल कर वह बहुत कुछ सीख लेगा। हमारे दैनिक जीवनपर वैयक्तिक अनुभवोंके अतिरिक्त सामूहिक अनुभवोंका भी असर होता है। हजारों युद्ध लड़े जा चुके हैं तो भी लोक यह नहीं समझ पाया है कि युद्धसे बरबादी होती है और मानव उन्नतिमें बाधा पड़ती है। एक व्यक्ति भी जबतक अनुभव विशेषसे प्राप्त शिक्षाको ग्रहण नहीं कर लेता तबतक वह उसीमें पड़ा रहता है। स्वार्थमय प्रेम कभी सुख नही सिरज सकता मानवको यह विश्वास है तो वह निःस्वार्थ भाव से व्यक्तिसे प्रेम करे और जहां वह व्यक्तिसे निःस्वार्थ प्रेम करनेका अभ्यस्त होगा तो समष्टीसे भी निःस्वार्थ प्रेम करने लगे।

बहुत कम व्यक्ति हैं जो अपने अनुभवोंसे लाभ उठाते है। त्रुटियोंको वे दुहराते रहते हैं। हर कोई जानता है कि शारीरिक दुर व्यवहारसे दुःख होगा पर फिरभी लोग वैसा करते है। ऐसे लोग तो बहुत थोड़े हैं जो अपने अनुभवोंका पर्य्यवेक्षण करके शिक्षा ग्रहण करते हैं। ऐसेभी मनुष्य है, जो पार्थिव हानियां उठाते रहते हैं, किन्तु उन्हें यह अनुभव नहीं होता कि जबतक वह पार्थिव

वस्तुओंकी इच्छाको इनसे सुख होता, मानवेकी भ्रान्तिको नहीं छोडेंगे तबतक उनको वैसी हानियां उठानाही पडेंगी। विनयका महत्व सीखनेके पहले घमंडीका सिर कई बार नीचा होता ही है। मानव अपने विचारोंसे सृष्टि रचता है, किन्तु फिरभी वह यह अनुभव नहीं करता बल्कि अपने सीमित विचारोंके अनुकूलही परिस्थितियोंको बनाता रहता है। जबतक मानव सर्व विजयी विश्व प्रेमका व्यवहार नहीं करता—जबतक मानव अपनी आत्माको नहीं पहिचानता और जबतक वह यह नहीं जानता कि दूसरेको पीडा पहुँचाना स्वयं अपनेको पीडित करता है, क्यों कि सभी प्राणि-योंमें एक समान आत्मा है, तबतक वह परिस्थिती की भ्रान्तिसे निकल नहीं सकता है। अतः जीवनका ध्येय विश्व-प्रेमही है। अलबत्ता उसकी प्राप्ति धीरेधीरे होती है और प्रारम्भमें वह कष्ट साध्यही भासता है। किन्तु आध्यात्म अभिज्ञान आनेतेही मानवको उनमें रस आता है। ऐसे प्रेम पूर्ण वैयक्तिक प्रयत्नोंद्वारा ही शान्ति स्थापित हो सकेगी; यह शान्तिकि जिसमें मनुष्य पारस्प-रिक सौहार्दसे रह सकेंगे और उन्नति कर सकेंगे। जब पर्याप्त व्यक्तिया अपनी स्वार्थ पूर्ण इच्छाओं, भयों और द्वेषों पर काबू पा लेंगे तब न तो युद्ध हो सकेंगे और न उनकी आवश्यकता शेष रहेगी। कुमारी मैकडोवलकी यह उच्च भावना सफलीभूत हो, यह कामना है। —सं०]

Three years ago at the end of the war, I came to Germany with great hopes of helping to build up spiritual beliefs which would lift the world out of the material depths in which it was floundering I hoped to meet many other persons who believed as I did that Germany as it was at the end of the war provided an excellent opportunity to introduce a new way of living effectively.

Action, whether instinctive or resulting from thought, always produces effects. Thoughts also produce effects even if not immediately resulting in action. Both thoughts and actions are causes and their effects are inevitable whether they are immediately obvious or not. As like attracts like, so violence attracts violence and hate attracts hate, and when wars are carried out with violence, hatred and cruelty, they will only engender violence, hatred and cruelty. The recent war has left much misery which causes people to hate one another and this hate will gather and grow until it finds its outlet once more in another war Hateful thoughts and actions will bear their fruits for this world is a marvel of law and order and each thought or action brings a just rebound according to its nature There is one factor only which can break this vicious circle and that is love, if it be pure and unselfish Just as in a household where no love exists one meets with discord, unhappiness and trouble, so the opposite is true and in a house where true love exists one finds harmony, happiness and peace It would seem that if enough human beings could love unselfishly the state of war could not exist. This is so very obvious and is worth striving to attain, but there are many who believe it to be impossible and who wonder what is going to teach the human being how to love universally.

There are several ways in which he will learn and is learning, though very painfully and slowly. Firstly, persons who are aware of the power of

universal love should redouble their efforts in spreading love about them in the spiritual, mental and physical world so that others will feel it, see it and react to it. The poorest man cannot fail to be affected by it, be it only for a moment and the effect will gather strength each time he comes in contact with it. Secondly, he will learn by a long process of trial and error. We all have individual experiences through which we may learn what is essential to our individual growth and at the same time we take part in group experiences for the same purpose. The world has not yet learned in spite of thousands of wars that war brings no advancement but only retards progress in every way. Similarly, an individual will face endless variations of one and the same experience until he has learned his particular lesson. A man will go through many experiences of unhappy love, for instance, until he finally learns that selfish love can never bring happiness and, realising this, he may then learn to love a person unselfishly. Having loved the one unselfishly he will learn gradually to love all as one-as a whole.

Few individuals are able to benefit from their physical experiences and they continue repeating the same errors such as, to give a common enough example, maltreating their bodies though they know that they will suffer as a result. Fewer still are those who are able to analyse their life experiences more deeply in order to see what can be learned from them. There are people who continually suffer material losses and never realise that this condition will repeat itself until they have lost the desire for material possessions and cease to believe that happiness can be found in them. The constant suffering from loss will eventually teach them to seek their happiness in something more lasting. Those who fear will be faced with whatever causes their fears until they learn to overcome fear. The proud will be dashed to the ground many times before they learn the meaning of humility. Man creates with his thoughts and still he does not realise that conditions repeat themselves even as his thoughts circle always within the same narrow limits. Few are aware of this repetition but repetition there must be until the lessons are learned by heart-until man can practise universal love which conquers all things-until man finds his own Self once again and knows that to hurt others is to hurt oneself since all is contained within the Self.

This being the purpose of life, the process is slow and painful in the beginning but gathers momentum as man begins to approach a knowledge of spirit. Every being which finds its way back to Being makes the path more easy for those who have to follow. It is by individual effort only through that peace will be reached, a peace in which men may develop and grow together in harmony. When enough individuals have overcome their own selfish desires, fears and hatred, wars will not be necessary as teachers and will not be able to manifest because there will not be enough material upon which they can feed and exist.

Establishment of World Peace.

BY PROF HIRALAL R KAPADIA, M A.

[श्री० प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापडियाने प्रस्तुत लेखमें भ. महावीरके अहिंसा सिद्धान्त की उपयोगिता सिद्ध करते हुये उसके द्वारा विश्वशान्तिकी स्थापना संभव बताई है। प्रत्येक व्यक्ति लोकमें सुख शान्तिका साम्राज्य देखना चाहता है, परन्तु वह सुगम नहीं और न मानवका यह स्वप्न अभीतक सर्वांगरूपेण पूर्ण हुआ है। फिरभी विश्वशान्तिको स्थापित करना आवश्यकही है। भ. महावीरने अपने पूर्व भवोंसे निखिल लोकको सत्यानुयायी बनानेका सतत उद्योग किया था। लोकमें असंतोषका एक मुख्य कारण असहिष्णु भाव है। लोग मतभेद होनेपर दूसरे पक्ष की बात सुनना नहीं चाहते हैं और द्वेषको सिरजते हैं। महावीरने मानवको इस प्रवृत्तिसे सावधान किया और उसे अनेकान्त सिद्धान्त बताकर विशाल दृष्टि दी। सत्यके सर्वांगपूर्ण दर्शन परिमित बुद्धि नहीं कर सकती। महावीर जैसे पूर्ण पुरुषही सत्यके सर्वांगीण दर्शन कर सके थे। अतएव उनकी अनेकान्त दृष्टिसे मानव मतभिन्नताजन्य असंतोषका अन्त करके विश्वशान्तिमें बाधक कारण को मिटा सकता है। अनेकान्तवाद वास्तवमें अहिंसाकी ही रूप वाणी, प्रयोगमें—बोलचालमें है। अहिंसाका प्रकाश मानवके कार्य-व्यवहारमें होता है। अनेकान्तमें सभी दृष्टिकोण सन्निहित हैं। अत. अनेकान्तवादी विपक्षीको शत्रु नहीं समझेगा बल्कि वह उसके दृष्टिकोणको समझकर समाधान करेगा। विपक्षी शत्रुकी बात समझने की क्षमता पानेके लिये अत्यन्त नैतिक साहस अपेक्षित है। जैन न्यायमें नयवाद – सप्तभंगी वाणी आदि द्वारा अनेकान्तका विशद विवेचन है। आज अर्द्धसत्य – संदिग्ध भाषण करना बहु प्रचलित है। यह भयंकर है – इससे तो निरा असत्य संभाषण इतना भयंकर न होगा। अनेकांतवाद एकपक्षीय वक्तव्य देनेमें मानवको सावधान करता है। अनेकान्त संशयवाद नहीं, बल्कि सर्वतोपूर्ण सत्य है। वह मानवबुद्धिकी संशयोंको मेटता है। अहिंसा सिद्धान्तका पालन भारतमें गत २५ वर्षोंसे किया जा रहा है और जैनोंके लिये तो यह सिद्धान्त प्राणरूप है। जैन गृहस्थोंके जीवनकी प्रत्येक धारा अहिंसासे अनुप्राणित है। हिंसाका पूर्ण त्याग जैनमुनि करते हैं। अहिंसा की परिधि अनन्त प्रेममें सीमित है। सच्चा अहिंसावादी यह मानेगा कि "वह प्रत्येकसे प्रेम करता है। जो व्यक्ति उसे क्षति पहुंचा चुका है उसके प्रतिभी वह मैत्रीका व्यवहार करता है-कोई उसे क्षमा करो या न करो, वह सबको क्षमा करता है। उसके हृदयमें किसीके प्रति द्वेष नहीं होता। शत्रुके प्रतिभी समताभाव होता है। वस्तुतः अहिंसा सिद्धान्त मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं पर टिका हुआ है। साथही अहिंसावादी अपनी आकांक्षाओं और आवश्यकताओंको सीमित—अत्यल्प करके सम्पत्तिका समुचित बटवारा सन्निधिमें होने देता है। यहभी उसका अहिंसा धर्म है। जैन साधु तो परिग्रह नामका एक धागा भी नहीं रखते। महावीरका यह त्यागमय-अपरिग्रह मतभी विश्वशान्तिकी स्थापनामें प्रमुख कारण है? एटम बॉम्ब अथवा अन्य घातक शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगसे विश्वशान्ति नहीं सिरजी जा सकती। विश्वशान्तिकी स्थापना महावीरके उपर्युक्त प्रकारसे अहिंसा धर्मको पालनेसेही हो सकती है। लोकके राष्ट्रनेताओंको इस सत्यको जल्दी स्वीकारनेमें विश्वका कल्याण है। —का. प्र.]

Everybody hankers after real perfect and eternal happiness. Some persons believe that there can be no such happiness unless there was peace everywhere in the world–the World wherein geographical distance is now no more a barrier for speedy and direct communication. It is rather very very doubtful that the whole world may give up the very idea of raging wars, righteous or unrighteous, civil or otherwise, and may thus create a paradise to live in this very mortal world This presupposes that the animal-spirit of gaining one's and even at the cost of others', gives way to the golden rule of 'living and letting others live' not because it is paying but it is to be observed for its own sake This is an ideal — a desideratum which has not been completely fulfilled so far, though cherished by many a noble-minded personage from times immemorial. Even then a serious attempt in this direction means no loss Not only does it harm none but it adds to the welfare of at least the person who practises it Let us see what steps have been suggested and followed by Lord Mahāvīra (599 B C –527 B C) who earnestly cherished the grand desire in his last but two birth to make one and all the human beings embrace Truth in its highest and perfect form, and who left no stone upturned to fulfil this ambitious and highly desirable goal of his

One of the factors that leads to trouble is lack of Catholic spirit of toleration and broad outlook Some persons are so very haughty that they think it quite unnecessary to give a patient hearing to others who hold a view different from theirs. If one were to avoid this pitfall, not only one will not lose any thing but one will succeed in getting this trouble nibbed in the very bud. It will be an enormous gain, if one were to go ahead by trying to consider fully other views than one's own–no matter even, if they are two poles asunder and thus seemingly irreconcilable owing to fundamental difference To try to understand why another individual holds a different-contrary view, requires a great deal of courage and ability The highest step in this direction, is to come to a final decision, and to boldly pronounce it in unambiguous terms These are the main steps which, if followed, can eradicate the chance of misunderstanding and misrepresentation so very common in these days, can smoothen spiritual progress and thus lend a helping hand in establishing world peace, a dream of an idealist.

Lord Mahāvīra had wiped out one and all the passions for ever and could therefore perceive and practise Truth–whole Truth, though multifarious, and of which an ordinary man can hardly see even one face or aspect This Truth is reflected in toto, in his general sermons which have for their adamantine basis, the two eternal principles of *anekāntavāda* and *ahimsā* The former belongs to the domain of speech, a visible force, and the latter to conduct or behaviour, rather difficult to be properly judged at times even by one self.

Anekāntvāda has a number of synonyms such as *syādvāda*, *samhāravāda*, *vibhajyavāda*, *sankīrnavāda*, *ākalavāda*, *tad-atad-vādā*, *sarvavastuśabalavāda*

and the like. It means a statement which gives a due place to all the view-points including those of the opponents and rivals and which though, in a way one-sided (as it comes within its own range and recoils on itself) is all-embracing [1]

This doctrine of the *Jainas* clearly enunciated and fully resorted to by their *Tīrthankaras* is unlimited in sphere, for, not only an epistemological discussion but even a metaphysical question and an ethical one, too, come within its domain It is the fundamental theorem of the *Jain nyāya,* and it has *nayavāda* and *saptabhangī* as its corrolaries. It is the master-key of opening the heart-locks of different religions It is the main fountain of temporal and spiritual progress. It is the theory of cumulative truth. Such being the case, if *anekāntavāda* is properly understood, preached and sincerely practised, it will solve a number of our present-day problems without falling a prey to adopting a policy of telling half truths which are more dangerous than naked falsehood For *anekāntavāda* warns us to guard ourselves from making one-sided statements and regarding them as absolutely true. This *anekāntavāda* is not scepticism-not even pragmatism. It gives a definite answer-only one answer, when the standpoint is specifically mentioned, and it thus never leaves us in doubt about the nature of any object or problem.[2]

Anekāntvāda is *ahimsā* in speech, and as such it forms a part and parcel of the noble and ennobling doctrine of *ahimsā* So I shall now say a few words about *ahimsā*

Lord Pārśva (877 B C – 777 B. C), the 23rd *Tīrthankara* of the *Jainas,* propounded the four *yāmas* and Lord Mahāvira, the last (24th) *Tīrthankara* who flourished in India in this present Hundā-avasarpinī-cycle of time, said the same thing when he enunciated the five *mahāvratas* (great vows) viz. abstention from (a) *himsā*, (b) untruth, (c) stealth, (d) non-celibacy and (e) possession (*parigraha*)

The doctrine of *ahimsā* has been known and practised in India at least for the last 35,00 years, and it has been the very life-breadth for the *Jainas*, for it permeates all walks and modes of life of even the Jaina laity. Complete cessation from *himsā* is prescribed for the *Jaina* clergy by their *Tīrthankaras* not with a view to furnishing them with an ideal for an ideal sake but with the full understanding that this highest ideal can be so realised in the final and highest stage of their life.

Amongst all the vows, small or great, *ahimsā* holds the foremost place, for, it is like a field, and the rest of the vows are like hedges to protect it.

---

1. See *Sammaipayarana* (III, 47)

2. For a detailed exposition of *anekāntavāda* see my book *The Jaina Religion and Literature* (Vol I, pp 160-176) and my introduction (pp. CVII-CXXI) to *Anekantajayapatākā* (Vol II)

Ahimsā which was translated as Non-violence by Mahatma Gandhi and which means more than this word 'non-violence' when taken in its ordinary sense connotes, is not merely a negative virtue Its province of love knows no bounds. A true follower of *ahimsā* can say-nay assert. I love one and all. I am a friend of even those who have done harm to me through negligence or otherwise, and they, too, are my friends So I forgive their faults It does not matter at all, if any one of them does not forgive me I have love for all the living beings and have enmity for none--not even for the offender

This doctrine of *ahimsā* is based upon the following four cardinal virtues known as *bhāvanās* --(i) *Maitri* (amity-love), (ii) *pramoda* (serene joy) (iii) *kārunya* (compassion) and (iv) *mādhyasthya* (detachment).[3]

One should curtail one's wants and should set a limit to one's possessions. One should not even dream of depriving others of their legitimate possessions. This one can do, provided one has annihilated the evil attachment to possessions. This means one should take the vow of *aparigraha* which a *Jaina* Saint is expected to observe in all its bearings. Renunciation of possessions, a corollary of the theorem of *ahimsā*, will go a great way in bringing about peace at home and abroad

It is not the incessant dread or throw of atom-bombs or even deadlier weapons than these that can bring about world-peace If it is ever to be achieved, it will by the correct understanding and exposition of the gospel of *ahimsā* (in thought, word and deed) and its thorough and sincere application regarding diet, dress, occupation--in short, any and every walk of life. Let us hope that the magnates of the world who delight in drinking deep from the fountain of rank materialism will soon realise this and quickly commence to wear the golden diadem of spiritualism (*adhyātmavāda*) studded with priceless jewels in the form of the *mahāvratās* freely given by every sagacious seer of the world.

---

3 For further particulars about *ahimsā* the reader may refer to my paper intitled "The Doctrine of Ahimsā in the Jaina Canon" It is being published in instalments in the "Journal of the University of Bombay." Two have been already published in Arts Nos 21 (pp 89-118) and 22 (pp. 72-96), and the third is in press.

The Urgent Necessity of Universal Love and Non-Violence.

By Śrī Thomas H Lawrence, Liverpool.

श्री टॉमस लॉरेन्स सा० ब्रिटिश सेनामें एक अफसर है। जैनधर्मकी शिक्षासे वह प्रभावित हुये है। [illegible] लेखमें उन्होंने विश्वशान्तिके लिये अहिंसाको अचूक औषधि बताया है। [illegible] लिखते हैं कि तीसरा एटम-युद्ध प्रारंभ हो उसके पहलेही लोकको अहिंसाधर्मानुयायी हो जाना आवश्यक है। मानवने अभीतक—युद्धका विनाश और हाहाकार देखकरभी—पशुबलकी निरर्थकता नहीं पहचानी और अहिंसाकी उपयोगिता नहीं जानी, यह आश्चर्य है। मानव परमात्माको भूले हुये है! यहूदी कहता है कि जो तुमको अप्रिय है उसका प्रयोग अपने पड़ोसी पर मत करो। अरब कहता है कि अपने साथी भाईके साथ वैसा व्यवहार मत करो जैसा वह तुम्हारे प्रति नहीं चाहता। इसपर भी फिलस्तीनमें यहूदी और अरब रक्तपातमें संलग्न है। ईसाई कहता है कि लोकमें शान्ति हो—मानवोंमें समभाव फैले। किन्तु ईसाई ईसाई आपसमें बराबर लड़ते आ रहे हैं। हिंदू-जैन-बौद्ध-पारसी-कन्फ्यूशियन आदि सभी धर्मवाले सद्भाव की बात कहते हैं। किन्तु उनके ही अनुयायी बच्चे-बूढ़ों-जवान—औरतों सबका वध करते हुये नहीं हिचकते। मानव भूल गया है कि द्वेषसे द्वेषका अन्त नहीं होता। प्रेम सर्वजयी है, किन्तु मानवको उसकी शक्तिमें विश्वास नहीं। मानवको भूलजाना चाहिये कि वह भारतीय, अंग्रेज, चीनी, अमरीकन, रूसी, पोल, फ्रेन्च, ग्रीक, अरब आदि है। वह अन्तर्राष्ट्रीय 'मानव' बन जावे और भाषाका भेद भुला दे। म०गांधीने अपने विश्वप्रेम और अहिंसाके प्रयोगद्वारा विशेष सफलता पाई थी। अमरीकाके एटम बॉम्बसेभी अधिक सफल वह हुये। लोक सत्य और अहिंसाकी शक्तिको पहिचानता जा रहा है और वह दिन जल्दी आनेवाला है जब लड़नेवाले केवल राष्ट्रनेतागण ही रह जायेंगे। जनमत उनका साथ नहीं देगा और तब युद्धहो ही नहीं सकेंगे। अतएव विश्वशान्तिके लिये अहिंसाका प्रचार होना आवश्यक है। सब देशोंमें अहिंसाधर्मकी शिक्षा देनेकी प्रबंध होना चाहिये। लोकका कल्याण इसीमें है। —का० प्र०]

It is imperative that the creed of Universal Love and practice of Non-Violence be accepted by the nations of the world before we stupidily hurtle into the atomic war of self-destruction

World wars have come and gone bringing only bitter grapes as the fruits of victory.

Already, atomic weapons of annihilation are being hammered out on the anvils of nations East and West and Scientists the world over are probing deeper and deeper into the diabolic plans for Bacteriological warfare.

The blood upon the fields, the entrails in the dust; the nibbled towns; the glass eyed children and broken emaciated women clinging to more broken and tattered men in clotted sadden unproud uniforms are the harvestings of

war. Mankind has still not realised the futility of conquest by force and fails to see the greater possibilities of Victory in Universal Love and non-violence. Man has strayed away from God and Sanity.. God is left out of the councils of men and Love is locked out of the world's bedchamber.

The Jew says "whatever you do not wish your neighbour to do unto you do not unto him." The Arab says "Let none of you tread a brother in a way he himself would dislike to be treated" Although their ideologies differ they both possess the universal soul and yet in Palestine they screep their Torahs and their Korans and slaughter, crying aloud against their neighbours actions ..

"Peace on Earth, Goodwill unto all men" says the Christian world and yet since first the words were uttered Christian has fought Christian and not been averse to invoking the aid of the almighty for his side!

All Religions have that one wonderous Golden Universal Rule so admirably expressed in Hinduism.

"The True Rule is to do by the things of others as you do by your own," Jainism, Buddhism, Zoroastrianism, Confucianism, Taoism, and the Bahai Cause say the same, wording it differently and for all that we still girt our armour on and go out and slaughter our brothers, his children and take unto ourselves his women and leave them raped among the nibble that was once his civilisation . and when we return we find he has done likewise to our possessions and hatred is the more engendered In our blind fury we forget that Hatred cannot kill Hatred only Love can and all through the centuriés, ever since Time began love has waited and still waits

Man is still afraid to take the risk of Love and Non-Violence working the miracle he has so long striven by force of arms to gain a world of Non-Violence, Universal Love and Peace.

He must forget that he is Indian, British, Chinese, American, Russian, Pole or French, Spanish, Greek, Egyptian, Syrian, Arab or Jew. He must be first and foremost International He must break down the Barrier of language and then he must tear down the veil of ignorance These two things keep Universal Love and Non-violence from creating the wonderous glorious Golden World of Peace we seek.

Mahatma Gandhi achieved more by his belief and practice of Universal Love and Non-Violence than America did with her two atom bombs upon Nagasaki and Hiroshima

Until such time as Universal Love and Non-Violence becomes the Policy of the Nations Hatred will still feed Hatred and Life and its procreation will be a useless negation the Nature did not give us life that we might destroy it and as gave so will it take away unless we humble ourselves and remember that Victories are never won in Strife-the only lasting victories are won in Love...

" Greater Love hath no man than that he lay down his life for a friend " but that is said the world over. Friend and Foe are ordered to kill or be killed and then when it is all over man weeps because he has killed He cries out that he will never again slay or slaughter but forgets his high Ideal. His Universal Love and appreciation of Non-Violence came often to him in the head of Battle when strife ripped off his callous human flesh and laid leave his Universal Soul Yes, Man knows he has Universal Love to try...Man knows he can win greater battles by Non-Violence Slowly he is learning and soon the Nations, leaders will not be able to go to war because they alone will be the only fighters.

Man is growing tired of procreating that Cannon Fodder enrich the fields of the world and he has seen the children of his enemies and his women and has loved them both-proving the universality of love and these he could not hurt.

When he has grown to know and understand his enemy he has felt a kinship with him and so slowly and surely the unified action of Friend and Foe desiring not to hurt will create an international body of Non-Violence that will bring to a halt the violence of a world gone mad...God will return unto men and Sanity will reign .

We must lift high the banner, we must unite through all the lands, lest the forces of evil undermine our foundations

The world needs universal love and mankind wants to try out Non-Violence The need of them is vital for humanity's sake.

The United Nations should make the teachings of Universal love and Non-Violence compulsory in all countries of the world..

Hitler said that in Youth was his perpetual source of strength and supply and what a cancerous monster he created.

The United Nations can make a universal world of Love and Non-Violence by teaching the world's Youth Universal Love, and Non Violence. We must not fail .we shall not fail God is with us and Non-Violence prevail. Mahāvīra's teaching of Universal Love will shine and reign, which emphatically proclaims —

" Fight with your Self, Why fight with external foes ? He who conquers himself, will obtain happiness ! "

" Heroes (of faith) who desist (from sins) and exert themselves aright, who subdue wrath, fear, etc., will never kill living beings. Thy desist from sins and are entirely happy."

Ahimsā in Sino-Indian Culture.

By Prof. Tan Yun-shan

(Director, Viśva-Bhārati Cheena-Bhavana and Cultural Representative of China in India)

[प्रस्तुत लेखमें चीनके सांस्कृतिक प्रतिनिधि प्रोफेसर तान युन्शानने चीनकी प्राचीन संस्कृतिमें अहिंसाका दिग्दर्शन कराया है। उनका कहना है कि भारतीय और चीनी संस्कृतियोंका मुख्य लक्षण अहिंसाही है। संस्कृति समस्त मानव जीवनद्वाराही सिरजी जाती है। संस्कृति मानव समाजके अभ्युदयका मापदंड होनेके साथही उसका पथ प्रदर्शक भी है। संस्कृतिके कारणही मानव जीवन इतर जीवनसे विशेष और विशद ठहरता है। संस्कृतिसे ही मानव अपने जीवनका मूल्य और अर्थ समझता है और उससे वह अपना ध्येय प्राप्त करता है। उस ध्येय प्राप्तिमेंही शाश्वत शान्ति, प्रेम, सुख और स्वातंत्र्य है। इस अपेक्षा भारत और चीनकी संस्कृतियोंमें बहुत समानता है। चीनके प्राचीन बौद्ध विद्वानोंने अहिंसा शब्दका अनुवाद चीनी भाषामें "पु-हइ" शब्दसे किया था अर्थात् किसीकी हिंसा न करना। उसका सीधा रूप संस्कृतमें 'मैत्री' और चीनी भाषामें 'जेन' होता है। इन दोनोंका भाव एकही है। यद्यपि चीनी लोग 'जेन' शब्दका व्यवहार करना अधिक पसन्द करते हैं। मैत्रीपूर्ण व्यवहार करनेके लिए अहिंसाकी साधना आवश्यक है। इसी लिए संसारके प्रत्येक बड़े धर्ममें इस प्रकारके चारित्रनियम निर्धारित किए गए हैं। अहिंसा और संस्कृतिका अनादि सम्बन्ध है। गांधीजीने कहा था ▪ सत्य और अहिंसा इतनेही प्राचीन है जितने कि ये पर्वत-मालायें हैं। भारतके 'ऐतरेय ब्राम्हण,' 'शतपथ ब्राह्मण' 'छान्दोग्य उपनिषद,' 'वामन पुराण' और 'मनुस्मृति' जैसे प्राचीन शास्त्रोंमें अहिंसाका वर्णन मिलता है। इसी लिए 'महाभारत'में अहिंसाको परम धर्म कहा है। गांधीजी भी यही कहते थे। किन्तु अहिंसाका संदेश गम्भीर और वैज्ञानिक व्यवस्थाके रूपमें पहले २ जैन तीर्थंकरो और उनमें भी सर्व अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्धमान द्वारा किया गया था। उनके बाद महात्मा बुद्धने भी अहिंसाका प्रचार किया। इस जमानेमें महात्मा गांधी अहिंसाके प्रचारक हुए। चीनी लोग अहिंसाकी अपेक्षा मैत्री सूचक 'जेन' शब्दका अधिक प्रयोग करते है। चीनी महात्मा कानिव सब मानवोंसे प्रेम करना और अपने अन्तर पर अधिकार करना "जेन"से अभिप्रेत करते हैं, इनका कहना है कि किसी दूसरेके प्रति ऐसा व्यवहार मत करो जैसा तुम चाहते हो ▪ दूसरे तुम्हारे साथ न करें। एक बार उन्होंने कहा कि गुरुत्व, उदारता, ईमानदारी, उत्साह और दयाका व्यवहारही जेन है। म० कन्फ्यूशस कहते थे कि जेनका पालक परम धर्मात्मा होता है वह सबसे, द्वेष नहीं, प्रेम करता है। चीनका ईचिंग नामक ग्रंथ उनके लिये वेद तुल्य है उसमें लिखा है कि मैत्री द्वाराही मानवकी उन्नति होती है। लोक और परलोकमें जीवन सारभूत है और महात्माका पद एक महान रत्न है। उसकी रक्षा जेन (मैत्री) द्वारा होती है। सूचिंग नामक ग्रंथमें लिखा है ▪ मानवोंमें कोई स्थिर प्रेम नहीं है। अतः जेनके गुणोंका विचार करना ठीक है। चुनचुन नामक अन्य ग्रंथका उपदेश है कि मानवताका मुख्य लक्षण जेन अर्थात मैत्री है। और उसका व्यावहारिक रूप मानवोंसे

प्रेम करना है। इन उल्लेखोंसे जेनका अर्थ विश्व प्रेम स्पष्ट होता है। चीनमें इसका पहले उपदेश आजसे २५०० वर्ष पहले महात्मा कन्फ्यूशसने किया था। उनके पश्चात् ईस्वी सन् ३८२ से पहले महात्मा मशियसने इसकी विशद विवेचना की थी। इनके पश्चात् प्राय: सभी चीनी विद्वानोंने इसका वर्णन किया है। वर्तमानमें चीनप्रजातंत्रके पिता डा. सुनयेतसेनने जेनका वैज्ञानिक विवेचन अपने त्रिसूत्री मानवी सिद्धान्तमें किया था, जिससे चीनको राजनैतिक मुक्ति मिली और चीनी संस्कृति की जागृति हुई। महात्मा मैत्रियसने पहले २ जेनका प्रयोग व्यवहारिक राजनीतिमें किया था। उन्होंने यांगके राजा हुई को यह उपदेश दिया था कि वह किसीको लाभ पहुँचाने की चिन्ता न करे। बल्कि येन अर्थात मैत्री और ई अर्थात सत्य धर्म फैलानेका प्रयत्न करे। उन्होंने चीनके प्रत्येक राज्यमें जाकर अपना यह सन्देश फैलाया था। उनका कहना था कि मैत्रीपूर्ण मानवका कोई शत्रु नहीं होता। चीनके एक दूसरे बडे महात्मा लाउ-त्सु नामक थे। उन्होंने नकारात्मक रूपमें इस सिद्धान्तका प्रयोग किया था। उन्होंने पशुबल, शस्त्रास्त्र और युद्धको बुरा बतलाया था। उनका कहना था कि जो मानव धर्मपूर्वक किसी शासनकी सेवा करते हैं वे शस्त्रास्त्र केवलसे किसी राजको नहीं जीतते। इससे उन्हें पुण्यलाभ होता है। जहां सेनायें छावनी डालती हैं वहां बबूल और कांटे होते हैं। भले आदमी विजय पाकर रुक जाते हैं। वे पशुताके कार्य नहीं करते और न घमण्डमें फूलते हैं। शस्त्रास्त्र तो अमांगलिक हैं। सब जीव उनसे घृणा करते हैं। अतः जिनको धर्मपर विश्वास है वे उनसे दूर रहते हैं। श्रेष्ठ सैनिक लडाकू नहीं होते और श्रेष्ठ योद्धा क्रोध नहीं करते। महान विजेता वे हैं, जो बिना लडे ही अपने शत्रुओंको जीत लेते हैं। ईसवी सन्से ५०० वर्ष पहले मों-त्सु नामक महात्मा हुए थे। उन्होंने भी अहिंसाका उपदेश दिया था और युद्धको बुरा बतलाया था। एक बार उन्होंने सुना कि चीन राज्यका राजा सुंग राज्यपर धावा बोलने वाला है तो वह अपने स्थानसे बराबर २० दिन रात चलकर चीनके राजाके पास पहुँचे और उन्हें आक्रमण करनेसे रोका। उनका मत था कि प्रत्येक प्राणी प्रेमसे रहे। कोई किसीसे लडे नहीं और न कष्ट पहुँचाए। प्रेम न करनेसे ही सारी आपत्तियां आती हैं। संसारमें सबसे बडा पाप है बलवान राज्योंका निर्बल राज्योंपर आक्रमण करना, बडे कुलोंका छोटे कुलोंपर झपटना और बलवानोंका कमजोरोंको दबोचना मानते थे। इस प्रकार चीनी महात्माओंके उद्गारोंसे अहिंसाका महत्व स्पष्ट है। भारतमें तीर्थंकर महावीर और शाक्यमुनि बुद्धने अहिंसा सिद्धान्तके अनुसारही अपने धर्मोंका प्रचार किया था। जैनधर्म और बौद्ध धर्ममें इतना साम्य है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानोंने दोनोंको एक माननेकी गलती की थी। अलबत्ता दोनोंही धर्म अहिंसाको प्रधान मानते हैं। अहिंसाके साथ सत्य जुडा हुआ है। महात्मा गांधी कहते थे कि सत्य और अहिंसा ऐसे हिलेमिले हैं कि उन्हें पृथक करना असम्भव है। वे ऐसे हैं जैसे एक सिक्केके दो पहलू। सच पूछा जाये तो अहिंसा सत्य और प्रेम ईश्वरके ही तीन रूप हैं। इनके साथही न्याय, क्षमा, निर्भयता, निस्वार्थ-भाव आदि गुण लगे हुए हैं। गांधीजी तो अपने शत्रुसे भी प्रेमका व्यवहार करने की बात कहते थे क्योंकि अहिंसाकी चरमसीमा क्षमा है, और वह एक वीरका लक्षण है। अहिंसा निर्भयताके बिना असम्भवही है। अहिंसा की आधारशिला निस्वार्थभाव है। लोकके सभी प्राणिओंमें एकसा जीवन और आत्मा है। उनके जन्ममरण एकही स्थानसे है। जैसे एक पेड की जडसे उसके पत्ते शाखा फूल फल सम्बंधित है, वैसेही लोकके प्राणी हैं। अतएव हम सबके हैं, सब हमारे हैं। चीनके महात्माओंका भी यही मत है। वह कहते हैं कि स्वर्ग, पृथ्वी और मेरा जन्म एक साथ हुआ सब प्राणि एक है और मेरे जैसे हैं। सब प्राणियोंसे प्रेम करो। सब लोग मेरे भाई हैं और इतर

प्राणी मेरे साथी हैं। अतः मानवोंसे ही नहीं बल्कि प्राणि मात्रसे प्रेम करना चाहिए। उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। ईसा मसीहकाभी ऐसाही उपदेश था। भगवान् महावीरने भी इस उपदेश को खूब फैलाया था। उनका कहना था कि मनुष्य सब जीवोंपर दया करे, सबसे समताका व्यवहार रक्खे, अपने साथियोंसे विरोध न करे। चूंकि सब प्राणी दुःखसे घबड़ाते हैं, इसलिए किसीकोभी नहीं मारना चाहिए। सुख दुःख सबमें समताका व्यवहार रक्खो और ऐसा व्यवहार मत करो जो तुम्हें स्वयंही अप्रिय हो। यही कारण है कि बहुतसे हिन्दू मुख्यता जैन और बौद्ध मांस भोजन नहीं करते हैं। जैनी तो हरी साग-भाजी भी नहीं खाते हैं, क्योंकि वे सचित्त होती हैं और पीड़ा पहुँचाना पाप है। जैनी पानीभी छानकर पीते हैं। वे एक कीड़ेकी भी हिंसा नहीं करते हैं। असमर्थ पशुओंके लिए उन्होंने पशुशालाएँ भी खोल रक्खी हैं। कुछ लोग समझते हैं कि जैनियोंकी यह अहिंसा अव्यवहारिक है। किन्तु यह धारणा गलत है। यह अव्यवहारिक इस लिए मालूम होती है कि मानवने अभी इतनी उन्नति नहीं कर पाई है। जब मानव उन्नति करलेगा तब सबलोक इस अहिंसा धर्मको पालने लगेंगे। इस प्रकार भारतीय चीन संस्कृतिमें अहिंसाकी महानता स्पष्ट है। इतिहास इसका साक्षी है कि भारत और चीनने आज तक किसीभी दूसरे देशपर आक्रमण नहीं किया और न दूसरे लोगोंको लूटा यद्यपि इन दोनों देशों-पर अनेक आक्रमण हुए और लूट भी हुई। विशेषता तो यह है कि भारतियों और चीनियोंने इन जातियोंके लोगोंको अपनेमें मिला कर हज़मकर लिया जिन्होंने इनपर आक्रमण किया था। अतएव मेरा निवेदन है कि चीनी और भारतीय दोनों मिलाकर दुनियामें अहिंसा संस्कृतिको उन्नत बनाएँ जिससे लोकमें सुख और शान्तिका साम्राज्य स्थापित हो। —सं.]

If the question be asked, " What is the main thing in common between China and India?" I would answer, it is our common culture. If it be further asked, " What is the chief characteristic of this common Indian and Chinese culture?", my unhesitating answer would be, it is Ahimsā. Hence the title of this article: Ahimsā in Sino-Indian Culture.

" Sino-Indian Culture " is a new term coined by myself about fifteen years ago. It has come into current use since the foundation of the Sino-Indian Cultural Society in both the countries India and China, in 1934 and 1935 respectively.

Culture, in my humble opinion, and to put it in a very simple way, is the cultivation of the whole of human life, and not only of the spiritual side of civilization as is usually regarded. It is the compass, as well as the pilot, of the progress of human society. It gives significance to human life and distinguishes human life from that of plants and animals. It helps man to realise in the first stage the real meaning and value of life, and ultimately to reach its real goal, in which alone there is eternal peace, love, joy, freedom and blessing. In this respect, there is not only much similarity but much identity between the culture of India and that of China. The most striking feature and analogy of these two cultures is the spirit of Ahimsā.

Ahimsā is a word negative in form but with a positive sense. Mahātmā Gandhi translated it into English as " Non-Violence." The ancient Chinese

Buddhist scholars translated it into Chinese as "Pu-Hai," meaning "Non-Hurting" It's positive form is 'Love,' 'Universal Love.' That is "Maitri" in Sanskrit, "Jen" in Chinese. These couples of words, Ahimsā and Maitri, or Non-Violence and Universal Love, or Pu-Hai and Jen, were born married And they could never and would never be divorced or separated. They always carry the same message and disseminate the same gospel together. But the Chinese prefer to use the positive form rather than the negative, while Indians on the other hand prefer to use the negative one. Therefore the Chinese and the Indian have also become an unseparated couple in Culture

Why was the negative word preferred by the Indians? Gandhiji once explained this by saying :— "All life in the flesh exists by some violence. Hence the highest religion has been defined by a negative word, Ahimsā. The world is bound in a chain of destruction In other words, violence is an inherent necessity for life in the body. That is why a votary of Ahimsā always prays for ultimate deliverance from the bondage of the flesh." (C. F. Andrews · Mahatma Gandhi's Ideas p. 138)

The Chinese sage, Mencius, put it in another way. He said —"Men must be decided on what they will not do, and then they are able to act with vigour in what they ought to do" If a man wants to do things good, he must first not do things evil So also if a man wants to love people and other beings he must first not hurt them. If a man preaches Love or Maitri or Jen, but does not practise Ahimsā, or Non-Violence, or Jen, then his Love is no reality. It is merely a false expression or hypocrisy Therefore almost all the great religions in the world uphold a set of precepts to govern the acts of their followers

Ahimsā in Sino-Indian Culture is not only a very prominent feature but also an ancient tradition. It is as ancient as the culture itself. Or as Gandhiji said :— "Truth and Non-Violence are as old as the hills" (The Harijan : 28-3-1936) In India, Ahimsā is one of the most cardinal virtues and doctrines of almost all the religious and philosophical sects It had been repeatedly taught and expressly stated by the Rishis in the ancient scriptures, such as the Aitareya Brāhmana, the Śatapatha Brāhmana, the Chhān-dogya Upanishad, the Vāmana Purāna and Manu's book of Law Therefore it was thus declared in the Mahābhārata — "Ahimsā is the Supreme Religion" And Gandhiji did recite the same words on several occasions. (C. F. Andrews : Mahatma Gandhi's Ideas)

But the Gospel of Ahimsā was first deeply and systematically expounded and properly and specially preached by the Jaina Tīrthankaras, most prominently by the 24th Tīrthankara, the last one, Mahāvīra Vardhamāna. Then again by Lord Buddha. And at last it was embodied in the thoughts, words and deeds and symbolized by the very life of Mahātmā Gandhi.

As Ahimsā is one of the cardinal virtues and doctrines of almost all the philosophical and religious systems in India, so also is it in China. The only difference is, as mentioned above, that instead of using the negative word Ahimsā, the Chinese preferred to use the positive word Jen.

Jen has a vast volume of meanings and a lot of diversities of interpretations Different scholars of different schools have explained it in different times. Even the greatest saint of China, Confucius, gave it a good many different explanations to different persons on different occasions Once asked by his disciple named Fan Chich . What about Jen ? the Master said:-"To love all people." (Confucian Analects) At another time asked by another disciple, called Yen Yuan, about the same, he said — " To subdue one's self and return to propriety, this is Jen." (Confucian Analects). Again answering the same question asked by another disciple, named Chung Kung, the Master said :— " Don't do to others what you would not wish done to yourself." (Confucian Analects) Again at another time another disciple, called Tzu Chang, asked the Master about the same topic, and he said in answering : "To be able to practise five things everywhere under heaven constitutes Jen " When asked what they were, the Master said ,— " Gravity, generosity, sincerity, earnestness and kindness " (Confucian Analects). Confucius also said on several other occasions .— "A man of Jen will always rest in perfect virtue." " Only the man of Jen can always love people " " A man devoted to Jen will have no hatred." (Confucian Analects).

In Yi-Ching, the Book of Change, (the Vedas of China), it has been said — " The superior gentleman realised in the virtue of Jen will nurture people " " The great virtue of Heaven and Earth is life The great jewel of the saint is his position How to maintain his position ? It is by Jen " In Shu-Ching, the Book of History, it is written :— " The people have no fixed affection, but always think of the virtues of Jen " In Chung-Yung, the Doctrine of the Golden Mean, it was said — " Jen is the characteristic element of humanity, and the great exercise of it is in loving all people, especially relatives "

Such passages in ancient Chinese scriptures are rather too many to be quoted one by one here In general, Jen means Universal Love Some European savants rendered it into English as Benevolence and Perfect Virtue. The Chinese classical scholars of Sung Dynasty also explained it as " The entire virtue of the heart " I think the Sanskrit word Maitrī as understood by Buddhist religion and philosophy is the nearest equivalent to it.

This gospel of Jen was first properly taught and preached in China about twenty-five centuries ago by the greatest Chinese saint Confucius (551-479 B. C.). Then again it was more profoundly and systematically expounded and disseminated by the great Chinese sage Mencius (372-289 B C.) Afterwards almost all the classical scholars of all the dynasties of China's long

history cherished, promoted and propagated the same message but explained and interpreted it according to their own ways. In modern times, Dr Sun Yat-Sen, the father of the Republic of China, had scientifically employed the lofty ideals of Jen in his San Min Chu Yi, the Three People's Principles, for his national movement for the emancipation of China and the renaissance of Chinese culture

Mencius was the first sage who attempted to apply this perfect doctrine to practical politics. When he first met king Hui of the Liang state, the king asked :— " Venerable sir, since you have not counted it far to come here, a distance of a thousand miles, may I presume that you are likewise provided with counsels to profit my kingdom ? " He replied : " Why must Your Majesty use that word ' profit ? ' What I am ' likewise ' provided with, are counsels to Jen and Yi or benevolence and righteousness, and these are my only topics. If Your Majesty say, ' What is to be done to profit my kingdom ? ' the great officers will say ' What is to be done to profit our families ?' and the interior officers will say, ' What is to be done to profit our persons ? ' Superiors and inferiors will try to snatch this profit, the one from the other, and the kingdom will be endangered ... . There never has been a man trained to Jen or benevolence who neglected his parents. There never has been a man trained to Yi or righteousness who made his sovereign an after consideration. Let Your Majesty also say, Jen and Yi or benevolence and righteousness and these shall be the only themes ' Why must you use that word ' Profit ? ' " (The works of Mencius).

With this noble mission, Mencius went from state to state and preached to and discussed with the kings one after another. Although none of them did actually act on his wise advice and made real avail of his presence, he had left behind an inextinguishable spirit of love, mercy and benevolence in the Chinese polity through all the long centuries. A few passages from his exhortations to the heads of the different states and his discourses with his disciples will illustrate a little more his lofty ideals.

" The man of Jen has no enemy."

" Treat with the reverence due to age the elders in your own family, so that the elders in the families of others shall be similarly treated , treat with the kindness due to youth the young in your own family, so that the young in the families of others shall be similarly treated."

" The carrying out of his kindly heart by a prince will suffice for the love and protection of all within the four seas, and if he does not carry it out, he will not be able to protect his wife and children "

" Jen or benevolence is the most honourable dignity conferred by Heaven, and the quiet home in which man should dwell."

"Benevolence is the tranquil habitation of man, and righteousness is his straight path."

"The benevolent man loves others. The man of propriety shows respect to others."

"Jen or benevolence is man's heart, and Yi or righteousness is man's path."

"Benevolence subdues its opposite just as water subdues fire. Those, however, who now-a-days practise benevolence do it as if with one cup of water they could save a whole wagon-load of fuel which was on fire, and when the flames were not extinguished, were to say that water cannot subdue fire. This conduct, moreover, greatly encourages those who are not benevolent." (The Works of Mencius)

Lao-Tsu, another of the greatest saints of China, elder than Confucius, was perhaps the only Chinese who preferred to use the negative rather than the positive phraseology in discourses on his principles. He would like to lay stress more on the passive side of things rather than on the active side. For instance, the Confucianists used to say: "The heart of Heaven is benevolence and love," but he said:—

"Heaven and Earth are not benevolent, they treat all created things like straw dogs we use at sacrifices. The saint is not benevolent, he looks upon the people in the same way." (Lao-Tsu: Tao Te Ching.)

Again he said:—

"Tao is eternally inactive, and yet it leaves nothing undone. If kings and princes could but hold fast to this principle all things would work out their own reformations. If, having reformed, they still desired to act, I would have them restrained by the simplicity of the Nameless Tao. The simplicity of the Nameless Tao brings about an absence of desire. The absence of desire gives tranquillity. And thus the Empire will rectify itself." (Lao-Tsu. Tao Te Ching.)

Lao-Tsu was also perhaps the first sage, not only in China but in the world at large, who openly and strongly opposed the use of violent force and weapons and condemned war. He said:

"He who serves a ruler of men in harmony with Tao will not subdue the Empire by force of arms. Such a course is wont to bring retribution in its train.

"Where troops have been quartered, brambles and thorns spring up. In the track of great armies there must follow lean years.

"The good man wins a victory and then stops, he will not go on to acts

of violence. Winning, he boasteth not; he will not triumph; he shows no arrogance. He wins because he cannot choose; after his victory he will not be overbearing.

"Weapons are instruments of ill omen, hateful to all creatures. Therefore he who has Tao will have nothing to do with them." (Lao-Tsu: Tao Te Ching)

He went even so far as to say:—"The violent and stiffnecked die not by a natural death."

"The best soldiers are not warlike, the best fighters do not lose their temper The greatest conquerors are those who overcome their enemies without strife" (Lao-Tsu. Tao Te Ching.)

Another great Chinese saint who preached the same gospel of Ahimsā or Non-violence as Lao-Tsu and of Jen or Love as Confucius and Mencius but in a different way from them all, was Mo-Tsu.

Mo-Tsu lived a little later than Lao-Tsu and Confucious but earlier than Mencius He was born about 500 B. C. The mode of his life, his ideals and works are very similar to that of the Ancient Indian Buddhist Bodhisattva Ksitigarbha and that of Gandhiji. I therefore have sometimes called Mo-Tsu the ancient Mahātmā of China and Gandhiji, the modern Mo-Tsu of India. Mencius described him by saying: "If there is benefit for the world, he will do it even by grinding away his body from crown to heel"

Mo-Tsu preached the Gospel of Non-Violence and opposed war not only by words but also by action Once when he heard of the news that the Chin State was to attack the Sung State, he immediately went from his native state Lu, walked for ten days and ten nights, to see the king of Chin and persuaded him to stop the aggression, and he succeeded in his effort.

According to Mo-Tsu's philosophy, all people should only love one another, should not fight and hurt any body; this is the will of Heaven. He said:—

"Heaven wishes people to love and benefit each other, and does not want people to hate and hurt each other. Why? Because He loves all and benefits all"

"How do we know that Heaven loves all and benefits all? Because He possesses all and feeds all."

"How to follow the will and wish of Heaven? That is to love all people under Heaven" (Works of Mo-Tsu)

He thought that Non-Loving is the only cause of chaos and calamities and attacking a country and killing people are the greatest sins in the world. Thus he said:—

"How were chaos and calamities caused? They were caused by people not loving each other. A thief loves his own house and does not love the others' house, he therefore steals the others' house for the benefit of his own house. A murderer loves his own body and does not love the others' body, he therefore murders the other's body for the benefit of his own body.. ... ... Officers, each loves his own family and does not love others' family, they therefore exploit others' families for the benefit of their own families. The state kings, each loves his own country and does not love others' countries, they therefore attack others' countries for the benefit of their own countries. If all look upon others' houses as their own house,, who will steal? If all look upon others' body as his own body, who will murder? If all look upon others' family as his own family, who will exploit? If all look upon others' country as his own country, who will attack?... Therefore, when all love each other, there will be peace and when all hate each other, there will be chaos and calamity." (Works of Mo-Tsu.)

Again he said — "To kill one man is called wrongful and must receive one death punishment. Accordingly to kill ten men is ten times wrongful and must receive ten death punishments And to kill hundred men is hundred times wrongful and must receive hundred death punishments.. .. ... Now the greatest wrongful is to attack a country but receive no punishment. ...Is this right?" (Works of Mo-Tsu)

Again he said .—"Which are the greater ones among the evils of the world? They are those actions of the big countries attacking small countries, of the big families disturbing the small families, and those deeds of the strong robbing the weak, of the group of many oppressing the group of few, of the clever deceiving the dull, of the high class scorning the low These are the greater evils of the world." (Works of Mo-Tsu)

The foregoing paragraphs have dealt at sufficient length with the ideals and messages of the Chinese saints and sages Now, come to India again.

In India, Mahāvīra Jina and Śākyamuni Buddha preached almost the same gospel in the same way. The fundamental principles and teachings of both of them, such as the "Pancha Śīlāni" or the five rules, are nearly the same. Those of Buddha are — First, Non-killing, second, Non-Stealing, third, Non-Adultery, fourth, Non-Lying, and the fifth, Non-Drinking. And those of Jaina are first, Speaking the-Truth, second, Living-a-Pure-and-Poor-Life, third, Non-killing, fourth, Non-Stealing, and fifth, Observing-Chastity

The Three Jewels (Triratna) of Jaina, namely · (1) Samyag-Darśana, right conviction, faith and perception combined. (2) Samyag-Jnāna, right knowledge, (3) Samyag-Chāritra, right conduct, are all included in the Eight-fold Noble Path (Āryamārga) of Buddha, namely .—(1) Samyag-Drsti, right views, (2) Samyag-Samkalpa, right thought, (3) Samyag-Vac, right speech

(4) Samyag-Karmanta, right conduct; (5) Samyag-Ājīva, right livelihood; (6) Samyag-Vyāyāma, right effort, (7) Samyag-Smṛti, right remembrance; and (8) Samyag-Samādhi, right meditation Both these sets of items are right ways leading to the same goal, Nirvāna.

Besides, both, Jina Mahāvīra and Śākyamuni Buddha, believed in the doctrine of Karma and Samsāra. They both denied the omnipotent creator God; and believed that only one's own zeal and effort could work out one's own salvation.

The similarity between the two religions, Jainism and Buddhism, is so great that some western savants mistook them for one and the same. The real facts are that from the religious point of view they were indeed very similar to each other, but from the metaphysical point of view they are quite different

But the most striking feature of the two religions is the same teaching, the same gospel of Ahimsā in both it's positive and negative senses, in it's negative sense of 'absolute and perfect harmlessness towards all living beings," and its positive sense of "absolute and eternal happiness for all living beings."

As Love is the indissoluble partner of Ahimsā as stated before, Truth is another inseparable companion of Ahimsā. As Gandhiji once said.—

"Ahimsā and Truth are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them. They are like the two sides of a coin, or rather a smooth unstamped metallic disc Who can say, which is obverse and which the reverse?" (From Yeravada Mandir, 13.)

Ahimsā, Love, Truth are the trinity of One which we may call the Supreme, or God, or Heaven, or Brahma, or any other name we like. In carrying out their mission this Trinity have again a number of allies or comrades such as Charity, Sacrifice, Selflessness, Fearlessness, Forgiveness, etc. Thus Gandhiji said:

"In its positive form, Ahimsā means the largest love, greatest charity. If I am a follower of Ahimsā, I must love my enemy. I must apply the same rules to the wrong-doer who is my enemy or a stranger to me, as I would to my wrong-doing father or son This active Ahimsā necessarily includes truth and fearlessness." (Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, 346.)

"Ahimsā is the extreme limit of forgiveness. But forgiveness is the quality of the brave. Ahimsā is impossible without fearlessness"

"Let us now examine the root of Ahimsā It is uttermost selflessness. Selflessness means complete freedom from a regard for one's body If man desired to realise himself, i e. Truth, he could do so only by being completely

detached from the body, i. e. by making all other beings feel safe from him. That is the way of Ahimsā" (Young India, 4-11-1926, 384-385.)

Now, what is the truth of Ahimsā? The truth is this. All living beings in the world have the same life and the same soul. They belong to the same Mother, come from the same origin and will return to the same home. It is like a tree of which the stem, branches, leaves, flowers and fruits all come into being from one and the same root. It is also like an ocean, of which all individual beings are but it's separate drops. We therefore belong to all, and all belong to us. Thus the Chinese sages said —

"Heaven, Earth and I were born at the same time; and all beings are one and the same with me." (Chuan-Tsu Tsi-Wu-Lun.)

"All things are one" and "Love all beings, Heaven and Earth are one and the same body." (Hui-Tsu Quoted by Chuan-Tsu)

"All things are already complete in me" (Mencius : Book of Mencius.)

"All people are my brethren and all things are my fellows" (Chang-Tsai · Si-Ming).

As such, we therefore should love not only all people but all living beings. We must treat all of them as ourselves and must not hurt any of them, causing them pain just as we would not like any of them to hurt us, causing us pain, following the Golden Rule in the great Epics taught by the ancient Indian sages "Do naught to others which if done to thee would cause thee pain." Jesus Christ and Confucius also gave us exactly the same message. Jesus Christ said in His Sermon on the Mount · "Whatsoever ye would that men should do to you, do ye even so to them." Confucius said in answering to a question as to "What is the most simple way one may follow for his whole life time?", put by his disciple: "What you do not want done to yourself, do not do to others"

Lord Mahāvīra illustrated this message in an even more lucid way in the following passages:—

"The man also, who still lives in the house, should, in accordance with his creed, be merciful to all living beings, we are bidden to be fair and equal with all."

"Towards your fellow-creatures be not hostile, that is the Law of Him who is rich in control."

"All beings hate pain therefore one should not kill them."

"A man who insults another will long whirl in the cycle of births, to blame others is not good."

"A cruel man does cruel acts and is thereby involved in other cruelties but sinful undertakings will in the end bring about misery" (Sūtra Kṛtāngā, S B. E. Series.)

"In happiness and suffering, in joy and grief, we should regard all creatures as we regard our own self, and should therefore refrain from inflicting

upon others, such injury ■ would appear undesirable ■ us, if inflicted upon ourselves." (Yogaśāstra)

This ■ the reason why most Hindus, especially the Jains and the Buddhists, would refrain from taking any flesh for their food The Jainas would even refrain from taking fresh vegetables, because they are living, and to hurt any living thing is in Jainism a daily sin They go even so far as to drink only boiled water or the ascetics of the Sthānakavāsi Jaina sect even breathe with a cloth across their mouth to avoid insects and unseen 'Jivas' inhabiting the air. They would also sweep their path lest they may tread on insects. According to the Jains, under the law of Ahimsā, killing of vermin is also, forbidden, so that asylums have been established for decrepit animals rather than that they sould be put out of their misery by the destruction of life

People may think that the way which the Jains preach and follow is rather impracticable and therefore unreasonable. This is wrong notion. It may be impracticable but is not absolutely unreasonable. It is impracticable because humanity has not yet progressed enough. When humanity has sufficiently developed and reached a certain higher stage, this law of Ahimsā should be and would be followed by all

From what has been said above we can have an outline of the spirit of Ahimsā in Sino-Indian Culture. The facts related and the passages quoted re only those which came readily to my mind and were easily available. Similar facts and passages of the same kind are too numerous in Chinese and Indian literature and scriptures to be quoted in full. It is even difficult to make the best adequate selection of them These facts and passages were not merely religious ideals or ethical principles but actual and real events in history. Looking over the histories of India and China, from the very beginning to the present day, these two countries have never attacked or invaded any other country, never exploited any other people, though they have often been attacked, invaded and exploited by other warlike peoples. But those who invaded India and China were often assimilated and absorbed by Indian and Chinese cultures, and have enjoyed with the Indian and Chinese people their national wealth and harmony of life.

It has been therefore my firm belief, and also my humble mission, that we Chinese and Indians, the two greatest peoples of the world, should culturally join together and mingle together to create, ■ establish and to promote a common culture, called Sino-Indian Culture, entirely based on Ahimsā By creating, establishing and promoting this common Sino-Indian culture, we shall further create, establish and promote a common world culture on the same basis. By creating, establishing and promoting a common World Culture, we shall create and establish a great union of the world. And by creating and establishing a great Union of the World, we shall lead the world to real and permanent peace, love, harmony and happiness!

Ahimsā, the Crest-jewel of Indian Religion and Ethics.

By P. K. Gode, M. A., Curator, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4

[श्री परशुराम कृष्ण गोडे महोदयने लेखमें अहिंसाकी व्यापकताका दिग्दर्शन कराया है। आप लिखते हैं कि ऐतिहासिकरीत्या भारतवर्षमें अहिंसा सिद्धान्त ढाई हजार वर्षोंसे प्रचलित है। ईस्वी पूर्व ७ वीं शतीके 'छान्दोग्य उपनिषद' (३।१७) में इसका उद्देख हुआ है। 'आचाराङ्गसूत्र' (१।४।२) में जैनमुनियोंके पाच महाव्रतोंमें अहिंसा पहला व्रत बताया गया है। बौद्धोंके भिक्षुओंमें अहिंसाधर्म मान्य था। सम्राट अशोकके प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ धर्मलेखोंमें अहिंसाका उपदेश है। गर्व यह कि अब दो हजारसे अधिक वर्षोंमें अहिंसाका प्रभाव भारतव्यापी रहा है। भारतीय चरित्रधर्मका आधार भवाची ऋषियोंकी विचारधारा रही है। ज्ञानप्रकाशमें चारित्र बडा है। इसी लिये अहिंसा सबही भारतीय धर्मोंमें मुकुट-मणि बना हुआ है। जिन व्यक्तियोंको प्राचीन भारतके अध्यात्मवादमें आस्था है वे अहिंसाकी उपयोगिता और महत्तासे इन्कार नहीं कर सकते। हम अपने दैनिक व्यवहारमें उस व्यक्तिका आदर करतेही हैं, जो विचारशील होता है और समाजके सुख-दुःखमें घुला-मिला रहता है। फिर भला उन ऋषियोंकी क्या बात जो अहिंसाको आगे रखकर लोककल्याणके लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देते थे। वैज्ञानिक युगका प्राणी उनकी महत्ता आंक नहीं सकता। उन ऋषियोंने पहले आत्मविजयी होना लोकविजयके लिये आवश्यक माना। उन्हें दिग्विजयके लिये बडी सेना आवश्यक नहीं थी और न उन्हें पंचवर्षीय या दसवर्षीय योजनासे मतलब था। वे तो आत्मविजयके लिये जीवन भरकी योजनाका अनुकरण करते थे। स्वराज्यकी यह स्वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें किसी प्राणीकी हिंसा नहीं थी। यह योजना द्वेष और घमण्डके विरुद्ध प्रेम और त्यागभाव पर अवलम्बित थी। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध-तीनों धर्मोंमें अहिंसामय स्वराज्यका विवेचन खूब मिलता है। इस लोकतन्त्रवादके युगमें अधिकाधिक संख्याके अधिकतम लाभ पहुंचानेके सिद्धांत पर बहुत जोर दिया जाता है। राजनैतिक क्षेत्रके ज्ञाता यह जानते हैं कि आज प्रत्येक राष्ट्र इस सिद्धान्तको सफल बनानेका हामी है; परन्तु प्रत्येक राष्ट्रका अपना स्वार्थ इस सिद्धांतको सफल बनानेकी परिधि बना हुआ है। अतएव यह सिद्धांत सार्वहितसे दूर जा पडा है और लोकसंघर्षका कारण बन गया है, जो हिंसा है। दो महायुद्धोंके पश्चात् शान्तिमय उपाय द्वारा इस सिद्धान्तको सफल बनानेका अन्तरराष्ट्रीय उद्योग हो रहा है। अहिंसासे उसको पूरा करनेका प्रयत्न चल रहा है। 'लीग ऑफ नेशन्स'से यह प्रयास प्रारंभ हुआ और अब संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद (UNO) में परिवर्तित हो गया है। किन्तु हमें तो भय है कि यह अहिंसाका ठीक उपयोग कर सके। भारतमें अहिंसाका प्रसार व्यक्तिकी आन्तरिक शुद्धिसे हुआ था-बहुसंख्याके जनमत पर वह नहीं फैली थी। व्यक्तिके हृदयमें अपना और अपने राष्ट्रका हित साधनेकी पुनीत भावना जागृतकी गई थी-वहां जनमतकी आवश्यकता ही क्या थी? सराष्ट्र० परिषदमें बडी गहरी राजनैतिक चालें चली जाती हैं, पर वे तो सत्य और अहिंसा धर्मके प्रतिकूल हैं। प्राचीन भारतमें सरकारी बल पर अहिंसाका प्रचार नहीं किया गया, बल्कि व्यक्तिका हृदयपरिवर्तन करके ठोस स्वराज्यकी स्थापना की गई थी। आज अन्तर्राष्ट्रीय

प्रयत्न यह हो रहा है कि कोईभी राष्ट्र सैनिक सामिग्री इकट्ठी न करे, बल्कि उसे नष्ट कर दे। पराजित राष्ट्रोंकी सैनिक सामग्री नष्ट करके अहिंसाकी पूर्तिका आभास माना जा रहा है। किन्तु वास्तवमें हो इसके विपरीत रहा है। सैनिक शक्ति और विध्वंसक वैज्ञानिक शस्त्रास्त्र बढाये जा रहे हैं। ऐसे तो युद्ध समाप्त नहीं होनेका। आशंका और अविश्वासमेंसे अहिंसक विश्वशान्ति नहीं जन्म सकती। इसका ठीक उपाय तो म० गांधीके समान अहिंसाको व्यवहारिक रूप देना है। राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति जब अहिंसासे अनुप्राणित होगा तो कभी भी शान्तिभङ्ग न होगी और तब लोक समृद्धिशाली हो सकेगा। जैनोंने अहिंसा सिद्धांतको बहुतही आगे बढाया है। जैन ऋषियोंको अहिंसा धर्ममें दृढ विश्वास था। उन्होंने लाख कष्ट सहन करके उसे दैनिक जीवनमें उतारा था। वे अपने आदर्श चारित्रद्वारा मानव जातिके सच्चे गुरु (शिक्षक) बनना चाहते थे, इस लिये ही उन्होंने उदाहरण उपस्थित किया। सत्य और अहिंसाकी वे मूर्ति बन गये। वे लोकमें मान्य हुये- लोकने उनका आदर किया। किन्तु आजके शिक्षक ऐसे नहीं—वे तो न घरके हैं, न घाटके। आज मनोवैज्ञानिक शिक्षा प्रणालीकी शेखी बघारी जाती है, परंतु उससे शिक्षकके मनोविज्ञानमें कोई परिवर्तन नहीं होता। फिर उससे क्या लाभ? केवल सुंदर भाषण सुननेसे कुछ लाभ नहीं। प्रस्तुत विषयका अध्ययन करके तद्रूप जीवन व्यवहार करनाही कार्यकारी है। म०गांधीका उदाहरण हमारे सन्मुख है। अतः हमें अहिंसाका पालन अपने दैनिक जीवनमें करना उचित है। का० प्र०]

The doctrine of *ahimsā*[1] or non-injury has a clear antiquity of more than 2500 years in this Bhāratavarṣa. It first finds expression in the *Chāndogya Upaniṣad* (3.17), the date of which is about 7th century B. C. It is the first of the five vows of Jain ascetics according to *Ācārāṅgasutta* 1.4.2 (See Jacobi's Trans. of *Jain Sūtras*, 1 39). This doctrine has been common to all Indian Sects though each school looks at it in a different way. The early Buddhists adopted it fully and Emperor Aśoka made it the subject of his first and second Rock Edicts. He also refers to it in his fourth Edict. The Jainas are said to have carried this doctrine to great extremes. This in short is the early history of this doctrine which has exercised tremendous influence on our national character for more than 2000 years as vouched by Indian literary texts, Brahmanical, Jain and Buddhist.

Indian sages have been masters of thought for thousands of years. All that is best in Indian Ethics owes its origin to their thought, the cream of which has been fortunately preserved in early philosophical and religious literature of the Brāhmanas, the Jainas and the Buddhists. The doctrine of *Ahimsā* is the Crest-jewel of Indian religious and ethical thought and we must really congratulate all our countrymen of these three sects for trying their best to bring it into practice at great inconvenience and sacrifice to themselves. This doctrine can have no apeal to persons who believe merely in biological values but it is bound to appeal to those souls who are capable of any thought and reflection worthy of our ancient Indian spiritual tradition.

---

1. Vide p. 231 of *Encyclopaedia of Religion and Ethics* by Hastings, Vol. I (1908) — article on *ahimsā* by T. W. Rhys-Davids

Biological values develop ample sense and sensibility in an individual. They are incapable by their very nature to develop any spiritual and altruistic out-look on life, which is the outcome of a thinking mind and a feeling soul. Even in our social intercourse, we regard with esteem and affection a person who has a thinking mind and a feeling soul, and who is, therefore capable of identifying himself completely with the woe and happiness of all his brethren If the possession of a thinking mind and a feeling soul is a great social asset in an individual, what can be said of those ancient sages, who completely identified themselves with the cosmos and struggled continuously in carrying out all the logical implications of such an identification, among which *ahimsā* stood foremost ? Theirs was a super-human attempt to conquer the forces of conflict which govern a world run on biological values Their approach towards this conquest began with themselves and they realized that it was futile to make an attempt to conquer the forces of conflict in the world when their own minds remained full of conflict between the self and the not-self, a conflict between their moral-cum-spiritual inclinations on the one hand and the biological tendencies, which they had in common with the entire animal creation. Unlike kings and potentates who organized armies and rushed for a *digvijaya* or conquest of all neighbouring kingdoms or nations, our thinkers of ancient India laid down, not a five-year or a ten-year plan, but a whole-life plan of self-conquest. It was the noblest plan of self-government, which involved no loss of life or property to their fellow-men It was a plan based rather on self-sacrifice and love for all beings in the world, purged of hatred and spirit of envy born of self-love It was only the intense moral and spiritual urge in these thinkers that led them to execute their rigorous plan of self-government about which we hear so much in all early religious and philosophical literature, Brahmanical, Jaina and Buddhist.

We hear much in this democratic world about the "greatest good of the greatest number" for which every democracy has been struggling in its onward march towards this ideal The students of political science, however, tell us that modern democracies are competing with one another in achieving "the greatest good of the greatest number" for their own countrymen so that "the greatest good of the greatest number" in one democracy is not always identical with that in the other and consequently there is international tension and conflict leading ultimately to *himsā*. It is only after two great world-wars that the best thinkers of today have been hankering after a world-unity based on "the greatest good of the greatest number" in all the nations of the world These thinkers want to achieve this good by settling all international disputes by peaceful means without recourse to *himsā* This is, however, an objective approach to the doctrine of *ahimsā* It was first initiated by the foundation of the League of Nations and has now assumed the new form of the *United Nations Organization* and its Security Council. Though all our blessings must go to this *UNO* in its attempt to prevent *himsā* we are

doubtful about its ultimate efficacy as its approach to the doctrine of *ahiṁsā* is more objective than subjective. The Indian doctrine of *ahiṁsā* as initiated by our sages more than 2000 years ago was mainly subjective and they tried to enforce it by an inward reform of the individual and not by mere votes of a majority, each member of which has at heart his own good or that of his individual nation. The game of political hide-and-seek practised in the Sessions of the UNO bespeaks no doubt much political wisdom but it is contrary to the Spirit of Truth and Non-violence (*Satya* and *Ahiṁsā*) which was initiated and promulgated by our ancient seers not through the medium of government propaganda but by bringing it into practice in their own lives, which were great exemplars of this spirit through centuries of Indian religious and cultural history While our ancient seers conducted their *self-government* on the strength of *introspection*, the big nations of today with their objective approach to *ahiṁsā* have been carrying out an *inspection* and destruction of the war-materials of the nations defeated in the recent world-war. These nations have been, however, increasing their military strength by equipping themselves with new scientific instruments of destruction like the Atom Bomb with its kith and kin together with the entire brood of weapons tried and tested in the two great world wars This scientific remedy to stop the disease of war is worse than the disease itself. If Philosophy begins with doubt, politics begins with doubt and distrust and any measures that foster such doubt and distrust are bound to fail. In the game of mutual bluff now going on in international politics there is a spirit of doubt and distrust instead of mutual frankness of heart and trust which are engendered by a saintly handling of political problems, which characterized the entire life of Mahātmā Gandhiji, the fearless exponent of *ahiṁsā* in the modern world, who during his life-time practised *ahiṁsā* in thought, word and deed and who in his death, attained martyrdom and thereby transmitted his noblest message of *ahiṁsā* to his fellow-beings in the nooks and corners of the world. By sacrificing himself on the altar of *ahiṁsā* he has vindicated the ancient Indian doctrine of *ahiṁsā* in the modern world.

The Jainas are said to have carried the doctrine of *ahiṁsā* to extremes. This criticism is based on common sense with its two allies utility and hypocrisy. Even in common parlance we oft repeat the saying "If a thing is worth doing it is worth doing well." In the same manner the Jaina sages who believed in the doctrine of *ahiṁsā* put it into practice without calculating the hardships attending such practice, for to them belief and conduct were identical These sages were not guided by the standards of utility which govern the conduct of a practical man of the world. They wanted to be the teachers of mankind by leading a model life, free from hypocrisy but based on *Satya* and *Ahiṁsā* (Truth and Non-violence) The life of a teacher has always been a very hard one, whenever such a teacher tried to practise those virtues which he preached to his students. The ancient

teacher was highly respected not only by his students but by the public at large. The modern teacher is in a pitiable plight as he is neither respected by his employers nor by his students Our educationists, however, boast that they have themselves learnt and taught the psychology of education to their teachers to make them efficient in their vocation What is the use of this psychology which cannot change the psychology of the students and elicit any respect from them either for their teachers or their elders?

Force of character is engendered not by merely listening to lectures, collegiate or otherwise, but by study and reflection coupled with an idealistic urge in the individual to live a noble and virtuous life, models of which are not wanting even today This fact has been brought home to us with a tragic emphasis by the noblest life of Mahatma Gandhiji, the greatest apostle of Truth and Non-violence, who sacrificed his life in practising these virtues for the benefit of humanity. By this sacrifice he has silenced all the critics of his life-time as also those of future generation His inner voice, which guided all our leaders in their struggle for freedom and crowned it with epoch-making success, will now reverberate across the corridors of time, and continue to cheer up all nations in bondage by its immortal message of *satya* and *ahimsā*, a message symbolized by the *dharma-cakra* (wheel of law) which once perched on *Aśoka's* pillar and now perches on our national flag demonstrating to the world the victory of these cardinal virtues for which Mahatmaji lived, moved and had his being without swerving an inch from the path of the ancient prophets like Śrī Mahāvīra, Śrī Buddha and others.

" न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोत्तमानाम् "

" है जहाँ धर्म, है वहाँ विजय,
है जहाँ सत्य, है वहाँ विजय,
है जहाँ अभय, है वहाँ विजय,
है जहाँ अहिंसा—वह निर्भय ! "

—श्री उदयशंकर भट्ट

Thoughts for World-Peace.

By Mrs. Evelyn S Kleinschmidt, Downer's Grove, Ill, U. S. A.

[श्रीमती एवलिन स्मिथ अमेरिकाकी विचारशील महामहिला हैं। सन् १९३३ में जब शिकागोके विश्वधर्म सम्मेलनमें स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी जैन सम्मिलित हुये तो वह उनके भाषणोंसे प्रभावित हुई-श्री जैनजीको उन्होंने अपना गुरु माना और उनसे जैनधर्मकी शिक्षा ली। प्रस्तुत लेखमें उन्होंने इस प्रसंगका उल्लेख करके लिखा है कि यद्यपि वह बाह्यजगतके कार्योंमें सफल मनोरथ थीं, फिरभी उनका जीवन शून्यवत् था। जीवन का प्रयोजन उनको जैनजीके उपदेशसे मिला। हर कोई जीवनमें सुख, शान्ति चाहता है, किन्तु उसके लिये करना कुछ भी नहीं चाहता। अनेक जन्मोंसे दैनिक जीवनचक्र-खाना, पीना, सोना, जागना प्रत्येक व्यक्ति करता आया है, किन्तु किसीने भी जीवनके उद्देश्य और गतिको जाननेका प्रयास नहीं किया। दूसरोंके उत्कर्ष पर ईर्ष्या क्या? कर्मसिद्धान्त पर ध्यान दे तो प्रत्येक मानव स्वतः उन्नतशील हो। जैसा बोओगे वैसा पाओगे। पशुपक्षी, वनस्पति, पाषाण, मानव-सबहीमें परमात्मरूप जीवन चमक रहा है। किन्तु दुनियाके लोग अच्छी बातोंको देखही नहीं रहे हैं। लोकमें युद्ध, हत्या, मानववध और पशुहत्या आये दिन होते हैं। इनका ही फल लोकको दुख, शोक, रोग और पीडामें मिल रहा है। कर्म सिद्धान्तको कोई बदल नहीं सकता। लोकके सभी महात्माओंने प्रेम और अहिंसाका उपदेश दिया, किन्तु मानवने अपने जीवनमें प्रेम और अहिंसाका व्यवहार करना नहीं सीखा। परिणाम लोककी भयङ्कर विपत्ति है। अब तो बहुत [illegible] सह चुके। क्या यह समय नहीं है कि मानव अहिंसामय दिव्य जीवन विताना सीखें? अब मानव हत्या-हत्याही क्यों करता रहे? द्वेष और प्रतिहिंसाकी आगमें मानव क्यों जलता रहे? क्या किसी युद्धसे लोकका भला हुआ है? कदापि नहीं। तलवारसे जीवित रहनेवाला तलवारसे मरता है। जबतक मानव दिव्य जीवनका जिज्ञासु नहीं तबतक उसका कुछ महत्व नहीं। जब उसकी भावना सार्वहितके लिए जाग्रत होगी और उसका जीवनव्यवहार लोकके लिये होगा, तभी उसका जीवन सार्थक है। भ० महावीरकी शिक्षाभी लोककल्याणके लिये है। विश्व-शान्तिका उपाय अहिंसा और सत्य आत्मधर्म है। —का० प्र०]

The late Mr. Champat Rai Jain, was at one time my teacher, both here in the United States and later in London, England Our association was most pleasant and profitable and my esteem and regard for him are boundless He found me at a time when my experiences had proven to me, that without some kind of firm foundation, this life was profitless and dull I was looking for something to lift me out of depression. Inspite of the fact that my life had been full and rich and I had done all the things in the outer world that I had wanted to do, still it seemed empty and devoid of meaning.

We all want peace, happiness, security and a feeling of being worth while That is the innermost desire of every one on earth, I believe, but how many of us are willing to do the things that will BRING these qualities

श्रीमती इलीयन् क्लीनस्मिथ, मेवुड, (अमेरिका)
(स्व. बैरिस्टर चम्पतरायजीकी अनन्य शिष्या और उनके पति)
Mrs. E Klienschmidt
(with her husband) (Page 322)

श्री हर्बर्ट वैरन साहब, लदन।
(वयोवृद्ध अंग्रेज जैन-बन्धु)
Mr. Herbert Warren
(Page 149)

श्री वाल्टर लैफर
(जर्मन विद्वान्)
Herr Walter Leifer
(Page 293)
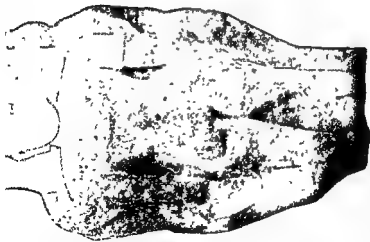
Fig. XIV सर्वतोभद्रिका जिनप्रतिमा।
(मथुरा सग्रहालय क्रमांक २२०९)
Sarvatobhadra Jina Image, Mathurā
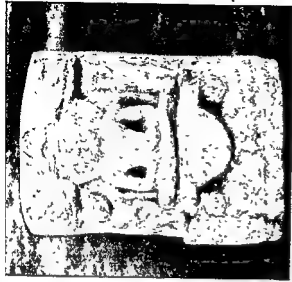
Fig. XV भ. महावीरकी एक मूर्ति
(मथुरा सग्रहालय, क्रमांक २१९०)
An Image Of Lord Mahāvīra
(Mathura Museum).

into our lives? How many of us even try to figure out what we should do, to attain them? It is not enough to just try to be good, to go thru our every-day life doing things in the outer world thru a sense of duty-getting up in the morning, eating, drinking, going about our daily activity and going to sleep at night, every day the same routine, without advancing our inner peace or understanding. How many *LIFE TIMES* have we gone true like that? If each one of us would take time out to just think thru or even question what we are here for, where we came from, where we are going and how to get there, and REALLY WANTED TO KNOW these things! That would be a beginning.

Instead of envying others the blessing we see them having, gratitude to LIFE would open the door for us to have like blessings for life cares not who uses it, nor how much we use The Law of the Circle, the Law of the KARMA, would bring back to us the blessings untold, that we could and should send out to life in every form on the earth Animal, vegetable, mineral, plant, mankind, the life in all is GOD—Life Blessing it all the time not once in while, but blessing all life everywhere, all the time, would open the doors to such blessings to come back us as we could scarce imagine. You don't believe that? Have you ever TRIED it out? I have and I know that my gratitude and blessing to life bring me such joy, and happiness and success and such inner peace as I never used to have.

The people of the world, all the people everywhere, are losing the fine things of life thru lack of gratitude and appreciation to life Fighting, killing soaking the ground with blood of mankind, killing animals, being so vicious and unkind to each other, can these things bring us anything but trials, suffering, lack, disease and their kind? It is not possible! Everywhere there is known the Law of the Circle-that what we sow comes back to us No one ever yet got flowers from planting onions, or grapes from thistles! No one ever will!

The seed brings forth after its own kind and no one can change that Law. So if the world is reaping a harvest of lack, hatred, killing, wars, desease, famine, ills, distress and discord, it would be well to look back to what we have planted! Have we bound up the wounds of hate, have we loved as we have been taught by all the great teachers who ever came forth? Have we tried to understand our purpose in living down here on this planet? Have we tried to bring forth the Harmony of Life? Have we loved and blessed? Have we tried the great solvent of all human ills, just LOVE to all life everywhere? The answer is apparent in what is happening in the world today-chaos, confusion worse confounded.

Haven't we had enough wars-haven't we had enough hate? Haven't we had enough confusion? Isn't it time mankind tried to learn How to live?

Why must we fight every body who does not agree with us? Why must we kill and kill and kill? Why should mankind go insane with lust and hate and revenge and more and more killing? Did it ever solve anything? 'Has any war on earth ever done anybody any GOOD? NO!! He who lives by the sword dies by it!

No one on earth is important until He asks the Divine way of Life, until he is governed by desire for peace for the whole of humanity-until he LIVES for the WHOLE, for what is good for the whole is good for the individual. If you want peace and joy, happiness and comfort, then ask for it for all of Life everywhere, *want* it for everyone on earth, for your so-called enemy and friend alike-for LIFE is everywhere! What is power and money-position and influence, UNLESS it is used for the good of all? It makes men drunk and destroys him and if power and influence are not used for the good of all, it destroys him who seeks it. We bring nothing here, we take nothing away and gratitude for what Life provides, would give us all plenty Try it and see.

I AM the peace that passeth understanding, I AM the Resurrection and the LIFE of the Peace that all crave, I AM the word that releases mankind from discord and want! I AM the Treasure House of the universe. Call into ME and I SHALL answer you. Prove me now herewith, if I SHALL NOT OPEN the windows of Heaven and pour out such treasure that there is not room to receive it. Life is no respector of persons-Life cares not who uses it—God is not stingy nor is He hard of hearing! But mankind must learn kindness to all Life, must want PEACE for all Life, must try and learn what IS the Divine Plan for each Life Stream, if they are to survive on this earth for we are passing into the Golden Crystal Age on this earth and the LIGHT IS COMING into earth, and he who cannot stand the LIGHT must be removed to another school house until he learn the way of PEACE and LOVE and Courage and Joy. The time is past when mankind can live hating one another. We are all part of the ONE WHOLE-we must learn to live for the WHOLE and then the PART will be at PEACE!

Remember the teaching of Mahâvîra, the great apostle of Ahimsā and let the non-violence prevail :—

"Towards your fellow-creatures be not hostile. All beings hate pains, therefore one should not kill them."

Vegetarianism Versus Insanity.

By Dr. William Henry Talbot, Fareham, (England)

[डॉ॰ टॉल्बॉट सा. एक विचारवान अहिंसक-वृत्तिके जैनधर्मानुयायी अंग्रेज महानुभाव हैं। आपने हमारे निवेदनको स्वीकार करके शाकाहारकी विशेषता और मांसाहारकी अनावश्यकता एवं उसकी हानियोंको बताते हुये यह सुंदर लेख लिखा है। इस लेखके मूलभावको लेकर श्री डॉ॰ किशोरीलालजी वर्माने एक लेख हिन्दीमें लिखनेकी कृपा की है, जो अन्यत्र प्रगट हो रहा है। पाठकगण डॉ. टॉल्बॉट सा॰ की विचारसरणीको उससे जान सकेंगे। डॉ॰ सा॰ने टीका लगानेकी प्रथाका भी विरोध किया है, क्योंकि टीकाकी सुई अथवा ट्यूब बनानेमें पशुओंको महान् कष्ट दिया जाता है। बछड़ों, घोड़ों आदि पशुओंको अधमरा करके टीका लगानेकी दवायें तैयार की जाती हैं; जो अहिंसा दृष्टिसे अनुपसेव्य हैं। विलायतके बड़े २ डाक्टरोंका मत है कि टीका लगानेसे विशेष लाभ नहीं होता, बल्कि उससे अधिक हानियां होनेकी संभावना है। डॉ. सा. मानवको शुद्ध आहार लेने और शुद्ध आचारविचार रखनेपर जोर देते हैं। वह ठीक लिखते हैं कि मांस भोजनका आदी होकर मानव पशुतुल्य बन गया है और पशुओंकी तरह लड़ता झगड़ता आ रहा है। बुरे कर्मोंमें वह फंस गया है; आत्माको भूल गया है। किन्तु वस्तुतः मानवको अपनी आत्माकी अपूर्व शक्तिमें विश्वास होना उपादेय है। डॉ॰ सा॰ अपने रोगियोंको इस आत्मशक्तिका विश्वास दिलाकर बिना दवा दियेही रोगमुक्त करनेके प्रयोगोंको सफल बनानेका अभ्यास कर रहे हैं। भारतके धर्मप्रधान देशमें आत्मबलकी ओरसे लोग विमुख हो रहे हैं; यह खेदजनक विषय है। डॉ॰ सा॰ के इस लेखसे भारतीय समुचित लाभ उठायेंगे, यह आशा है।— का॰ प्र॰]

"We are on this earth in any one lifetime, such a short period of time, it seems a pity we cannot show more on the credit side of the ledger than we do. Our lives for the most part can only be described in terms of suffering-with occasional flashes of Bliss

I exclude pleasure from the condition of Bliss, because pleasure is an affair of the senses, and the senses when perverted, as they usually are, exclude real-light-the light of the Soul.

Why then does this sorry state of affairs continue? We would not consciously hurt ourselves—unconsciously, however, we are continually doing so and acting in quite the wrong manner-the penalty is precisely the same as though we acted in full awareness and with full knowledge of the consequences.

Why are our bodies sick? the answer is-Poison in the system-the harvest we have reaped from wrong thought, manifested in wrong conduct. Our bodies reflect the cause and the cause comes into existence via perverted

Diagnosis is a name given to symptoms, or the manifested effects of disease; the naming of the symptoms is without value unless at the same time it accurately exposes the cause and prescribes the remedy.

Whatever the toxic material is, in the body, it is the end product of the food we eat and drink, plus the Thought, which gives rise to the appetite for such food.

There are many avenues of approach dealing with the *Effects* of disease-but in this short discussion I can deal with, principally, only one of them, namely *Flesh Eating*-and even with this subject I cannot in this writing go into great length.

Although this is a platitude, I feel I must mention it, i e., "If we do not manage *Ourselves, Others* will manage *Us.*" We are never punished *for* our sins, but *by* them!

All life forms have a right to protection-even animal life forms, and unless this thought is ever before us-we cannot think straight.

HIPPOCRATES, the Father of Medicine, who knew and preached the rightness of vegetable kingdom food, said, "Let your food be your only medicine, and let your only medicine be food." Present day medical doctors take his Oath, but that is about all they do take from him, they certainly do not take his advice; if they did, their influence would be incalculable in helping suffering humanity back to sanity.

Eating food is one thing, getting rid of its waste products is another; if great wear and tear is caused thereby, the physical body is made to suffer; how great this suffering is, only the doctor knows-and the Patient.

Flesh-eating causes more body wear and tear than any other single thing I know; in the cooking of flesh foods all its life giving minerals are killed, except the nitrogenous elements and the acids, and these are ingredients for slow suicide

Flesh foods when cooked contain an excess of nitrogen over the human body's needs as well as sulphur and phosphorus ash in great excess. This results, quite often, in the urine having one hundred times as much acid as would be the case with a balanced diet.

Although a lot of vegetables and fruit be eaten with the meat, these are quite unable to neutralise the meat acid ash.

In my own practice I have found that meat eaters have a much higher blood pressure than vegetarians and kidneys are below par.

(NEWBURCH) of the University of Michigan states "Prolonged heavy meat diet produces hardening of the Arteries and Bright's Disease," he also

states that beef in excess is from two to six times as harmful as cheese in the same excess proportion, gauged by the effects upon the kidneys

(ANITSCHKOW of RUSSIA) proves that CHOLESTEROL is the food material which produces ARTERIOSCLEROSIS-this chemical constituent is present-exclusively-in fats of animal origin and in animal tissues.

(PROF. E. V. McCOLLUM of JOHN'S HOPKINS HOSPITAL) he is America's outstanding food scientist, says, "Meats are not necessary in the diet and with proper knowledge of other food values we could eliminate milk and eggs too."

These men we mention only a few have devoted their lives in studying food values and their findings cannot lightly be dismissed.

At the end of this writing I shall mention the deeper significance attached to meat-eating and world chaos arising from it, but for the moment we will discuss personal suffering to the individual arising out of meat-eating.

The minerals in our food determine its acid or alkaline reaction. Minerals in vegetables and fruits too, can cause an excess of acidity or alkalinity, when the body, after digestion, forms salts from them, so, it is necessary to know, even with right foods, the combinations best suited to the body's normal requirement.

The blood chemistry for normal working should be about 75% Alkaline base and 25% Acid base, if this balance becomes too much off centre, death will result

Another point to remember is, even if the diet is completely acid forming, the body can still function-providing the acid base is not increased.

The minerals that form Alkaline salts, normally neutralise the acids, so that even though grain foods such as bread, biscuits and so on are acid forming-fruits, vegetables and certain kinds of nuts, being alkaline-neutralise them.

Meat, fish, fowl, eggs and cheese, however, are highly acid and when they are burned in the body they affect the acid base with their end products of-Uric Acid, Sulphuric Acid and Phosphoric Acids These acids play an important role in such diseases as APOPLEXY and CORONARY HEART DISEASE

Meat-eating therefore, because of its high protein and acid ash, cannot be effectively neutralised by the alkaline salts.

The argument is sometimes used that the absence of meat from the diet would impair human energy output, this argument is proved entirely fallacious by the world's famous food authorities, I will quote the most *conservative* confirmation of this I have thus far read-the words are those of MAJOR

GENERAL SIR ROBERT McGARRISON, a famous British food authority, "Whole cereal grains, milk, milk products, eggs and fresh vegetables, when eaten in adequate quantities, will maintain the structural integrity and functional efficiency of the human body."

A common mistake anyway is to suppose that energy comes from the food we eat, it does nothing of the kind. The unit of the body is the cell, and the cell *structure* is built from the food we take into the body. However, the cell cannot manifest its function except for electrical energy.

The cells in our body are travelling through *space* at hundreds of miles per second, on the same curve the Earth is travelling, therefore the cells are cutting *magnetic lines of force*; this brings about within the cell the formation of an *Electro-Magnetic Potential* that *Forces* the cell to build up a *charge*, thus the life process gets its *Primary Energy* from Space and-from *no other* source.

Doctor Eugene A Bergholz (U. S A) who is an authority on the "Electrical Conception of Living Matter" and writes extensively on the subject, is an M D and it is to be hoped he will succeed in educating his profession so that they will abandon the Mechanical Philosophy in favour of the Vital Philosophy.

Dr. Bergholz demonstrates part of the Vital conception of life thus, "Any plant, fruit or vegetable, has two different tissues, one charged with positive, the other negative, energy. Take a raw apple for instance, the core is *negatively* charged, the flesh *positive*. There is a definite difference in Potential-further, the apple is definitely *alive* An apple actually breathes".

"In going through space it gathers up *Energy*, builds it up and *emanates it again* The apples use Oxygen and throw off Carbon-dioxide"

The finest proof that energy comes from Space and not from Food is demonstrated by any fruit, when it is connected in the circuit of a very delicate Galvanometer. *It causes a deflection in the Reading* If an apple is kept in the circuit, the reading gradually dies down-in other words-the Energy is being drained out of the apple."

"Let the apple stand awhile and then re-insert it in the circuit,-again the apple deflects the needle!" This proves that the apple has *Re-generated* this energy *Where did it come* from? Nothing was added or subtracted-except-the energy that comes from *Space*.

Our food then becomes the cells themselves; the cells because they are in a magnetic field (space) and moving rapidly are analogous to the rapidly rotating wires within a Generator producing a *movement* of *charge* or a *current*

When we collect these charges from the wires we harness the Generator

and we use the Energy, as an entity, as body heat, muscle and tissue energy and thus under the control of the *Will* our body, moves and works.

After the cells build up energy and the body as a whole uses it-it must then be discharged, from the body. If *obstruction* is present in the body in great extent and the energy cannot properly be discharged then-some organ, because of *overload* will break down-and we die. So, the same energy that keeps us *alive* will *kill* us, when it runs wild, because of *Obstruction*.

Our physical body is made from the food we eat, if the food is wrong food our bodies will not be normal, if our body be not normal then our thought, even if right thought, will not *function normally* in an abnormal body, in which case *obstruction takes place*, energy is thrown back on itself and obstruction-or Karma-thwarts progress.

Using Dr. Bergholz words again "Foods that are alive have potencies of their own; Foods that are dead (cooked) must first be given Potency (by our body itself) before they are of *any use at all*."

So, cooked foods, before they can be metabolised, require *from the body itself*, the missing electrical properties-this is not only *Obstructive* but the *opposite* of Vitality Conservation.

Whatever else flesh eating may be, it is incontravertible, that it is the most prolific source of *Obstruction* of which we know, when taken into the body of an herbivorous animal, of which man is one

This applies equally in the case of eating animal food, as well as having animal vaccines or serum injected into human blood or tissue.

The Medical school of thought, whose blood lust is well known, with its mania for dealing with the *effects* of disease, and its avidity in extirpating appendages, when confronted with causes *it does not understand*, uses animal products in the beastly form of vaccination, on all and sundry upon which it can lay its hands, and thus sets the stage for much future human suffering.

This profession must be restrained in many ways, but the first restraint must be in compelling them to keep their blood thirsty hands off animal life.

The World famous Psychologist "Jung" suggests that the "Surgeon of today was a Butcher in his last incarnation," my own experience supports this view.

Whenever, or wherever animal life is sacrificed on the plea that its flesh, or the *Pus* from its diseased lymph, will help human beings I not only regard it as suspect, but detect an odour in my nostrils, of the lower regions of Hell

When, oh when, will human beings revolt against the pure bloodstream of a body (or even relatively pure) being polluted by the medical doctors, needle, putting as vaccine, the lymph of a diseased calf into its body, giving it smallpox on a small scale, in order to support a theory that smallpox on a large scale will be prevented

In my opinion the credit for smallpox diminution belongs to the Sanitary Engineer and not to vaccine.

Two countries whose Vaccination Laws are very stringent are Italy and Mexico, we would expect to find these two countries more or less immune from smallpox according to the Medical theory of vaccination, but we actually find that not only is the incidence of smallpox higher than most other countries, but on account of the high mortality rate, the enforcement of vaccination had to be modified.

In my opinion vaccination is one of the principal reasons which brings a large Medical profession into being

Modern Medicine concerns itself with *Disease*-not *Health.*

About 1937 the FORUM MAGAZINE (U. S. A.) printed some remarks made by PROF. ERNEST A HOOTON of Harvard University; they were spicy and to the point He suggested that "Medical Practice is only a sophisticated extension of the flea hunting habits of monkeys, and observed that perhaps the contemporary doctor is the primitive Medicine Man-gone flossy and mercenary" He continued-" There can be no doubt that the effect of medicine today is to increase enormously the proportion of the physically and mentally unfit in Society."

It is not my purpose to attack the Medical Profession, for they are a body of men and women doing their best to help suffering humanity, within the limits of their understanding, but I attack Evil and Wrong Thought wherever I find it. When Medical thought realises that it is the Garbage which attracts flies, and not the flies which attract the garbage, they will give up their incursions into the habits of germ life-who at best, are unreliable-they can change their sex and habits overnight, and one must descend very low indeed to keep track of them-and confine their thought to *Health.*

Thinking in terms of disease germs, they become diseased in Thought. Thinking in terms of Health, they would become Health Minded, against which disease germs would fight in vain

Personally, I thought long and seriously about the choice of Medicine as a career and decided against it, instead I chose Psychology, Osteopathy, Chiropractice, Naturopathy and Chromo-Therapy. As the years pass, the doctorate I hold has served my patients well and medical doctors who became patients of mine tell me they wish their choice had been as wise.

I regard animals as my younger brethren and protect them as far as possible; obviously therefore I oppose the Medical Vivisection idea, as not only without practical value, but because the cruelties perpetrated upon defenceless animals re-act as Karma on the whole human family. It brings war and suffering in its wake.

The arguments advanced in favour of torturing animals in order to save human suffering are spurious, for the human body functions in a manner different from that of the animal. The proper functioning of the pores in the skin is vital for the human-but the dog *has no pores.*

The stomach of the dog finds no difficulty digesting bone-the human does-sweet almonds kill dogs, humans thrive on them Lemon juice is deadly poison to a cat or rabbit, camphor will kill a canary, pigeons and fowl can take large doses of opium and morphia without the least ill-effect, Hedgehogs can eat enormous quantities of opium and wash it down with prussic acid, ad lib. Sweet almonds will kill foxes and fowl. Parsley will kill parrots, etc. etc.

William Howard Hay, M. D gave an address in Washington D C. June 25th 1937 before the Anti-Vivisection Society-he said, " Aside from the horrible cruelties of vivisection I have not been able to discover in 30 years of painful and careful research *One Thing* of practical utility that has been adduced in all this time-our results are exactly Zero-and always will be. I cannot think of one thing of practical utility that has evolved from all our years of crucifixion of half a million dogs a year. I saw these dogs crucified *without ANAESTHETICS* "

Well, so much for our Christian civilisation with its colossal wars and theft of territory.

Now let us examine some of the evidence for and against meat eating. All Herbivorous forms of life have a *long intestine* usually from twenty-six to thirty feet in length-the *human* form is in this category All carnivorous forms of life have a *short intestine*. A lion, for instance, has an intestine about fifteen feet in length.

Long intestines are for the purpose of digesting and eliminating the waste products of vegetables, fruit, nuts and grain food

Herbivorous forms of life *Sip* their liquids, the Carnivorous *Laps* its liquids with the tongue

In the body of herbivorous animals is found an ENZYME, or digestive ferment called PTYALIN, this Enzyme digest starch food and converts it into sugar In the human being PTYALIN is found, principally in the saliva-there is *no* PTYALIN in the carnivorous forms.

The teeth in a human being show, a few for biting and cutting, and the rest for chewing and masticating-this is a herbivorous trait.

When [illegible] Frugivora, i. e. an anthropoid ape, is taken into captivity and fed on a flesh diet, it will die of consumption in a year or so.

When human beings eat the food their bodies are fitted to receive, namely, the one sense forms of life, Vegetables, Fruits, Nuts and Grains, and eschew the animal forms which are five sense forms, their feet will be on the Right Path leading to the Kingdom of Heaven which lies within, where all other things are added unto us.

Let us now examine the one sense forms of life and see why they contribute to our physical body health.

The healing value of fruits, vegetable, nuts and grains lie in the Acids and Nourishing *Salts* they contain, which makes them effective against *Decomposition*, as well as at the same time strengthening the whole system

In this short writing I cannot [illegible] deeply into the variety of right foods, but will mention, briefly, one of them, the Soya Bean

The Soya Bean is used in parts of the East by millions of people, it more than takes the place of meat and fish for its food value is real and it exceeds the nutriment found in eggs and cheese, or in any grain food, further it is easily digested.

Soya Bean contains a high percentage of LECITHIN, which is a fatty substance rich in PHOSPHORUS, on which nerves and brain feed. The milk from this bean is vastly superior to cow's milk, and cheese made from the milk is simply delicious, and nurishing When human beings recoil from the degrading habit of meat eating and the drinking of cow's milk, Soya Bean Milk will come into its own.

Cow's Milk promotes intestinal putrefaction – Soya Bean Milk does not. Bread made from this bean does not have an acid reaction, further, its flavour is more delicious than wheat bread.

Perhaps the greatest value from Soya Bean Milk is, it forms a better culture for the BACILLUS ACIDOPHILIS than cow's milk, and this counteracts *all putrefactive types of bacteria in the Colon.*

A Soya Bean Omlet is more palatable than an egg one and its protein [illegible] as high [illegible] 34%. twice [illegible] much as [illegible] found [illegible] Flesh Food Even the vegetarian will find added delight with his Salads when Soya Bean *Sprouts* are added [illegible] it. This " Fifth Sacred Grain " of Ancient China is destined to be the principal human food of the future All countries will grow this bean themselves and thus support themselves in matters of foodstuffs to a large extent. From [illegible]

■ endless variety of dishes will be made and even drinks to satisfy even the Gourmand.

Our present system of living, particularly our eating habits, are quite wrong, it has brought ■ little happiness and still less security.

Over 80% of children born are normal at birth but only 20% of them are normal ■ the age of 21, this startling fact is all the more remarkable when we realise that from birth to age 21 is the healthiest period of our life.

Other forms of life — except the human — live eight times its period of growth, the human lives roughly twice its period of growth — Why? I suggest it is because his food is wrongly selected, wrongly combined and wrongly balanced.

Even good food when over-cooked, processed and commercially prepared in colourful packages is bad, and saps health. As for *White Sugar*, I know of few less healthful foods, calcium has not only been taken from it, but it robs the blood of *its* calcium, it rots teeth and bone. White bread has been robbed of its nutritive qualities and its real nourishment is given to the pigs.

Spices and condiments irritate the intestine and exaggerate the appetite. Potatoes whose first ⅛" of skin contains its minerals and whose eyes contain the vitamins, are peeled and the peel thrown away — leaving only starch ■ clog up the tubes of the body and form mucous.

In order to get the *minute* quantities of nourishment left in these denatured foods, we *overeat* of them, so starches and sugars, if digested, make us *Fat*, if not digested they make us *ill*.

As for flesh Eating, we must realise that meat contains 10% fat and 20% protein, the other 70% is *impure water* which is laden with the *Refuse* and *Urea* of the animal's body. The fat and protein from vegetable forms of life are vastly superior to that found in meat and the *water* in vegetable forms ■ *Pure*.

Now, I will conclude with the story of a personal experience, it happened on the 21st of April, 1948. I have no idea-at present-how to prove this statement to others; but I myself *know*, it is true.

I was meditating on the *Example* of Lord MAHĀVĪRA'S life on *Earth*; ■ is *one* of the *24 Elders* that sit before the *Throne*, the *Jains* of India are more familiar with *Him* as a TĪRTHAMKARA, one of 24 such, who, having conquered the World in themselves, now, having reached Omniscience, are in the abode of NIRVĀṆA, which means *Complete Awareness*.

Seeing myself as I actually am, full of inconsistency, pride and positive character, undeveloped and weak in my approach towards Mastership, nevertheless I found *my* point of contact, (we all have points of contact) lay in my overwhelming passion for serving *all* forms of life, including human life, and my utter, even ruthless, determination to so serve, brought me into touch with the vibrations Lord MAHĀVĪRA left, in the "Unconscious Mind" of this World

My *Personality* Conscious Mind then opened more fully and this picture came into it

Human beings on this earth, having won their human form through great suffering, via the animal kingdom, consolidated their victory by the process of trial and error

They found it necessary to subordinate much of their animal nature, and by virtue of their newly acquired Faculty of Reason they saw the necessity of bringing into being forms of Protection within which they all could develop their own peculiar traits and characteristics.

Taboos, which later became Earth Laws enabled them to progress in Spiral Form so that eventually those highest on the Spiral became the Rulers, those lower became the Professional class and the lowest of all became the Working class

Ascent or Descent was within the province of all, and *some few* succeeded in having their feet at the bottom and their heads at the top of the Spiral; *these few*, according to Height and Depth, became the Teacher, TIRTHAMKARAS, MASTERS, SAVIOURS and SAINTS. After drawing both extremes together, so that Height and Depth and all between became a simultaneous experience, utterly controlled, these few 24 of them, withdrew entirely from the physical world-but-they left the shadow, or example, behind them of their victory

While *to them* their Example is but a shadow, to us, it is, in our comparative state of darkness, a *Light* of such power and grandeur, it remains a *Beacon*, ever beckoning us onward and upward to the Path-*already trod*, it clearly shows us the Way, the Truth and the Light

Even so-it is *we*, each *one* of us, who must tread the Path-and *no one else* can tread it for us

At certain periods, the call came from the Animal kingdom, a number of infants had grown up and were ready to become human beings, having developed to this stage, they had earned the *Right*.

However, the Equilibrium of a higher state of life must not be seriously disturbed by *too great* an influx of a lower order of life into it, so *Law* declared that animal life could enter human life as to 5% of total human life.

These 5% newly acquired human forms acted in the only manner they knew, namely-as animals-this caused a furore among the human 95% who had partly forgotten their own earlier animal life, therefore Discipline which had become lax had to be tightened up and rigorously enforced.

And so a Rythm was established, as the 5% became absorbed so another 5% came in from the animal kingdom and this proportion continued to be well within the capability of the 95% to absorb without serious back to the animal kingdom retrogression, some could not hold their higher estates as human beings and had to be demoted - their *Own Soul* however, was the Judge in such matters, as indeed it is-in all matters.

In the course of time a serious miscalculation took place in the higher ranks of the Human family, in their zeal to win-*Competition* which is a form of, and a prolific cause of *Warfare*, fed to their warrior retainers food in the form of *Animal Flesh*

This caused the warriors to become more *Ferocious* and deadly in combat, lust grew upon lust, until other human beings felt the necessity for this kind of food, often from a slavish regard to the example of their-so-called-betters, also to be better able-so they thought-to withstand the shock tactics of the Flesh Eaters.

Quickly the desire spread to all and sundry, for this new food, and animals of certain kinds were bread and *domesticated* to supply this demand; an infinity of animal forms were *hastened* into existence and as an Industry developed to satisfy this perverted appetite, so the Soul of each meat eater lost some of its lustre, burried beneath impurity-and Karma

The Laws of Karma determine the length of time in which the Soul resides in any Form of life, whether it be Mineral, Vegetable, Animal or Human, and while in any of these forms, the Soul has the duty of working out its Karma, at the same time it has at the opportunity, through suffering usually, of contacting *Higher States* of Existence and can prepare to enter them when its Karma permits, *then* it has the *Right* to enter a higher *Form*.

The Human being, having decided to eat the flesh of Animals not only incurs fearful Karma by entering the Road marked Retrogression, but, by *Hastening* animal life into existence and then absorbing it into his own body so that it becomes *his own very tissue* thoroughly *Domesticated*-prepares a Rod for his own Back!

Forced breeding, even artificial breeding, with its attendant cruelties, have given to animal life a *Right* to enter the Human family in greater proportion to the 5%, Man's cruelty lowers him nearer to the animal and animal suffering raises him above his station, and the twain *meet on a common level*, which is actually lower than normal human standards

Because the Animal entry into the human kingdom has *been forced* — by humans—the present proportion of animals in the human family is 30%; 25% above the human safety margin

This lower element is rapidly pulling the mighty from their seats and usurping the *Power* that goes with it

The Picture Meat Eaters should hold in mind when eating meat is—the *Murder* of the Animal—*for Murder it is* and then they will see that their own loved ones, *kill in War* is an exact retribution for their own conduct, and *the fear* in their own lives is identical with the fear the animal experiences when *it is brutally murdered* they should also realise that gangsters and other criminals act as they do because the percentage of animals in human form is being encouraged — *by themselves* Lastly, they must not complain because the World is living in Chaos for they *themselves* have brought it on *themselves*.

This is the conclusion - I could have made the story much more dramatic and forceful, but I have restrained myself; however I shall remember April 21st, 1948, and my contact with Truth :

" Ahimā—Non-injury is the highest Religion "

❀ ❀ ❀

LOVE ALL ! 卐 SERVE ALL ! !

END